रामचरितमानस-सार सटीक

प्रथम सोपान, बालकाण्ड

***सोरठा*–बंदउँ गुरु पद-कंज, कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि।**
महामोह तमपुंज, जासु बचन रबि कर निकर ॥१॥

अर्थ– कृपा के समुद्र, मनुष्य के रूप में ईश्वर, जिनका वचन महामोह-रूप अन्धकार-राशि को (नाश करने के लिए) सूर्य की किरणों का समूह है, ऐसे गुरु के चरण-कमल को मैं प्रणाम करता हूँ।

[गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के गुरु का नाम 'तुलसीचरित' में रामदास लिखा है। गोस्वामीजी के शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवर दासजी ने 'तुलसी चरित' नामी एक बृहत् ग्रन्थ गोस्वामीजी के जीवन-चरित्र के वर्णन में लिखा है। इस ग्रन्थ का विशेष वर्णन, रामचरितमानस की उस प्रति के आदि में किया गया है, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पाँच सभासदों द्वारा संगृहीत तथा उक्त सभा के सभापति द्वारा टीकाकृत और इण्डियन प्रेस प्रयाग से १९२२ ई० में प्रकाशित हुई है।]

***चौपाई*–बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।**
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥१॥

अर्थ–मैं गुरु महाराज के चरण-कमल की रज को प्रणाम करता हूँ, जो अच्छी रुचि और प्रेम को उत्पन्न करनेवाली, सुगन्धित और सार-सहित है।

[चरण-रज में चरणों की चैतन्य वृत्ति गर्मी-रूप से स्वभावतः समाई होती है। यही चैतन्य वृत्ति, चरण-रज में सार है। जो पुरुष जिन गुणोंवाले होते हैं, उनकी चैतन्य वृत्ति और गर्मी उन्हीं गुणों का रूप होती है। भक्तिवान, योगी, ज्ञानी और पवित्रात्मा गुरु की चरण-रज में उनका चैतन्य-रूपी सार भगवद्भक्ति में सुरुचि और प्रेम उत्पन्न करता है और श्रद्धालु गुरु-भक्तों को वह रज

सुगन्धित भी जान पड़ती है। चरण-रज तीन तरह की होती है–(१) मिट्टी-रूप, (२) स्वाभाविक आभारूप और (३) ब्रह्म-ज्योतिरूप। मिट्टीरूप चरण-रज को सर्वसाधारण जानते ही हैं। यह रज स्थूल शरीर के ऊपर लगाने की वस्तु है। प्रत्येक मनुष्य के शरीर के चारों ओर शरीर से निकली हुई नैसर्गिक आभा (वा ज्योति का मण्डल) शरीर को घेरे हुए रहती है। यह बात अब आधुनिक विज्ञान से भी छिपी हुई नहीं है। आभायुक्त गुरु-मूर्ति के मानस ध्यान का अभ्यास करने से आभायुक्त गुरु-मूर्ति का दर्शन अभ्यासी श्रद्धालु भक्तों को अन्तर में मिलता है। चौपाई संख्या ५ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में वर्णित दृष्टि-योग के द्वारा 'गुरु-चरण नख विन्दु' से ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश होता है। इसलिए इसको भी 'गुरु पद पदुम परागा' वा 'पद-रज' कहते हैं। यह रज सूक्ष्म और कारण शरीरों पर लगती है।]

अमिय मूरि मय चूरन चारू।
समन सकल भव रुज परिवारू ॥ २॥

यह रज अमृत-मिश्रित जड़ी का सुन्दर चूर्ण है और सब भव-रोग-परिवार (जन्म-मरणादि) को नाश करनेवाली है।

[चरण-रज में सार अमृत-रूप है। वह जन्म-मरणादि रोगों को धीरे-धीरे दूर करके सेवन करनेवाले को अमर करता है।]

सुकृत संभु तन बिमल बिभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥ ३॥

यह रज पुण्यवान शिव-शरीर पर लगी हुई शुद्ध भस्म के तुल्य है, जो सुन्दर है और शुभ तथा आनन्द को उत्पन्न करनेवाली है।

जन-मन मंजु मुकुर-मल हरनी।
किए तिलक गुन-गन बस करनी ॥ ४॥

यह रज भक्त के सुन्दर मन-रूपी दर्पण की मैल को हरनेवाली है और तिलक करने से यह गुण समूह को वश में कर देती है।

[गुरु-चरण-रज-सार के प्रभाव से भक्तों को चौपाई में वर्णित लाभ होते हैं। आभारूप रज (जिसका वर्णन चौपाई संख्या १ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में हुआ है) मन-रूपी दर्पण

की मैल को हरती है और मिट्टी-रूप रज का ललाट पर तिलक लगता है।]

श्री गुरु-पद-नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती ।।५।।

श्री गुरु महाराज के चरण-नख में मणियों की ज्योति है, जिसको स्मरण करने से हृदय में दिव्य दृष्टि हो जाती है।

[गुरु-चरण-नख का स्मरण वाक्यों को बारम्बार (मुख से) रटने से नहीं होता है। गुरु का चरण-नख, रूप है। अन्तर में मनोमय रूप बनाकर उस पर मन को टिकाए रखने से रूप का स्मरण होता है। इसको मानस-ध्यान कहते हैं। मनोमय नख पर यदि दृष्टि-योग ठीक-ठीक बनता है, तो नख में मणियों की ज्योति प्रत्यक्ष झलकती है। इसलिए मानस-ध्यान और दृष्टि-योग के साधन से चौपाई में वर्णित सुमिरण होता है।]

'सुमिरन सुरत लगाइ कर, मुखतें कछू न बोल।
बाहर का पट देइ कर, अन्तर का पट खोल।।'

(कबीर साहब)

यह (दृष्टि-योग) साधन अत्यन्त सुगम है। आँखें खोलकर वा बन्द करके डीम और पुतलियों को जोर से उलटाये रखकर भौओं के बीच में वा नाक की नीचेवाली नोक पर टक लगाने में वा बाहर में किसी एक निशाने पर देखने में जो कष्ट और रोग होते हैं, वे इस साधन में नहीं होते। कोई-कोई आँखों को बन्द करके डीम और पुतलियों में कुछ जोर लगाये बिना भौंओं के बीच में केवल ख्याल से देखते रहते हैं, मानो वे भौंओं के बीच के देश का केवल मानस-ध्यान भर करते हैं। यह दृष्टि-योग नहीं है, केवल मानस-ध्यान है। दृष्टि-योग से रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम की क्रिया आप-से-आप ही होती जाती है। दृष्टि-योग-साधन से चैतन्य वृत्ति का सिमटाव (संकोच) जैसे-जैसे होता जाता है, श्वास-प्रश्वास (प्राण की स्वाभाविक क्रिया) वैसे-वैसे आप-से-आप धीमा पड़ता जाता है। दृष्टि-योग-साधक को अनजाने ही प्राणायाम का साधन होता जाता है और जानकर केवल प्राणायाम की क्रिया

करने में जो कष्ट और विघ्न होते हैं, उनसे अभ्यासी बिल्कुल बच जाता है। इसलिए यह कह सकते हैं कि प्राणायाम का साधन दृष्टि-योग के द्वारा अत्यन्त सुगमता से हो जाता है। यह दृष्टि-योग-साधन ऐसा उत्कृष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में केवल एक इसी साधन से भगवान में विराजनेवाली शान्ति की प्राप्ति होनी लिखी है। दोनों नेत्रों से होकर निकलनेवाली चैतन्य धारों को एक विन्दु पर जोड़ने को दृष्टि-योग कहते हैं। इस साधन में डीम और पुतलियों पर किसी प्रकार बल लगाना अनावश्यक है; बल्कि बल लगाने से आँखों में कष्ट होगा, विशेष कष्ट रोग का रूप धारण करेगा और आँखें बिगड़ जाएँगी। श्रीमद्भगवद्गीता में नासाग्र पर दृष्टि रखने की आज्ञा है, पर नाक के ऊपर वा नीचेवाले भाग की ओर डीम और पुतलियों को झुकाकर देखने से दृष्टि-योग ठीक-ठीक होने के बदले आँखों में कष्ट और रोग होते हैं। जबतक दृष्टि की धारें एक विन्दु पर नहीं आएँगी, दृष्टि-योग होगा नहीं। उपर्युक्त रीति से देखने पर नाक के ऊपर का वा नीचे का जो भाग दीख पड़ता है, वह भाग एक विन्दु नहीं है। विन्दु तो वह है, जिसका स्थान है, पर परिमाण (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि) नहीं है। बाल की नोक से एक छोटे-से-छोटा चिह्न करने पर भी उसका कुछ-न-कुछ परिमाण हो जाता है। इसलिए अन्दाज से विन्दु नहीं बन सकता है। जिसमें केवल लम्बाई हो, पर चौड़ाई न हो, वह रेखा कहलाती है। यह भी अंदाज से नहीं बन सकती है; क्योंकि अत्यन्त पतली नोक से भी एक लम्बा चिह्न अंकित करने पर उस (चिह्न) में कुछ-न-कुछ चौड़ाई होगी। दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है। एक विन्दु पर दृष्टि-धारों को रखने की यह एक ही तरकीब है। अब आगे इस भेद को लिखकर खोलने की गुरु-आज्ञा नहीं है। यह भेद सच्चे भेदी गुरु से जाना जाता है और श्रीमद्भगवद्गीता के नासाग्र का ठीक-ठीक पता लग जाता है। 'धरनी निर्मल नासिका, निरखो नैन के कोर। सहजे चन्दा ऊगिहै, भवन होय उजियोर ॥' (प्रान्त–बिहार, छपरा जिलान्तर्गत माँझीवाले महात्मा धरनीदास जी)

चेतन-वृत्ति का सिमटाव धीरे-धीरे एक बड़े परिमाण से दूसरे छोटे परिमाण तक सुगमता से होना सम्भव है। *यह (सिमटाव) पहले मानस-ध्यान के द्वारा ख्याल के साथ-साथ चेतन-वृत्ति का होता है। और जब चेतन-वृत्ति और ख्याल के सिमटाव की मात्रा मानस-ध्यान के द्वारा बढ़ते-बढ़ते 'गुरु-पद-नख' तक पहुँच जाती है, तब गुरु से पाए हुए भेद के द्वारा मनोमय नख पर दृष्टि-योग के साधन की शक्ति अभ्यासी को होती है। उपर्युक्त क्रम से मानस-ध्यान में सफलता प्राप्त किए बिना दृष्टि-योग में सफलता प्राप्त करने की इच्छा 'भूमि परा चह छुअन अकासा' की तरह असम्भव है। पढ़न्त और सुनन्त विद्या से जो समझ की शक्ति बढ़ती है, उसको वा जाग्रत अवस्था में बाहरी संसार को देखने की दृष्टि को वा ख्याल की दृष्टि को (जिसमें मानस ध्यान होता है) और स्वप्न-अवस्था में देखने की दृष्टि को दिव्य दृष्टि नहीं कहते हैं। इनसे भिन्न, इन सब दृष्टियों और सुषुप्ति (गहरी नींद) की बेहोशी से आगे बढ़कर साधना-द्वारा जो दिव्य-दृष्टि (तुरीय अवस्थावाली) प्राप्त होती है, उसे दिव्य दृष्टि कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार से दृष्टियोग करने से यह खुल जाती है और ब्रह्मज्योति दरसती है। इस दृष्टि के खुले बिना सबसे नीचेवाले मण्डल की भी ब्रह्मज्योति का देखना असम्भव है।]

दलन मोह तम सो सु-प्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥६॥

वह अच्छा प्रकाश (जो गुरु-पद-नख के स्मरण से दिव्य दृष्टि खुलने पर दरसता है) अज्ञान-अन्धकार को नाश करनेवाला

*टिप्पणी-भजन-साधन में वृत्ति के इस क्रम से सिमटाव की विधि की श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११, अध्याय १४ में भगवान श्रीकृष्ण की भी आज्ञा है; यथा-

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥४२॥

अर्थ-बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर उस मन को बुद्धि-रूपी सारथी की सहायता से सर्वांगयुक्त मुझमें ही लगा दे॥४२॥

है। जिसके हृदय में यह आ जावे, वह बड़ा भाग्यवान है।

[केवल पढ़न्त और सुनन्त विद्या-द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से अज्ञान-अन्धकार पूर्ण रूप से दूर नहीं होता है। जब अन्तर में दिव्य दृष्टि खुलती और ब्रह्मज्योति दरसती है, तभी तम-मोह दूर होता है।]

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥७॥

(श्री गुरु-पद-नख के सुमिरण से) हृदय के दोनों निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार-रूपी रात के सब दोष-दुःख मिट जाते हैं।

[अन्तर में ब्रह्म-ज्योति देखनेवाली तुरीयावस्था की दृष्टि और विवेक की दृष्टि (बुद्धि में सारासार की शक्ति यानी विद्या), हृदय के दो निर्मल नेत्र हैं।]

सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥८॥

(हृदय में निर्मल नेत्रों के खुलते ही) मणि-माणिक-रूप रामचरित, (चाहे वे) जिस खानि के गुप्त वा प्रगट हों, सूझने लगते हैं।

[गुप्त चरित–ब्रह्मज्योतिर्मय मणि-माणिक तुरीयावस्थावाली दिव्यदृष्टि से अन्तर की गहरी गुप्त खान में देखे जाते हैं। और

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥४३॥

अर्थ–सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कानयुक्त मुख का ही ध्यान करे॥४३॥

तत्र लब्ध पदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिन्तयेत्॥४४॥

अर्थ–मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्याग कर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे॥४४॥

और भगवान श्रीकृष्ण के परम भक्त श्री सूरदासजी महाराज का कथन है–

नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज ज्योति परकास॥

(कल्याण, वेदान्त-अंक, वि० सं० १९९३, पृ० ५८५ से उद्धृत)

प्रकट चरित पुराणों की प्रकट खान में विविध कथा-रूप-रत्न-समूह हैं, जो विद्या की दृष्टि से मालूम पड़ते हैं।]

दोहा—जथा सु अंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥ २॥

(दिव्य दृष्टि से दरसनेवाली गुरु-पद-नख से निकली हुई वह ब्रह्म-ज्योति) अच्छे अंजन की तरह है, जिसको साधक आँखों में लगाकर (अष्ट सिद्धि-प्राप्त) सिद्ध (पुरुष) और सुबोध (ज्ञानी) हो जाते हैं और बहुत-सी धरतियों में के पहाड़ों और जंगलों का तमाशा देखते हैं।

[दृष्टि-योग-साधन में रत रहनेवाले साधक के नेत्रों में उपर्युक्त सुअंजन लगता है। दृष्टियोग-साधन करना, इस सुअंजन के लगाने का यत्न-रूप है। बहुत-सी धरतियों की खान परम विराट रूप माया है, जिसमें अनेकानेक ब्रह्माण्डों की रचनाएँ हैं। 'गूलरि तरु समान तव माया। फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया'॥ (रामचरितमानस) 'रोम-रोम ब्रह्माण्डमय, देखत तुलसीदास। बिनु देखे कैसे कोऊ, सुनि मानै विस्वास॥' (तुलसी सतसई)। उपर्युक्त सुअंजन प्राप्त करनेवाले को अखिल ब्रह्माण्ड दरसते हैं।]

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥ ९॥

श्री गुरु महाराज के पद की धूल कोमल और सुन्दर अंजन है, जो नयनामृत और आँखों के दोषों को दूर करनेवाली है।

[चौ० १ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में गुरु-पद-रज, गुरु की चेतन वृत्ति-युक्त सार-सहित और तीन प्रकार की वर्णित हुई है। वहाँ रज की महिमा भी दरसा दी गई है। वर्णित अपनी महिमा के कारण गुरु-पद-रज का नयनामृत और दृग्-दोष-विभंजक होना सर्वथा सम्भव है।]

तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउँ रामचरित भव मोचन॥ १०॥

मैं उसी अंजन को दोनों आँखों में करके (उन्हें) निर्मल विवेकवाली बनाकर संसार छुड़ानेवाले रामचरित का वर्णन

करता हूँ।

[दृश्यों को आँखों से देखते हुए जब निर्मल सारासार विचार उपजते रहें, तब उन आँखों को निर्मल विवेकवाली कहना चाहिए। चौ० १ में वर्णित तीनों प्रकार की रजों को लगाने से यह विवेक-विलोचन खुलेगा।]

बंदउँ प्रथम मही सुर चरना।
मोह जनित संसय सब हरना॥११॥

मैं पहले अज्ञान से उत्पन्न सब सन्देहों को मिटानेवाले भूदेवों के चरणों को प्रणाम करता हूँ।

[पहले गणेश आदि स्वर्गीय देवताओं की वन्दना हो चुकी है, अब पृथ्वी-तल के देवताओं की वन्दना की जाती है। इनमें सबसे श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण हैं, इसलिए पहले ब्राह्मणों को प्रणाम किया जाता है। महीसुर=भूदेव=ब्राह्मण=विद्वान ब्रह्मवेत्ता मोह-जनित संशयों को निस्सन्देह हर सकते हैं।]

सुजन समाज सकल गुन खानी।
करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥१२॥

फिर मैं सुन्दर वाणी से प्रेम-सहित सब गुणों की खानि सुजन-समाज को प्रणाम करता हूँ।

साधु चरित सुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुन मय फल जासू॥१३॥

साधु का चरित्र कपास की तरह भला है, जिसका फल स्वाद से रहित है, पर निर्मल गुणमय (सूत–सद्वृत्ति-युक्त) है।

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जग जसु पावा॥१४॥

जो (स्वयं) दुःख सहकर दूसरों के दोषों को छिपाता है, वह संसार में बड़ाई करने योग्य यश को पाता है।

मुद मंगल मय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू॥१५॥

सन्तों का समाज आनन्द और कल्याणमय है, जो संसार में चलता-फिरता तीर्थराज है।

राम भगति जहँ सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा ॥१६॥

जहाँ (सन्त-समाज-जंगम तीर्थराज प्रयाग में) राम-भक्ति (का प्रचार) श्री गंगाजी की धारा है और ब्रह्म-विचार का प्रचार सरस्वती की धारा है।

[राम भगति=सर्वेश्वर के सगुण रूप का भजन या सेवा। ब्रह्म-विचार=सर्वेश्वर के सर्वव्यापी निर्गुण स्वरूप का विचार।]

बिधि निषेधमय कलि मल हरनी।
करम कथा रबि नन्दिनि बरनी ॥१७॥

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कर्म-कथा (का प्रचार) कलिमल-नाशक यमुना की धारा है।

[विधि=कर्त्तव्य कर्म=गुरु की सेवा, सत्संग और ध्यानाभ्यास नित्य प्रति करना। निषेध=अकर्त्तव्य कर्म=झूठ, व्यभिचार, नशा, हिंसा और चोरी; इन पाँच पापों को छोड़ना।]

हरिहर कथा बिराजति बेनी।
सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥१८॥

(सन्त-समाजरूप तीर्थराज में) हरि और हर की कथा वेणी (त्रिवेणी) रूप में शोभा पाती है, जो सुनते ही आनन्द और मंगल को देती है।

बट बिस्वास अचल निज धर्मा।
तीरथराज समाज सु कर्मा ॥१९॥

अपने धर्म में विश्वास की अचलता (सन्त-समाज-रूप प्रयाग में) अक्षय वट है और सुकर्म (इस) तीर्थराज का मेला है।

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।
सेवत सादर समन कलेसा ॥२०॥

(यह सन्त-समाज-रूप जंगम तीर्थराज) सबको सब दिन और सब देशों में आसानी से मिलता है, आदर-सहित (इसकी) सेवा करने से (यह) दुःख का नाश करनेवाला है।

अकथ अलौकिक तीरथ राऊ।
देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥२१॥

इस दिव्य तीर्थराज का वर्णन करना शक्ति से बाहर है। यह तत्काल फल देता है और इसका प्रभाव प्रकट है ।

दोहा—सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिँ चारि फल अछत तनु, साधु समाजु प्रयाग॥ ३॥

जो साधु-समाज में उपदेशों को आनन्द-मन से सुनकर समझते हैं, वे मानो प्रयाग में अधिक प्रेम के साथ स्नान करते हैं और वे इससे चारो फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) शरीर रहते पा लेते हैं।

मज्जन फल देखिय ततकाला।
काक होहिं पिक बकउ मराला॥ २२॥

(वर्णित तीर्थराज में) स्नान करने का फल तत्काल देखने में आता है कि कौआ, कोयल हो जाता है और बगुला, हंस (हो जाता है)।

[कहने का तात्पर्य यह है कि कटुवादी मधुरभाषी और हिंसक अहिंसक हो जाता है।]

सुनि आचरज करइ जनि कोई।
सत संगति महिमा नहिं गोई॥ २३॥

यह सुनकर कोई आश्चर्य न करें; क्योंकि सत्संग की महिमा छिपी हुई नहीं है।

बालमीकि नारद घट जोनी ।
निज निज मुखनि कही निज होनी॥२४॥

वाल्मीकि, नारद और अगस्त्य मुनि ने अपने-अपने होने की कथा अपने-अपने मुख से कही है।

[वाल्मीकि डाकू और हत्यारे थे। नारद दासी-पुत्र थे और अगस्त्य की उत्पत्ति नीच स्थान से हुई थी; पर सत्संग के प्रभाव से ये तीनों ऋषि हो गए।]

जलचर थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना॥ २५॥

संसार में जल में चलनेवाले, धरती पर चलनेवाले एवं आकाश में चलनेवाले जितने जड़ और चेतन जीव हैं,

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥ २६॥

बुद्धि, यश, मुक्ति, ऐश्वर्य और भलपन (शीलता); जब कभी, जहाँ कहीं, जिस किसी उपाय से जिसने पाया है,

सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥ २७॥

वह सत्संग के प्रभाव से हुआ जानना चाहिए। लोक और वेद में (इसके मिलने का) दूसरा उपाय नहीं है।

बिनु सत्संग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥ २८॥

बिना सत्संग के सारासार का विचार नहीं होता है और राम की कृपा बिना वह (सत्संग) आसानी से नहीं मिलता है।

सत संगति मुद मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥ २९॥

सत्संगति आनन्द और कल्याण-रूपी वृक्ष की जड़ है, उसी वृक्ष का फल सिद्धि है और सब साधन उस (वृक्ष) के फूल हैं।

सठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सोहाई ॥ ३०॥

सत्संग पाकर दुष्ट (आदमी इस तरह) सुधर जाते हैं, (जिस तरह) पारस से कुधातु (लोहा) छूकर सुहावना (सोना) हो जाता है।

बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥ ३१॥

कर्म-वश अच्छे मनुष्य भी बुरे संग में पड़ जाते हैं; परन्तु वे साँप की मणि की तरह अपने गुण के पीछे चलते हैं।

[साँप विष चढ़ानेवाला है, पर उसके मस्तक में रहनेवाली मणि विष उतारनेवाली है। साँप के संग में रहकर मणि साँप के गुण को नहीं धरती है, बल्कि उसमें रहती हुई भी (वह) अपने ही गुण के पीछे-पीछे चलती है, विष चढ़ानेवाली नहीं बनती। इसी तरह अच्छे मनुष्य कुसंग में पड़ जाने पर भी उसके (कुसंग के) गुण को

नहीं ग्रहण करते हैं, बल्कि अपने गुण, सज्जनता के ही पीछे चलते हैं।]

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥ ३२॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि, पण्डित और सरस्वती साधु की महिमा कहने में लजाते हैं।

[सुजन = अच्छे मनुष्य = सज्जन = अच्छे भक्त = साधु]

सो मो सन कहि जात न कैसे।
साक बनिक मनि गन गुन जैसे ॥ ३३॥

वह महिमा मुझसे किस तरह कही नहीं जाती है, जिस तरह साग (शाक) बेचनेवाला मणियों के गुणों को नहीं कह सकता।

***दोहा*—बंदउँ संत समान चित, हित अनहित नहिँ कोउ।**
अंजुलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ॥ ४॥

मैं चित्त को एकरस रखनेवाले सन्त को, जो किसी के मित्र वा शत्रु नहीं हैं, प्रणाम करता हूँ। जैसे अंजुलि-प्राप्त (कोवे में के) सुन्दर फूल दोनों हाथों में (दाहिने-बायें का विचार छोड़कर) बराबर सुगन्ध देते हैं, वैसे ही सन्त मित्र और शत्रु के साथ एक समान व्यवहार करते हैं।

***दोहा*—संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।**
बाल बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरन-रति देहु ॥ ५॥

सन्त सीधे-सादे चित्त के और जगत के मित्र होते हैं। (जगत के जीवों पर) प्यार रखना उनका स्वभाव ही है, ऐसा जानकर मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि (मुझ) बालक की विनती सुनकर (मुझे) राम के चरणों में अनुराग दीजिये।

बहुरि बंदि खल गन सति भाये।
जे बिनु काज दाहिने बाये ॥ ३४॥

फिर मैं शुद्ध भाव से दुष्टों को प्रणाम करता हूँ, जो अकारण ही अपने मित्र के शत्रु होते हैं।

पर हित हानि लाभ जिन केरे।
उजरे हरष बिषाद बसेरे ॥ ३५॥

परोपकार का नाश जिनका लाभ है और जिनको दूसरे के

उजड़ने में आनन्द तथा बसने में दुःख होता है।

हरिहर जस राकेस राहु से।
पर अकाज भट सहस बाहु से ।। ३६।।

जो हरि-हर-यशरूपी पूर्ण चन्द्र के लिए राहु के तुल्य हैं और दूसरे का काम बिगाड़ने के लिए सहस्त्रबाहु के समान योद्धा हैं।

जो परदोष लखहिं सहसाखी ।
परहित घृत जिनके मन माखी।। ३७।।

जो दूसरों के दोषों को हजार आँखों से देखते हैं और दूसरे के हित-रूपी घी को बिगाड़ने के लिए जिनका मन मक्खी के समान है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा।
अघ अवगुन धन धनी धनेसा ।। ३८।।

(फिर वे) अग्नि की ज्वाला के समान क्रोधवाले महिषासुर के समान हैं और पाप तथा अवगुण-रूपी धन के धनपति कुबेर के समान धनी हैं।

उदय केतु सम हित सबही के।
कुम्भकरन सम सोवत नीके ।। ३९।।

जिनका प्रकट होना सभी के लिए केतु ग्रह के उदय होने के तुल्य होता है और जिनका कुम्भकर्ण की तरह सोते रहना ही अच्छा है।

[केतु ग्रह के उदय होने से संसार में दुर्भिक्ष आदि दुःख होते हैं, इसी तरह दुष्ट के प्रकट होने से तामस कर्मों का प्रचार होता है, संसार में महा अनर्थ मच जाता है, धर्म की हिंसा होती है, मोक्ष-मार्ग के प्रचार में महाविघ्न उपस्थित हो जाता है और इन कारणों से सज्जनों को महादुःख होता है।]

पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं।
जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ।। ४०।।

(दुष्ट लोग) दूसरों का काम बिगाड़ने के लिए अपना शरीर तक छोड़ देते हैं। जैसे पाला और पत्थर (बनौरी-ओला) खेती को नष्ट करके स्वयं गल जाते हैं।

बंदउँ खल जस सेष सरोषा।
सहस बदन बरनइ पर दोषा॥४१॥

क्रोध-युक्त शेषनाग के तुल्य दुष्टजनों को मैं प्रणाम करता हूँ, जो हजार मुखों से दूसरों के दोषों को कहते हैं।

[दोषों का बार-बार बखान करना, हजार मुखों से कहने के तुल्य है।]

पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना।
पर अघ सुनइ सहस दस काना॥४२॥

फिर मैं उनको राजा पृथु के समान जानकर प्रणाम करता हूँ; क्योंकि वे दस हजार कानों से दूसरों के पापों को सुनते हैं।

[राजा पृथु को दश हजार कान भागवत-यश सुनने को थे, पर दुष्ट जन दूसरों के पापों को सुनने के लिए दस हजार कान रखते हैं।]

बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही।
सन्तत सुरानीक हित जेही॥४३॥

फिर मैं उनको (दुष्टों को) इन्द्र के समान जानकर विनती करता हूँ कि जिनको मदिरा सदा भली लगती है; जैसे इन्द्र को देव-सेना प्यारी लगती है।

बचन बज्र जेहि सदा पियारा।
सहस नयन पर दोष निहारा॥४४॥

जिनको (कठोर) वचन रूप वज्र सदा प्यारा है और जो हजार आँखों से दूसरों के दोषों को देखते हैं।

***दोहा*—उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।**
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करउँ सप्रीति॥६॥

दुष्ट की रीति है कि वे विरक्त, शत्रु और मित्र की भलाई सुनकर जलते हैं, ऐसा जानकर हे भक्तजन! मैं दोनों हाथों को जोड़कर प्रीति-सहित (उनकी) विनती करता हूँ।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा।
तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥४५॥

मैंने अपनी ओर से (दुष्टों की) विनती की, परन्तु वे

अपनी ओर से (अपने स्वभाव में) भूल न करेंगे (अर्थात् अपनी दुष्ट प्रकृति को छोड़ कर सीधे-सादे न बनेंगे)।

बायस पलिअहि अति अनुरागा ।
होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।। ४६ ।।

(यदि) कौए को बहुत प्रेम से पालेंगे, तो क्या वह कभी भी मांस न खानेवाला बनेगा ? (अर्थात् कौआ मांस खाना कभी न छोड़ेगा)।

बंदउँ सन्त असज्जन चरना ।
दुख प्रद उभय बीच कछु बरना ।। ४७ ।।

मैं सन्त और दुष्ट के चरणों को प्रणाम करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं, पर कुछ अंतर बताया जाता है।

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ।
मिलत एक दारुन दुख देहीं ।। ४८ ।।

एक (सज्जन) बिछुड़ते (समय) प्राण हर लेते हैं और एक (दुष्ट) मिलते ही कठिन दुःख देते हैं।

उपजहिं एक संग जल माहीं ।
जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ।। ४९ ।।

जैसे कमल और जोंक; दोनों एक ही संग जल में उत्पन्न होते हैं, परन्तु गुण (दोनों के) भिन्न-भिन्न होते हैं।

सुधा सुरा सम साधु असाधू ।
जनक एक जग जलधि अगाधू ।। ५० ।।

अमृत और मदिरा की तरह साधु और दुष्ट हैं, पर उनका उत्पन्न करनेवाला एक ही अथाह संसार-समुद्र है।

भल अनभल निज निज करतूती ।
लहत सुजस अपलोक बिभूती ।। ५१ ।।

अच्छे और बुरे अपनी-अपनी करनी से सुयश और निन्दा की सम्पत्ति पाते हैं।

सुधा सुधाकर सुरसरि साधू ।
गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू ।। ५२ ।।

साधु अमृत, चन्द्रमा और गंगा के समान हैं और दुष्ट

विष, अग्नि और कर्मनाशा नदी के समान हैं।

गुन अवगुन जानत सब कोई।
जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥५३॥

गुण और अवगुण को सब कोई जानते हैं, पर जिसको जो सुहाता है, उसको वही अच्छा है।

***दोहा*—भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।**
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु॥७॥

परन्तु भले भलाई ही पाते हैं और नीच निचाई ही पाते हैं। अमृत की प्रशंसा अमर करने से और विष की प्रशंसा मार डालने से होती है।

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा।
उभय अपार उदधि अवगाहा॥५४॥

दुष्टों के पाप तथा अवगुणों की और साधुओं के गुणों की कथाएँ अपार गहरे समुद्र हैं।

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥५५॥

बिना पहचाने ग्रहण और त्याग नहीं हो सकता, इसलिए मैंने (साधुओं के) कुछ गुणों और (दुष्टों के) कुछ अवगुणों का वर्णन किया।

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए।
गनि गुन दोष बेद बिलगाए॥५६॥

भले और बुरे, सभी को विधाता ने उत्पन्न किया है और वेदों ने (उनके) गुण-दोषों का लेखा करके (उन्हें) भिन्न-भिन्न कर दिया है।

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥५७॥

वेद, पुराण और इतिहास कहते हैं कि ब्रह्मा की सृष्टि गुणों-दोषों से मिली&जुली है।

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाति॥५८॥

दुःख और सुख, पाप और पुण्य, दिन और रात, साधु और दुष्ट, सुजाति और कुजाति,

दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिय सजीवन माहुर मीचू॥५९॥

राक्षस और देवता, ऊँच और नीच, जीवित रखनेवाला अमृत और मार डालनेवाला विष,

माया ब्रह्म जीव जगदीसा।
लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥६०॥

माया और ब्रह्म, जीव और ईश्वर, लक्ष्मी और दरिद्रता कंगाल और राजा,

कासी मग सुरसरि क्रमनासा।
मरु मालव महिदेव गवासा॥६१॥

काशी और मगह, गंगा और कर्मनाशा, मालवा और मारवाड़, ब्राह्मण और कसाई,

सरग नरक अनुराग बिरागा।
निगम अगम गुन दोष बिभागा॥६२॥

स्वर्ग-नरक, आसक्ति-वैराग्य (ब्रह्मा की सृष्टि में) सने हुए (मिले-जुले) हैं, पर वेद और शास्त्र ने गुण-दोष का विभाग कर दिया है।

***दोहा*–जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।**
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥८॥

ब्रह्मा ने संसार की रचना जड़-चेतन और गुण-दोष से मिलाकर की है। (इसमें) सन्त-रूपी हंस अवगुण-रूपी पानी को छोड़कर गुण-रूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं।

अस बिबेक जब देइ बिधाता।
तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥६३॥

जब विधाता ऐसा (सन्त-हंस के समान) विचार देता है, तब मन दोष को छोड़कर गुण में लगता है।

काल सुभाउ करम बरिआईं।
भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥६४॥

काल, स्वभाव और कर्म की प्रबलता से अच्छे (पुरुष) भी प्रकृति के वश होकर भलाई से चूक जाते हैं अर्थात् बुराई में पड़ जाते हैं।

सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं।
दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं॥६५॥

उस (चूक) को जिस प्रकार हरि-भक्त सुधार लेते हैं कि दुःख और दोषों को नाश करके (अपना) पवित्र यश (संसार में फैला) देते हैं।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।
मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥६६॥

(उसी तरह) दुष्ट भी अच्छा संग पाकर भलपन करते हैं, पर उनका न टूटनेवाला मैला स्वभाव नहीं मिटता।

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ।
बेष प्रताप पूजिअहि तेऊ॥६७॥

जो (दुष्ट) संसार को ठगनेवाले हैं, उनको भी सुवेश (सन्तों का वेश) बनाये देखकर वेश के प्रताप से लोग पूजते हैं।

उघरहिं अन्त न होइ निबाहू।
कालनेमि जिमि रावन राहू॥६८॥

(परन्तु) अन्त में (उनका कपट) निबहता नहीं, खुल जाता है, जिस तरह कालनेमि, रावण और राहु का (कपट नहीं निबहा, अन्त में खुल ही गया)।

[कालनेमि राक्षस था। रावण की आज्ञा से उसने हनुमानजी को ठगने के लिए मुनि का वेश बनाया था। अन्त में उसका कपट खुल गया और हनुमानजी ने उसे मार डाला। रावण संन्यासी का वेश धारण करके श्रीसीता जी को हरने के लिए गया था। भेद खुलने पर रामचन्द्रजी के हाथ से मारा गया। राहु राक्षस, देवता का रूप धर कर अमृत पीने के लिए देवताओं की पंक्ति में बैठा था, परन्तु उसका कपट भी खुल गया और विष्णु ने चक्र से उसका सिर काट डाला।]

किएहु कुबेष साधु सनमानू।
जिमि जग जामवन्त हनुमानू ॥६९॥

कुवेश करने पर भी साधु सम्मान पाता है, जैसे संसार में जाम्बवान (भालू) और हनुमान (बन्दर)।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू।
लोकहु बेद बिदित सब काहू ॥७०॥

कुसंग से हानि और सुसंग से लाभ होते हैं, यह बात लोक और वेद में प्रकट है, सब जानते हैं।

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा।
कीचहिँ मिलइ नीच जल संगा ॥७१॥

धूल हवा के साथ आकाश चढ़ जाती है, (वही) नीच जल के संग से कीचड़ में मिल जाती है।

साधु असाधु सदन सुक सारी।
सुमिरहिं रामु देहि गनि गारी ॥७२॥

साधुओं के घर के तोता-मैना राम को सुमिरते हैं और असाधुओं के घर के (तोता-मैना) गालियाँ बकते हैं।

धूम कुसंगति कारिख होई।
लिखिय पुरान मंजु मसि सोई ॥७३॥

धुआँ कुसंग से कालिख कहाता है, वही (धुआँ) सुसंग पाकर पुराण लिखने पर सुन्दर रोशनाई कहलाता है।

सोइ जल अनल अनिल संघाता।
होइ जलद जग जीवन दाता ॥७४॥

वही (धुआँ) जल, अग्नि और हवा के संयोग से संसार को जीवन देनेवाला बादल होता है।

***दोहा*–ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।**
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ॥९॥

ग्रह, दवा, जल, हवा और कपड़ा कुसंग पाकर कुवस्तु और सुसंग पाकर सुवस्तु होते हैं; इसे अच्छे लक्षण वाले मनुष्य देखते हैं।

***दोहा*–सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।**
ससि पोषक सोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह॥ १०॥

(मास के) दोनों पक्षों (शुक्ल और कृष्ण) में बराबर-बराबर अन्धकार और प्रकाश होता है, ब्रह्मा ने केवल नाम में अन्तर कर दिया है। एक को चन्द्रमा को बढ़ानेवाला समझकर लोगों ने यश और दूसरे को चन्द्रमा को घटानेवाला समझकर अपयश दिया है।

***दोहा*–जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।**
बदउँ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥ ११॥

संसार में जड़ और चेतन; जितने जीव हैं, सबको ब्रह्ममय (ब्रह्म से बना हुआ) जानकर सबके चरण-कमल को मैं अपने दोनों हाथों को जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

***दोहा*–सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।**
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥ १२॥

सरस्वती, शेष, शिव, ब्रह्मा, शास्त्र, वेद और पुराण; जिस (सर्वेश्वर) के गुण को 'अन्त नहीं है, अन्त नहीं है' कहकर सदा गाते हैं।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिन रहा न कोई॥ ७५॥

सर्वेश्वर की (अन्त न होनेवाली) उस महिमा को सभी जानते हैं, तोभी उसका वर्णन किये बिना कोई नहीं रहा अर्थात् अपनी बुद्धि के अनुसार सबने वर्णन किया।

तहाँ बेद अस कारन राखा।
भजन प्रभाव भाँति बहु भाखा॥ ७६॥

वहाँ वेद ने ऐसा कारण रखकर भजन के प्रभाव का बहुत तरह से वर्णन किया है।

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा॥ ७७॥

सर्वेश्वर एक, इच्छा-रहित, रूप-रहित, नाम-रहित, जन्म-रहित, सत्य-ज्ञानानन्द-स्वरूप और परे स्थान है।

[एक = अद्वितीय = अनुपम = जिसके बराबर कोई न हो।

परधाम = परे स्थान = सर्वोत्तम स्थान। साकेत, वैकुण्ठ आदि धाम और समस्त लोकों का स्थान ब्रह्माण्ड है। अनेकों ब्रह्माण्ड का स्थान प्रकृति-मण्डल वा माया-मण्डल और प्रकृति (माया)-मण्डल का स्थान सर्वेश्वर है, इसलिए सर्वेश्वर परधाम है। नाम और रूप; दोनों को माया कहते हैं, कठ० (२-५), मुण्डक (१-२-९) और श्वेताश्वतर (४-१०) आदि उपनिषदों में इसका वर्णन है और रामचरितमानस में माया अर्थात् प्रकृति को ससीम या परिमित या हददार माना गया है और रामस्वरूप को अपार-अपरिमित-असीम-बेहद माना गया है; यथा 'प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।' (चौ० ७२६) इस चौपाई में प्रकृति पार कहकर प्रकृति को ससीम या हददार बतलाया गया है; क्योंकि जिसकी सीमा होगी, उसी का पार वा दूसरा किनारा अथवा उससे अलग वा उससे आगे कुछ होगा। और भी-

***सोरठा*–राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।**
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥

इस सोरठे में राम-स्वरूप वा ब्रह्म-स्वरूप वा सर्वेश्वर को अपार बतलाया गया है। असीम ससीम में पूरा-पूरा नहीं अँट सकता। अपरिमित, परिमित को अपने कुछ अंश-मात्र से ही भरपूर करता है और परिमित तत्त्व के बाहर प्रत्येक ओर वह कितना अधिक बच जाता है, इसको कोई बतला नहीं सकता। प्रकृति में व्यापक सर्वेश्वर के अंश को ब्रह्म कहकर पुकार सकते हैं, क्योंकि व्याप्य (प्रकृति)-व्यापक (सर्वेश्वर का अंश-रूप पुरुष वा ब्रह्म) का भेद यहाँ जानने में आता है। और इस पद के परे अर्थात् समस्त प्रकृति-मण्डल के परे व्याप्य तत्त्व नहीं रहने के कारण व्याप्य बिना व्यापक कहा नहीं जा सकता, इसलिए इस 'प्रकृति-पर' पद को ब्रह्म-पर और अनाम कह सकेंगे।]

ब्यापक बिस्व रूप भगवाना।
तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥७८॥

जो सबमें रहनेवाले संसार-रूप और छहों ऐश्वर्य-सहित ईश्वर हैं; उन्होंने ही देह धारण कर अनेक प्रकार के चरित किये हैं।

[समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्य–इन छह बातों को भग कहते हैं। इनसे युक्त को पुरुष होने से भगवान और स्त्री होने से भगवती कहते हैं। विश्व में व्यापक विश्वरूप असीम नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संसार के परिमाण के बराबर ही उसका (विश्वरूप का) भी परिमाण होगा। चौपाई ७७ में सर्वेश्वर के अपरिमित स्वरूप का वर्णन है, पर इस चौपाई (७८) में उसके केवल उस अंश रूप का वर्णन है, जो समस्त प्रकृति-मण्डल भर में भी नहीं, केवल सत्, जन और तप आदि लोकों और हाथ, पैर, नाक, कान आदि इन्द्रियों-सहित रूपवान और परिमित संसार में व्यापक है। जिस प्रकार धरातल पर के अति विस्तृत महदाकाश में के मठ (मकान) के भीतर के आकाश को महदाकाश नहीं कहते, मठाकाश कहते हैं और मठ के भीतर के घड़े में के आकाश को न मठाकाश और न महदाकाश कहते, बल्कि घटाकाश कहते हैं; इसी प्रकार अनन्त, निरवयव और अगम-अपार सर्वेश्वर में ससीम व्याप्यरूप साम्यावस्थाधारिणी अव्यक्त प्रकृति-मण्डल में व्यापक सर्वेश्वर के अंश को और साम्यावस्था-रहित व्याप्य रूप व्यक्त प्रकृति-मण्डल में व्यापक सर्वेश्वर के अंश को आच्छादन-भेद से पृथक-पृथक नामों से पुकारते हैं, जैसे कि सर्वेश्वर के अपरम्पार स्वरूप को ब्रह्म-पर वा अनाम, साम्यावस्थाधारिणी अव्यक्त प्रकृति मण्डल में व्यापक उसके (अनाम के) अंश को शुद्ध ब्रह्म और साम्यावस्था-रहित व्यक्त प्रकृति मण्डल में व्यापक उसके (अनाम के) अंश को विश्वरूप कहते हैं; जिस प्रकार मठ में घट बनता है, उसी तरह साम्यावस्थाधारिणी अव्यक्त प्रकृति मंडल में साम्यावस्था-रहित व्यक्त प्रकृति मंडल का निर्माण होता है। अतएव जैसे मठ और मठाकाश से घट और घटाकाश का विस्तार कम होता है, उसी तरह साम्यावस्थाधारिणी अव्यक्त प्रकृति-मण्डल और शुद्ध ब्रह्म से साम्यावस्था-रहित प्रकृति-मंडल और विश्वरूप का विस्तार कम है; और ब्रह्म पर अनाम से तो शुद्ध ब्रह्म और विश्वरूप; दोनों कितने न्यून हैं; इसका अन्दाजा कोई बता नहीं सकता है।]

***दोहा*—गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।**
बंदउँ सीता राम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥१३॥

मैं सीता और राम के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जो (सीता-राम) शब्द और उसके अर्थ तथा जल और उसकी लहर के समान कहने के लिए अलग हैं, पर भिन्न नहीं हैं और जिनका दुर्बल परम प्यारे हैं।

बन्दउँ राम नाम रघुबर को।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥७९॥

मैं रघुवर के राम-नाम को प्रणाम करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का कारण है।

[राम = सर्वव्यापक। नाम = शब्द। राम नाम = सर्वव्यापक शब्द। वर्णित चौ० में गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'राम-नाम' को कृशानु, भानु और हिमकर का कारण बताया है। तात्पर्य यह है कि 'राम' (र+आ+म) के अभाव में पावक, पूषण और शशि की स्थिति नहीं रह सकती। जैसे-'कृशानु' में से 'र्' के निकाल लेने पर वह 'किसानु' हो जायगा, उसका अर्थ 'अग्नि' नहीं होगा। 'भानु' शब्द में 'आ' अर्थात् आकार 'ा' का अभाव होने से 'भनु' होगा, जिसका अर्थ 'सूर्य' नहीं हो सकेगा। 'हिमकर' में 'म' के नहीं रहने से 'हिकर' हो जायगा, जिसका अर्थ 'चन्द्र' नहीं होगा। इसलिए 'रामनाम' को अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का कारण कहा गया है।]

नाम-सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए गो० तुलसीदास जी महाराज की और भी उक्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

चौदह चारो अष्टदस, रस समझव भरपूर।
नाम भेद जाने बिना, सकल समझ महँ धूर॥
भेद जाहि बिधि नाम महँ, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं बिनीत बर, जो बिरंचि सिब होय॥
श्रवणात्मक ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक बिधि तीन।
त्रिबिध शब्द अनुभव अगम, तुलसी कहहि प्रबीन॥
रसना सुत पहिचान बिन, कहहु न कौन भुलान।
जानै कोउ हरि गुरु कृपा, उदित भये रबि ज्ञान॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की सतसई के इन चारो दोहों से और उन्हीं की विनय-पत्रिका की इस कड़ी 'अपने धाम नाम सुर तरु तजि, विषय बबूर बाग मन लायो।' से और स्वयं रामचरितमानस की 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥' इस चौपाई से नाम की समझ, उसका (नाम का) गुप्त भेद और उसका साधन कितना गहरा है तथा यह भी कि अपने धाम (देह) में ही नाम मौजूद है, यह बुद्धिमान जान सकते हैं। र्+आ+म के उच्चारण से जो वर्णात्मक शब्द 'राम' होता है, केवल इसी (वर्णात्मक शब्द) की महिमा को ऊपर कहे हुए पदों में वर्णित विशेषणों से प्रकट करना 'कथन मात्र' ही होगा, यथार्थता और सत्यता उक्त वर्णन में कुछ न होगी। हाँ, यदि 'रामनाम' का अर्थ 'सर्वव्यापक शब्द' समझा जाय और इसका पता लगाया जाय कि कौन-सा शब्द सर्वव्यापक है ? तो ऊपर के पदों में वर्णित विशेषता, गम्भीरता, बड़ाई की यथार्थता और सत्यता साफ-साफ झलक उठेगी। जो अत्यन्त सघनता से सबके भीतर एकरस फैला हुआ हो, उसको सर्वव्यापक कहते हैं। एकाक्षर वा अनेकाक्षर किसी भी वर्णात्मक शब्द को और जड़ प्रकृति-मण्डल के अभ्यन्तर के स्थूल और सूक्ष्म सब मण्डलों के ध्वन्यात्मक शब्दों को सर्वव्यापक शब्द नहीं कह सकते हैं; क्योंकि इन शब्दों में से प्रत्येक शब्द जड़ प्रकृति के स्थूल वा सूक्ष्म किसी-न-किसी मण्डल में अपना उद्गम स्थान रखता है, और जड़ प्रकृति-मण्डलों के ही किसी मण्डल में वह विलीन हो जाता है। अतएव जड़ प्रकृति-मण्डल के परे स्वयं सर्वेश्वर ही जिस ध्वनि का उद्गम-स्थान हो, वही ध्वनि (सर्वव्यापक) शब्द कहला सकती है और उसी ध्वनि को 'रामनाम' कह सकेंगे। परन्तु ख्याल रहे कि यह रामनाम तो वर्णात्मक होगा ही नहीं, वरन् जड़ प्रकृति-मण्डल की सभी ध्वनियों से भी विलक्षण, जड़ प्रकृति से परे, उस (प्रकृति) का कारण, अनादि और आदि शब्द होगा। यह न तो लिखा जा सकेगा और न किसी प्रकार कहा जा सकेगा। केवल समझ, भेद और साधन; इसकी प्राप्ति

के हेतु होंगे और तभी 'अकथ अनादि सुसामुझि साधी' यह पद नाम की बड़ाई में कहना सार्थक होगा। कोई रचना बिना कम्प के नहीं हो सकती और कम्प अपने सहचर शब्द के बिना नहीं रह सकता। इसलिए आदि में जड़-प्रकृति के निर्माण के लिए आदिशब्द की अत्यन्त आवश्यकता है और आदिशब्द, जड़ प्रकृति से भी विशेष सूक्ष्म और उसका कारण हुआ। सूक्ष्म तत्त्व अपने से स्थूल तत्त्व में स्वभाव से ही सर्वव्यापक होता है, अतएव ऐसा मानना परम युक्ति युक्त है कि वर्णित आदि शब्द, जड़ प्रकृति के बाहर-भीतर अत्यन्त सघनता से भरा हुआ है अर्थात् वह सर्वव्यापक है, स्पष्ट शब्दों में वही आदिशब्द 'रामनाम' है। जड़ प्रकृति त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम)-मयी है; परन्तु प्रकृति के परे ये गुण माने नहीं जा सकते। इस कारण आदिशब्द को अगुण वा निर्गुण ही मानना पड़ेगा। और जड़-प्रकृति का कोई विन्दु इस शब्द का उद्गम-स्थान नहीं माना जा सकता और न इस शब्द के प्रारम्भ में काल का ही निर्णय हो सकता है; क्योंकि काल भी जड़-प्रकृति के अभ्यन्तर का ही तत्त्व है। इस हेतु इस शब्द को अनादि शब्द कहकर पुकारते हैं। लोग कहेंगे कि 'रघुवर का रामनाम' कहने से केवल वर्णात्मक 'राम' शब्द का ही बोध होता है, उसको ध्वन्यात्मक (कहकर) जानने की इस स्थान पर कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस कथन को यथार्थ मान लें, तो 'अगुन अनूपम गुन निधान सो' और 'अकथ अनादि सुसामुझि साधी' आदि रामनाम के वर्णन में गो० तुलसीदासजी के कहने से क्या लाभ? क्या तब उनका ऐसा कहना केवल झूठी, बुद्धि-विपरीत और असम्भव बात न होगी? विष्णु भगवान के अवतार 'दाशरथि राम' रघुवर को गोस्वामीजी महाराज ने अपना इष्टदेव माना था। वे अपने इष्टदेव के निर्गुण, सगुण और साकार, निराकार रूपों के परम श्रद्धालु भक्त थे; यथा–'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम। मनहु पुरट[१] सम्पुट[२] लसत, तुलसि ललित[३] ललाम[४]॥' (दोहावली, दोहा ७) और चौपाई–

(१) सोना (२) डब्बा (३) सुन्दर (४) रत्न, भूषण।

'सेवत साधु द्वैत भय भागै । श्री रघुवीर चरन लय लागै ॥
देह जनित बिकार सब त्यागै । तब फिरि निज सरूप अनुरागै ॥'
छन्द–

'अनुराग सो निज रूप जो, जग तें विलच्छन देखिये ।
सन्तोष सम सीतल सदा दम, देहवन्त न लेखिये ॥
निर्मल निरामय एक रस तेहि, हरष सोक न व्यापई ।
त्रयलोक पावन सो सदा, जाकी दसा ऐसी भई ॥'

(विनय-पत्रिका)

अपने इष्टदेव में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए गोसाईंजी महाराज ने सत्य और पूर्ण भेद का भी वर्णन कर दिया। नाम के वर्णन में उन्होंने जो कुछ भी कहा है, सब सत्यम् सत्य ही कहा है। केवल रोचकता के लिए वर्णात्मक रामनाम का बुद्धि-विपरीत और असम्भव गुणगान नहीं किया है। ध्वन्यात्मक रामनाम अनाहत आध्यात्मिक आदिशब्द है। रघुवर के आत्म-स्वरूप (जैसे='राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर। अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥') के नाम होने की योग्यता इसी को है। और रघुवर राम के नराकृति-मायाकृत रूप का नाम होना, वर्णात्मक राम-नाम को ही योग्यता है। गोस्वामीजी के हृदय में राम-नाम के वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक; दोनों रूपों में पूर्ण श्रद्धा-भक्ति है। मेरे जानते नाम के दोनों रूपों का भजन करना परम आवश्यक है; क्योंकि इन दोनों रूपों के भजन बिना भक्ति पूर्ण नहीं होती, न सर्वेश्वर मिल सकते हैं और न मोक्ष-लाभ हो सकता है। पर इतना जान लेना आवश्यक है कि वर्णात्मक नाम का भजन प्रारम्भिक साधन है और ध्वन्यात्मक नाम का भजन अन्तिम साधन है। भेदी भक्तों से इसका भेद खुल सकता है। इस तरह समझ लेने पर वर्णात्मक राम-नाम की महिमा में कुछ भी गौणता तथा न्यूनता नहीं आती तथा राम-नाम के अर्थ से निर्णीत तत्त्व सर्वव्यापक ध्वन्यात्मक शब्द का भी भेद खुलने को बाकी नहीं रह जाता; क्योंकि यह शब्द सर्वकाल में वा (यह भी कहना युक्तिहीन न होगा कि) काल के अन्त तक और जड़-प्रकृति

के समस्त मण्डलों में एकरस तथा जड़-प्रकृति का आधार-रूप होकर रहनेवाला है। इसलिए इसी शब्द को शब्द-ब्रह्म, ओ३म् (ॐ), स्फोट, प्रणव ध्वनि, सत्य नाम, सत्य शब्द और सार शब्द भी कहते हैं। और क्योंकि यही शब्द सबके आदि में हुआ, इसीलिए इसी को कोई-कोई 'आदि शब्द' वा 'आदि नाम' भी कहते हैं। यहाँ पर उपनिषदों के और थोड़े-से सन्तों के शब्द लिखे जाते हैं, जिनको पढ़कर नाम-तत्त्व के खोजियों को नाम के सम्बन्ध में उन (सन्तों) के विचार ज्ञात होंगे। 'अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।' (योगशिखोपनिषद्, अध्याय ३) अर्थ—अक्षर (अनाश) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं। 'द्वेविद्ये वेदितव्ये तु शब्द ब्रह्म परं च यत्। शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥' (ब्रह्मविन्दूपनिषद्) अर्थ—दो विद्याएँ समझनी चाहिये, एक तो शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्द ब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।

'अघोषम् अव्यंजनम् अस्वरं च अकण्ठताल्वोष्ठम् अनासिकं च ।
अरेफ जातम् उभयोष्ठ वर्जितं यदक्षरं न क्षरते कदाचित् ॥'

(अमृतनाद उपनिषद्)

'राम राम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्ह सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय॥
आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
कोटि नाम संसार में, तातें मुक्ति न होय।
आदि नाम जो गुप्त जप, बूझे बिरला कोय॥
ज्ञान दीप परकाश करि, भीतर भवन जराय।
तहाँ सुमिरि सतनाम को, सहज समाधि लगाय॥
नाम रतन सोइ पाइहैं, ज्ञान दृष्टि जेहि होय।
ज्ञान बिना नहिं पावई, कोटि करै जो कोय॥
मुख कर की मेहनत मिटी, सतगुरु करी सहाय।
घट में नाम प्रगट भया, बक-बक मरै बलाय॥

सहजे ही धुन होत है, हरदम घट के माहिं ।
सुरत शब्द मेला भया, मुख की हाजत नाहिं ।।
कबीर शब्द शरीर में, बिन गुन बाजै ताँत ।
बाहर भीतर रमि रहा, तातें छूटी भ्रान्ति ।।
शब्द शब्द सब कोइ कहै, वो तो शब्द विदेह ।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि देह* ।।
सब्द हमारा आदि का, पल-पल करिये याद ।
अन्त फलैंगी माँहि की, बाहर की सब बाद ।।
(कबीर-साखी-संग्रह)

'साधो शब्द साधना कीजै ।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै ।।टेक।।
शब्दहि गुरु शब्द सुनि सिष भे, शब्द सो बिरला बूझै ।
सोई शिष्य सोइ गुरू महातम, जेहि अन्तर गति सूझै ।। १।।
शब्दै वेद पुरान कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।
शब्दै सुर मुनि सन्त कहत हैं, शब्द भेद नहिं पावै ।। २।।
शब्दै सुनि सुनि भेष धरत हैं, शब्द कहै अनुरागी ।
षट दरसन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै बैरागी ।। ३।।
शब्दै माया जग उतपानी, शब्दै केर पसारा ।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, तवन भेद है न्यारा ।।४।।'

'हंसा करो नाम नौकरी ।। टेक।।
नाम विदेही निसि दिन सुमिरै, नहिं भूलै छिन घरी ।। १।।
नाम विदेही जो जन पावै, कभुँ न सुरति बिसरी ।। २।।
ऐसो सबद सतगुरु से पावै, आवागमन हरी ।। ३।।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, पाव अमर नगरी ।। ४ ।।'
(कबीर साहब)

'इस गुफा महि अखुट भंडारा ।
तिसु बिचि बसै हरि अलखइ अपारा ।।
आपे गुपुत परगट है आपे गुर सबदि आप वंञावणिआ ।। १।।
हउ वारी जीउ वारी अंम्रित नामु मंनि वसावणिआ ।

* बीजक में 'लेह' पाठ है।

अमृत नामु महारसु मीठा गुरमति अंम्रितु पिआवणिआ ॥१॥ रहाउ ।।
'हउमै मारि बजर कपाट खुलाइआ ।
नाम अमोलकु गुर परसादी पाइआ ।
बिन सब्दै नामु न पाए कोई गुरु किरपा मंनि वसावणिआ ॥ २॥'
'रामा रम रामो सुनि मनु भीजै ॥
हरि हरि नाम अंम्रितु रसु मीठा,
गुरमति सहिजे पीजै ॥ १॥ रहाउ ॥
कासट महि जिउ है बैसंतरु मथि संजमि काढ़ि कढ़ीजै ।
राम नाम है जोति सवाई ततु गुरमति काढ़ि लईजै ॥ १॥'
'सुनि मन भूले बाबरे, गुरु की चरणी लागु ।
हरि जपि नाम धिआइ तू, जम डरपै दुख भागु ॥'

(गुरु नानकदेवजी)

नाम डोर है गुप्त कोऊ नहिं जानता ।
निः अच्छर का रूप दृष्टि नहिं आवता ॥
ररंकार आकार पवन को देखना ।
अरे हाँ रे पलटू देखत हैं एक संत और सब पेखना ॥
जो कोइ चाहै नाम सो नाम अनाम है ।
लिखन पढ़न में नाहिं निःअछर काम है ॥
रूप कहूँ अनरूप पवन अनरेखते ।
अरे हाँ रे पलटू गैब दृष्टि सों संत नाम वह देखते ॥

(पलटू साहब)

बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो ।
अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥८०॥

वह (राम-नाम) ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप, वेद का जीवन, निर्गुण, उपमा-रहित और गुण का भण्डार है।

[राम-नाम अनाहत ध्वन्यात्मक, आदि और सर्वव्यापी शब्द होने के कारण 'विधि हरि हर मय' वा सर्वमय अवश्य कहा जा सकता है। सबसे परे और सबका आधार-रूप यही शब्द (ध्वन्यात्मक राम-नाम) है, इसलिए यह वेद का वा सबका प्राण या जीवन कहा गया है। यह शब्द त्रयगुणमयी प्रकृति के परे और उस

(प्रकृति) से पूर्व का है, इसलिए यह निर्गुण है। इसकी उपमा का दूसरा कोई शब्द नहीं है, इसलिए यह उपमा-रहित है और त्रयगुणमयी प्रकृति का भी यही शब्द कारण है, इसलिए इसको गुणनिधान भी अवश्य ही कह सकते हैं। चौ० ७९ के अर्थ के नीचे कोष्ठ का वर्णन पढ़कर इसको विशेष रूप से समझ लीजिये।]

महा मंत्र जोइ जपत महेसू।
कासी मुक्ति हेतु उपदेसू॥८१॥

जिस महामंत्र को शिवजी भजते हैं और जिसका उपदेश काशी में मुक्ति का कारण है।

महिमा जासु जान गन राऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥८२॥

उस नाम की महिमा गणेशजी जानते हैं कि जिस (नाम) के प्रभाव से यह (गणेशजी) प्रथम पूजे जाते हैं।

जान आदिकबि नाम प्रतापू।
भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥८३॥

आदिकवि वाल्मीकिजी नाम के प्रताप को जानते हैं, जो (वाल्मीकिजी) उलटा नाम जाप वा भजन करके पवित्र हुए हैं।

[वर्णात्मक शब्द की धार की गति नीचे से ऊपर की ओर (नाभि से मुख की ओर) को है और अनाहत तथा अनहद ध्वन्यात्मक शब्द की धार की गति ऊपर से नीचे की ओर को वा ब्रह्माण्ड के परे से ब्रह्माण्ड की ओर को, पिण्ड में दिमाग के भीतर सूक्ष्म स्नायविक (स्नायु-संबन्धी) मण्डल के केन्द्र से स्थूल स्नायु-समूहों की ओर को है। इस प्रकार वर्णात्मक और कथित ध्वन्यात्मक; दोनों शब्दों की धारें एक दूसरे की उलटी ओर को प्रवाहित हैं। इसीलिए वर्णात्मक नाम-भजन के सम्मुख ध्वन्यात्मक नाम-भजन को उलटा नाम-भजन कहा गया है। आदिकवि (वाल्मीकिजी) केवल 'मरा-मरा' ही नहीं जपे थे, बल्कि वे ध्वन्यात्मक रामनाम का भी भजन करके पवित्र होकर (सब आवरणों को पार करके) ब्रह्म में लीन हो गये थे। 'उलटा नाम

जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।' बिना शब्दब्रह्म में वा सर्वव्यापक शब्द में वा ध्वन्यात्मक राम-नाम में लीन हुए, ब्रह्म में लीन होकर कोई ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।' (ब्रह्मविन्दूपनिषद्) अर्थ–दो विद्याएँ समझनी चाहिये, एक तो शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। पुनः–'अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।' (योगशिखोपनिषद्) अर्थ–अक्षर (अनाश) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं।]

समुझत सरिस नाम अरु नामी।
प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ।।८४।।

समझने में नाम और नामी बराबर हैं। (दोनों का) आपस में मालिक और नौकर की तरह प्रेम है।

[नाम–शब्द, जिससे कोई वा कुछ जाना जाय। नामी–जिसके लिए नाम हो।]

नाम रूप दुइ ईस उपाधी।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।८५।।

नाम और रूप; दोनों ईश्वर की पदवी हैं। ये (दोनों) वर्णन से बाहर और आदि-रहित हैं, अच्छे बुद्धिमान ने इनकी साधना की है।

[पदवी से बड़प्पन प्रगट होता है। कहने का भाव है कि नाम और रूप से ईश्वर का बड़प्पन कुछ-कुछ प्रगट होता है। वर्णात्मक नाम और रूप (दोभुजी, सहस्त्रभुजी, नररूप, देवरूप और विराट रूप आदि) अकथ और अनादि नहीं कहे जा सकते। पूर्व कथित ईश्वर के नाम के दो भेदों (वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक) में से ध्वन्यात्मक नाम ही अकथ और अनादि कहा जा सकेगा। ईश्वर के रूप के भी दो प्रकार हैं–एक मायिक, दूसरा अमायिक। माया सम्बन्धी रूप को सामान्य रूप भी कह सकेंगे। इसके भी दो भेद कर सकते हैं, एक दिव्य और दूसरा अदिव्य। दिव्य–जैसे चतुर्भुजी, सहस्त्रभुजी, अणुरूप (जिसका वर्णन मनुस्मृति के द्वादश अध्याय में अणु से भी अणु शुद्ध सुवर्ण-समान वा

विन्दु-रूप कहकर किया गया है और यह वर्णन रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में भी है।) दीपक-टेमवत्, तारावत्, चन्द्रवत्, सूर्यवत् ज्योति रूप। इन (दिव्य मायिक रूपों) का प्रत्यक्ष दर्शन पिण्ड में नहीं, ब्रह्माण्ड में होता है। अदिव्य मायिक रूप–जैसे नर आदि का, साधारण रूप है। मायिक दिव्य वा अदिव्य, कोई भी रूप अकथ और अनादि नहीं कहला सकता है। आत्म-स्वरूप को निर्मायिक रूप कहते हैं। इसको विशेष रूप भी कह सकते हैं। इसी रूप को अकथ और अनादि कहना चाहिये; क्योंकि आत्मा के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है और उसका आदि भी नहीं बतलाया जा सकता। इस चौपाई के उत्तरार्द्ध में ईश्वर के ध्वन्यात्मक नाम को और उसके (निर्गुण आत्म-स्वरूप को ही अकथ-अनादि कहकर बतलाया गया है, इस नाम और रूप को सुबुद्धिमान साधन करके प्राप्त करते हैं। रामचरितमानस के तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड) में वर्णित नवधा भक्ति के पूर्ण साधन से ईश्वर के उपर्युक्त नाम और रूप प्राप्त होते और सधते हैं।]

को बड़ छोट कहत अपराधू।
सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू॥८६॥

(नाम और रूप में) कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह कहने में दोष होता है। साधु लोग इनके गुणों का अन्तर सुनकर (बड़ाई-छोटाई) समझ लेंगे।

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना॥८७॥

रूप को नाम के वश में देखेंगे और रूप का ज्ञान नहीं होने से बिना नाम का रहेगा।

[वर्णात्मक नाम के सुमिरण-साधन से सिमटे हुए चित्त में सामान्य अदिव्य मायिक रूप प्राप्त करने की शक्ति होती है, इसलिए वर्णात्मक नाम के वश में यह रूप कहा गया है। अदिव्य मायिक रूप के ध्यानाभ्यास से विशेष सिमटे हुए चित्त को सामान्य दिव्य रूप 'विन्दु वा अणु से भी अणु रूप' ग्रहण करने

की शक्ति होती है। और इस रूप के ध्यान के साधन से चौ० ८५ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में वर्णित और सब सामान्य दिव्य रूपों की प्रत्यक्षता हो जाती है। जिनको इन दिव्य रूपों का ज्ञान नहीं होगा, वे बिना ध्वन्यात्मक नाम के रहेंगे। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि जबतक वर्णित साधन से चित्त वा चेतन-वृत्ति वा सुरत का अति विशेष सिमटाव होकर ब्रह्माण्ड में चढ़ाई न होगी और वहाँ वर्णित दिव्य रूपों का दर्शन न मिलेगा, तबतक ध्वन्यात्मक नाम प्राप्त नहीं हो सकता है।]

रूप बिसेष नाम बिनु जाने।
करतल गत न परहिं पहिचाने॥ ८८॥

बिना (ध्वन्यात्मक राम) नाम के जाने विलक्षण रूप (आत्म-स्वरूप) हथेली में प्राप्त है, (पर) पहचानने में नहीं आता है।

[शब्द अपने आकर्षण से सुरत को खींचकर अपने उद्गम-स्थान तक पहुँचा देता है। ध्वन्यात्मक राम-नाम आदि-शब्द है और प्रकृति-मण्डल के ऊपर स्वयं सर्वेश्वर ही उसका उद्गम-स्थान है। सर्वेश्वर का स्वरूप, विशेष रूप वा आत्म-स्वरूप ही है। यह विशेष रूप सर्वव्यापक है। प्रत्येक पिण्ड में यही विशेष रूप व्याप्त होकर जीवात्मा कहलाता है, इसलिए यह रूप सबको करतल-गत या हथेली में प्राप्त है। यदि ध्वन्यात्मक राम-नाम को कोई परख सके, तो इसके आकर्षण से विशेष रूप तक उसकी सुरत पहुँच जाएगी और उसको पूर्ण आत्मज्ञान हो जाएगा।]

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे।
आवत हृदय सनेह बिसेखे॥ ८९॥

बिना रूप देखे नाम को भजिये, तो हृदय में विशेष वा विलक्षण वा आत्मरूप का स्नेह होता है।

[सुषुप्ति-अवस्था के अतिरिक्त दूसरी सब अवस्थाओं में और समस्त रूप-मण्डल में (त्रिकुटी तक बिना रूप देखे सुमिरण करना असम्भव है। त्रिकुटी के ऊपर सुन्न में सुरत को पहुँचाकर शब्द (ध्वन्यात्मक नाम) में सुरत को लगाना बिना रूप देखे सुमिरण है।]

नाम रूप गति अकथ कहानी।
समुझत सुखद न परति बखानी॥ ९०॥

नाम और रूप के ज्ञान की कहानी (सम्पूर्ण कहानी) कहने में नहीं आती है। समझने में (नाम-रूप) सुखदायक है, पर (उनका) वर्णन नहीं किया जा सकता है।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥ ९१॥

अगुण और सगुण के बीच में नाम अच्छा साक्षी (गवाह) है, दोनों (निर्गुण-सगुण) का ज्ञान देनेवाला दुभाषिया (दो भाषाएँ जाननेवाला) बुद्धिमान है।

[वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक; दोनों शब्दों के ज्ञाता को यहाँ पर दुभाषी कहा गया है।]

***दोहा*—राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।**
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जो चाहसि उँजियार॥ १४॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यदि तू भीतर और बाहर (दोनों जगह) उजाला चाहता है, तो रामनाम-मणि-दीप को जीभ-रूप देहरी के द्वार पर रख।

नाम जीह जपि जागहिं जोगी।
बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥ ९२॥

नाम को जीभ से जपकर योगी जगते हैं और ब्रह्मा के प्रपंच अर्थात् संसार में वे निरासक्त होकर उसके त्यागनेवाले होते हैं।

[योगी जगते हैं—योगी योग करना आरम्भ करते हैं अर्थात् वर्णात्मक नाम को एकचित्त होकर जपना, योग-साधन का आरम्भ करना है।]

ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा।
अकथ अनामय नाम न रूपा॥ ९३॥

वे अनुपम ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं, जो (सुख) कहा नहीं जा सकता, जो रोग-रहित है और जिसका नाम और रूप नहीं है।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥९४॥

जो कोई गहन ज्ञान को जानना चाहते हैं, वे भी नाम को जीभ से जपकर जान जाते हैं।

साधक नाम जपहिं लउ लाए।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए॥९५॥

साधक लव लगाकर नाम का जप जपते हैं और अणिमा आदि सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं।

जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥९६॥

बहुत ही दुःखी लोग नाम जपते हैं, (इससे) उनके कुसंकट मिट जाते हैं और वे सुखी हो जाते हैं।

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृति चारिउ अनघ उदारा॥९७॥

राम के भक्त संसार में चार प्रकार के होते हैं। चारो पुण्यवान, निष्पाप और उदार होते हैं।

चहुँ चतुरन कहँ नाम अधारा।
ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा॥९८॥

चारों चतुरों (चतुर भक्तों) को नाम का आश्रय है, पर ज्ञानी भक्त ईश्वर को विशेष प्यारे हैं।

[चौ० ९२-९३ में वर्णित भक्त ज्ञानी हैं (१), चौ० ९४ में वर्णित भक्त जिज्ञासु हैं (२), चौ० ९५ में वर्णित भक्त अर्थार्थी हैं (३), चौ० ९६ में वर्णित भक्त आर्त्त हैं (४); ये ही चारो प्रकार के भक्त हैं।]

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।
कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥९९॥

चारो युगों के लिए चारो वेदों में नाम का ही प्रताप कहा गया है। विशेष कर कलियुग में इसके बिना दूसरा उपाय नहीं है।

***दोहा*—सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।**
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किये मन मीन॥१५॥

जो सब इच्छाओं से रहित राम की भक्ति में मग्न रहते हैं, वे भी (अपने) मन को नाम के अच्छे प्रेम के अमृत-कुण्ड में मछली कर देते हैं।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥१००॥

अगुण और सगुण; ये दो रूप ब्रह्म के हैं। (ये) दोनों अकथनीय, अथाह, अनादि और उपमा-रहित हैं।

[ब्रह्म का निर्गुण रूप तो जैसा चौपाई में है, अकथ-अनादि-अगाध और अनूप है, इसे सभी समझ सकते हैं। ब्रह्म के सगुण रूप ये हैं—विष्णु-रूप, विराट-रूप, रामकृष्णादि अवतारी-रूप; सब चर-अचर-रूप, योग-दृष्टि से दर्शित रूप और आहत-अनहद शब्द-रूप आदि। इन सब रूपों का पूर्ण वर्णन अशक्य है, ये थाहे नहीं जा सकते। यह भी बतलाया नहीं जा सकता कि ब्रह्म ने कब सगुण रूप धारण किया है, इसलिए सगुण रूप भी अनादि कहलाता है और न कोई उपमा ऐसी है, जो इसको दी जा सके।]

मोरे मत बड़ नाम दुहू ते।
किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥१०१॥

मेरे विचार में ब्रह्म के दोनों रूपों से नाम बड़ा है। जिसने अपने बल से दोनों को अपने अधीन कर लिया है।

प्रौढ़ सुजन जनि जानहिं जन की।
कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥१०२॥

सज्जन लोग (मेरे इस कथन के लिए) मुझ दास को समर्थ न समझें, मैं तो अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि (भर) कहता हूँ।

एक दारु गत देखिय एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥१०३॥

अग्नि के दो रूप हैं। एक अग्नि तो लकड़ी में रहती है और दूसरी प्रत्यक्ष है। इसी तरह ब्रह्म का भी विचार है।

[निर्गुण व्यापक रूप है और सगुण प्रत्यक्ष रूप]

उभय अगम जुग सुगम नाम तें।
कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ॥१०४॥

दोनों (ब्रह्म के रूप) अगम हैं, पर नाम के द्वारा दोनों सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं। मैं तो कहता हूँ कि ब्रह्म (निर्गुण) और राम (सगुण) से नाम बड़ा है।

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।
सत चेतन घन आनन्द रासी ॥१०५॥

ब्रह्म सर्वत्र फैला हुआ, एक, नाश-रहित, सत्-चेतन-पुंज और आनन्द का ढेर है।

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी ॥१०६॥

हृदय में ऐसे निर्विकार प्रभु के रहते हुए सब जीव दीन और दुःखी हैं।

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥१०७॥

नाम का निरूपण करके नाम का यत्न करने से वह (व्यापक निर्गुण ब्रह्म) भी इस तरह प्रकट होता है, जिस तरह रत्न से मोल प्रकट होता है।

***दोहा*—निरगुन तें एहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार।**
कहेउँ नाम बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार ॥ १६॥

(नाम) निर्गुण ब्रह्म से इस प्रकार बड़ा है। नाम का प्रभाव अपार है। मैंने अपने विचार के अनुसार कहा है कि नाम राम (सगुण ब्रह्म) से (भी) बड़ा है। (नाम सगुण ब्रह्म से किस तरह बड़ा है, सो अब कहता हूँ।)

राम भगत हित नर तनु धारी।
सहि संकट किय साधु सुखारी ॥१०८॥

राम (विष्णु भगवान) ने भक्तों के लिए मनुष्य-शरीर धारण करके संकट सहकर साधुओं को सुखी किया।

नाम सप्रेम जपत अनयासा।
भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥१०९॥

भक्त लोग नाम को प्रेम के साथ भजकर बिना परिश्रम प्रसन्नता और आनन्द के घर हो जाते हैं।

_दोहा_—ब्रह्म राम ते नाम बड़, बर दायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥ १७॥

श्री शिवजी ने नाम को सगुण ब्रह्म राम से बड़ा और वर देनेवाले को भी वर-दाता जानकर सौ करोड़ 'रामचरितमानस' में से (नाम को सार-रूप जानकर) ग्रहण किया है।

राम चरित मानस यहि नामा।
सुनत श्रवण पाइय बिश्रामा॥ ११०॥

इस (कथा) का नाम 'रामचरितमानस' है। इसको कान से सुनते ही आनन्द मिलता है।

[गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी की कथा का नाम, जिसका वर्णन करना मैंने आरम्भ किया है, रामचरितमानस है। मानस = सरोवर। रामचरितमानस—श्रीरामजी के चरित्रों का सरोवर।]

मन करि बिषय अनल बन जरई।
होइ सुखी जो यहि सर परई॥ १११॥

मन-रूपी हाथी विषय-रूपी वन की अग्नि में जलता हुआ यदि इस सरोवर (रामचरितमानस) में आ पड़े, तो वह सुखी हो जायगा।

रामचरितमानस मुनि भावन।
बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ ११२॥

मुनियों को अच्छा लगनेवाला, सुहावना और पवित्र रामचरितमानस श्रीशिवजी ने बनाया है।

[मुनि-भावन = ज्ञानी पुरुषों के मन को अच्छा लगनेवाला पदार्थ]

त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन।
कलि कुचालि कलि कलुष नसावन॥ ११३॥

यह (रामचरितमानस) तीनों प्रकार के दोषों, दुःखों और दरिद्रताओं को दबानेवाला, कलियुग की कुरीतियों और पापों का नाश करनेवाला है।

(तीन दोष = मन, वचन और कर्म के। तीन दुःख—दैहिक,

दैविक और भौतिक। तीन दारिद्र्य–ज्ञान-हीनता, इन्द्रिय-सुख-लोलुपता और धन-लोलुपता।)

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥११४॥

इस (रा० च० मा०) को शिवजी ने बनाकर अपने मन में रख लिया था और अच्छा समय पाकर श्रीपार्वतीजी से कहा।

तातें रामचरितमानस बर।
धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥११५॥

इसी से शिवजी ने अपने मन में खोजकर प्रसन्नतापूर्वक इसका सुन्दर नाम 'रामचरितमानस' रखा।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी।
सोइ स्वच्छता करइ मल हानी ॥११६॥

(साधु लोग) जो ब्रह्म की सगुण लीला का वर्णन करते हैं, वही मैल को नष्ट करनेवाली (रामचरितमानस-जल की) निर्मलता है।

[इस जल की सगुण लीला-रूपिणी निर्मलता से शरीर का मल नहीं, हृदय का मल नष्ट होता है; जिस तरह पोखर, कूप और नदी आदि के जल की निर्मलता से शरीर का मल नष्ट होता है।]

प्रेम भगति जो बरनि न जाई।
सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥११७॥

प्रेम और भक्ति, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही तो उस जल की मधुरता और सुशीतलता है।

[प्रेम मीठापन है। भक्ति-भजन-सेवा-नवधा भक्ति, ठण्ढापन है।]

***दोहा*–सुठि सुन्दर सम्बाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।**
तेहि यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥१८॥

अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर संवाद; जो बुद्धि से विचार करके रचे गये हैं, वही तो उस पवित्र और सुन्दर सरोवर के मनहरण करनेवाले चार घाट हैं।

[याज्ञवल्क्य-भरद्वाज का संवाद, शिव-पार्वती का संवाद, कागभुशुण्डि-गरुड़ का संवाद और कुम्भज ऋषि तथा शिवजी

का संवाद; ये ही चारो संवाद चार घाट हैं।]

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना।
ज्ञान-नयन निरखत मन माना॥११८॥

सातों (काव्य-रचना) काण्ड सुन्दर सीढ़ियाँ हैं, जिन्हें ज्ञान के नेत्र से देखने से मन प्रसन्न होता है।

ज्ञान-नेत्र प्राप्त करने के दो साधन हैं–(१) विद्याभ्यास और (२) योगाभ्यास। आप्त जन वा विश्वसनीय जन के वचनों के प्रमाण-द्वारा ज्ञान प्राप्त करना एवं उपमान प्रमाण-द्वारा और अनुमान प्रमाण-द्वारा ज्ञान प्राप्त करना विद्याभ्यास से होता है। पर इन तीनों प्रकारों से अनुभव वा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान की इस कमी की पूर्ति के लिए दूसरा साधन योगाभ्यास है, जिससे अनुभव वा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उपर्युक्त दोनों साधनों के बिना, ज्ञान-चक्षु खुले बिना रामचरितमानस के वर्णित चारो घाटों की सीढ़ियों को देखे बिना मन नहीं मानेगा, यथार्थ बोध नहीं होगा अथवा संशय निर्मूल होकर नाश नहीं होगा। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥
यहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥
(रामचरितमानस)

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवइ निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि पद अनुभवइ परम सुख, अतिशय द्वैत बियोगी॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसा हीन, संसय निर्मूल न जाहीं॥
(विनय-पत्रिका)

गो० तुलसीदासजी रामचरितमानस के वर्णन में यह भी साफ कह देते हैं कि–चौ०–'नवरस जप तप योग बिरागा। ते सब जल-चर चारु तड़ागा॥' तात्पर्य यह है कि रामचरितमानस में योग-रहस्य भी हैं, योग-साधन-विहीन केवल विद्या-बुद्धि से योग-रहस्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। इसलिए विद्याभ्यास और योगाभ्यास-द्वारा ज्ञान-नेत्र प्राप्त करके ही रामचरितमानस में देखने से उसके अन्तर के सब रहस्य जाने जा सकेंगे। कोरे शब्दार्थों के जानने से काम पूरा नहीं होगा।

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनव सोइ बर बारि अगाधा॥११९॥

रामजी की विघ्न-रहित निर्गुण महिमा का वर्णन करूँगा, वही श्रेष्ठ जल की गहराई है।

[श्रीरघुनाथजी की निर्गुण महिमा बाधा और विघ्न-रहित है और रामचरितमानस के साधु-रूपी बादलों-द्वारा बरसाये हुए राम के सुन्दर यश-रूपी उत्तम जल की भी गहराई वही है। साथ-ही-साथ निर्गुण रूप को उत्तरकाण्ड में बहुत सरलतापूर्वक प्राप्त होने-योग्य भी बतलाया है; यथा–

दोहा–निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

निर्गुण-महिमा बाधा-रहित होने के कारण स्वभाव से ही स्वच्छतायुक्त मल-रहित होगा। इसलिए निर्गुण-महिमा स्वच्छता-सहित रामचरितमानस के जल की अगाधता है। चौ० ११६ में कहा गया है कि सगुण लीला रामचरितमानस के जल की स्वच्छता है। स्वच्छता जल का उत्तम गुण है सही, परन्तु अगाधता-रहित स्वच्छता से अथवा अल्प स्वच्छ जल से विशेष मैल नष्ट नहीं हो सकती है। और उत्तरकाण्ड के उपर्युक्त दोहे में सगुण रूप को मुनियों के मन में भी भ्रम (मल) उत्पन्न करनेवाला कहा गया है और उसमें यह भी कहा गया है कि सगुण रूप को कोई जानता नहीं है। जैसे कि ब्रह्मा और इन्द्र ने श्रीकृष्ण भगवान को न जान सकने के कारण उनके विरुद्ध काम किया। ये कथाएँ (ब्रह्मा के गौ-हरण और इन्द्र द्वारा व्रज पर जल बरसाने आदि की) भागवत में हैं। और स्वयं रामचरितमानस में नारद, सती, गरुड़ और कागभुशुण्डि आदि के मोह में पड़ने का वर्णन है। निर्गुण और सगुण के उपर्युक्त वर्णनों को विचारकर बुद्धिमान जान सकेंगे कि यद्यपि रामचरितमानस में सगुण रूप और सगुण लीला का विस्तारपूर्वक वर्णन है और निर्गुण रूप तथा निर्गुण-महिमा का वर्णन उतने विस्तार से नहीं है, तथापि श्रेष्ठता निर्गुण रूप और निर्गुण-महिमा को ही उसमें दी गई है। प्रथम उपासना के लिए सगुण रूप और सगुण लीला को श्रद्धा से ग्रहण करने की

आवश्यकता है, परन्तु दुराग्रह और हठ से ब्रह्म के सगुण रूप को ही परमावधि जान लेना तथा उसी पर अटके रहना और उसके आगे ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप ग्रहण करने के उत्तम और सरल साधन से विमुख रहना, रामचरितमानस की अगाधता के अन्तस्तल में न पहुँचना, ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप-रूपी अनमोल रत्न को गँवाना है। ऐसे दुराग्रही के प्रति स्व० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के ये वचन ठीक हैं—'यह मनुष्यों की अत्यन्त शोचनीय मूर्खता का लक्षण है कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान और उसके भी परे अर्थात् अचिन्त्य है; किन्तु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमान के अधीन हो जाते हैं कि ईश्वर ने अमुक समय, अमुक देश में, अमुक माता के गर्भ से, अमुक वर्ण का, नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है और इस अभिमान में फँसकर एक दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं।' (गीता-रहस्य, भक्ति-मार्ग, पृष्ठ ४२३, पुनर्मुद्रण सं० १९७४, सन् १९१७ ई०, पूना)]

जो नहाइ चह यहि सर भाई।
सो सतसंग करउ मन लाई॥१२०॥

हे भाई! जो इस तालाब (रामचरितमानस) में नहाना चाहे, वह मन लगाकर सत्संग करे।

[बिना सत्संग रामचरितमानस में डूबकर नहीं समझ सकते हैं।]

अस मानस मानस चषु चाही।
भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥१२१॥

ऐसे सरोवर को देखने के लिए हृदय की आँख चाहिए (कि जिसमें) स्नान करके कवि की बुद्धि निर्मल हुई।

[मानस-चषु = हृदय की आँख। इसका वर्णन चौ० सं० ७ और ५ के अर्थ के नीचे के कोष्ठों में अवश्य पढ़िये। चौ० सं० ७ के नीचे के कोष्ठ में कही गई रीति से हृदय की आँखें खोलकर रामचरितमानस में वर्णित विषय ठीक-ठीक जाना जा सकता है। और इस विषय को ही मन डुबाकर जानना, रामचरितमानस में

स्नान करना है। पर याद रहे कि हृदय की आँखें खुले बिना रामचरितमानस के विषय को जानना असम्भव है।]

जिन्ह यहि बारि न मानस धोये।
ते कायर कलिकाल बिगोये॥१२२॥

जिन्होंने (रामचरितमानस के) इस जल से हृदय नहीं धोया, उन डरपोकों को कलिकाल ने बिगाड़ दिया।

[भक्तियोग को साधे बिना हृदय की आँखें नहीं खुलेंगी और इन आँखों के खुले बिना हृदय नहीं धोया जा सकेगा। साधन के परिश्रम को न सह सकनेवाले, सुस्त, आलसी, विषय-लोलुप और सत्य परमार्थ-साधन के लिए पुरुषार्थ-हीन मनुष्यों को कायर कहा गया है।]

गोसाईं तुलसीदासजी महाराज रामचरितमानस की कथा इस प्रकार आरम्भ करते हैं कि एक बार मकर-स्नान के अनन्तर प्रयाग-निवासी भारद्वाज मुनि ने परम विवेकी याज्ञवल्क्य मुनि के चरण पकड़ अपने आश्रम में ठहरा रखा और विनती करके उनसे पूछा कि हे नाथ ! राम कौन हैं ? एक राम तो अवधेश (राजा दशरथ) के कुमार हैं, सो वही राम हैं या कोई दूसरे हैं, जिनको महादेवजी भजते हैं ? यह सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया कि ऐसा ही संशय भवानी (सती–पार्वती) जी ने किया था और महादेवजी ने इसका उत्तर विस्तारपूर्वक वर्णित किया था। वही महादेव-पार्वती का शुभ संवाद अब मैं कहता हूँ। यह संवाद किस समय और किस कारण हुआ था सो भी कहता हूँ–एक बार त्रेतायुग में सती-सहित शंकरजी कुम्भज ऋषि के पास गये। वहाँ ऋषि ने राम-कथा वर्णन की। शंकरजी ने बड़े ही आनन्द से उसे सुना। फिर कुम्भज ऋषि ने शंकरजी से हरि-भक्ति के बारे में पूछा। शंकरजी ने उनको अधिकारी समझकर उनके सामने हरि-भक्ति-विषय का वर्णन किया। इसी तरह कथोपकथन में शिवजी कुछ काल तक वहाँ ठहर गए। फिर शिवजी अगस्त्य (कुम्भज) जी से विदा माँग सती-सहित अपने भवन को चल दिए। इसी अवसर पर धरती का भार उतारने को रामावतार हुआ था। पिता-वचन पालने के लिए राम जंगल में थे, वहाँ रावण ने

सीताजी को हर लिया था। राम विरही होकर सीताजी को खोजते-फिरते थे। शंकरजी ने राम को इस हालत में जंगल में देखा, पर उन्होंने कुसमय जानकर जान-पहचान नहीं की और दूर से ही 'जय सच्चिदानन्द' कहकर प्रणाम करके चल दिये, यह देखकर सती को संशय हुआ कि—

***दोहा*—ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।**
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥ १९॥

जो ब्रह्म सर्वव्यापक, निर्मल, अजन्मा, अंगहीन (माया-रहित), इच्छा-रहित और भेद-रहित है, वह क्या देह धरकर मनुष्य हो सकता है कि जिसको वेद भी नहीं जानते?

बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी।
सोउ सर्बज्ञ जथा त्रिपुरारी॥ १२३॥

यदि विष्णु देवताओं के हित नर-तन धरे होते, तो वे भी शिवजी के समान सर्वज्ञ (सब कुछ जाननेवाले) होते।

खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।
ज्ञान-धाम श्रीपति असुरारी॥ १२४॥

वे अज्ञानियों की भाँति स्त्री को क्यों खोजते-फिरते? वे तो ज्ञान के घर, लक्ष्मी के पति और असुरों को मारनेवाले हैं।

शिवजी ने सती के मन का संशय जानकर कहा कि—

छन्द—मुनि धीर योगी सिद्ध सन्तत, बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम, जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन, निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित, निज तंत्र नित रघुकुल मनी॥१॥

मुनि, धीर, योगी और सिद्ध जिनका सदा पवित्र मन से ध्यान करते हैं और जिनका यश वेद, पुराण और शास्त्र नेति-नेति (नहीं है अन्त, नहीं है अन्त) कहकर गाते हैं, उसी सर्वव्यापक ब्रह्म, लोक-समूह के स्वामी और मायानाथ, सर्वदा स्वतन्त्र रघुकुल-श्रेष्ठ राम ने अपने भक्तों के हित अवतार लिया है।

इस प्रकार शिवजी ने बहुत बार उपदेश किया, परन्तु सती के मन में कुछ न लगा। संशय ज्यों-का-त्यों बना रहा। तब शिवजी ने

सती से कहा कि यदि तुम्हारे चित्त में बहुत संदेह है, तो क्यों नहीं जाकर परीक्षा लेती हो ? शिवजी वट की छाया में बैठ गए। सती रामजी की परीक्षा लेने को गईं और सीता का रूप बनाकर रामजी के सामने जा खड़ी हुईं। रामजी ने उनको प्रणाम किया और पूछा कि आप अकेली वन में क्यों फिरती हैं ? शिवजी कहाँ हैं ? सती वहाँ से संकोच और भय करती शिवजी के पास लौट चलीं। रामजी ने अपनी महिमा सतीजी को इस भाँति दिखलायी कि आगे सीता, पीछे लक्ष्मण, बीच में आप हैं। सती जहाँ-जहाँ देखती हैं, वहाँ-वहाँ उनको यही रूप दिखाई पड़ता है और यह भी कि ब्रह्मादि देवता-गण उनकी (रामजी की) स्तुति और पूजा कर रहे हैं। सती का हृदय काँपने लगा, वे आँखें मूँदकर मार्ग में बैठ गईं। फिर जब उन्होंने आँखों को खोला, तब कुछ नहीं दिखाई पड़ा। फिर वे शिवजी के पास चली गईं। शिवजी के पूछने पर सती ने झूठ कह दिया कि मैंने कोई परीक्षा नहीं ली और आप ही की तरह प्रणाम करके चली आई। शिवजी ध्यान-बल से सब भेद जान गए और मन में सती से विरक्त हो गए।

***सोरठा*–जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भली।**
बिलग होत रस जाय, कपट खटाई परत ही॥२०॥

देखिये, प्रीति की रीति ऐसी भली होती है कि पानी दूध के समान ही बिकता है, पर कपट-रूपी खटाई के पड़ते ही (दूध-पानी) अलग-अलग हो जाता है और स्वाद भी जाता रहता है।

शिवजी अपने स्थान पर आ विराजे। उसी समय सती के पिता दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया। उसमें सबको निमन्त्रित किया, पर शिवजी को निमन्त्रण नहीं दिया और सती को भी अपने घर में नहीं बुलाया। इतने अपमान पर भी सती ने हठपूर्वक पिता के घर जाने की इच्छा करके आज्ञा माँगी। शिवजी बोले-

जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा।
जाइय बिनु बोले न सन्देहा॥१२५॥

यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बुलाये भी जाना चाहिए।

तदपि बिरोध मान जहँ कोई।
तहाँ गये कल्यान न होई॥१२६॥

तथापि जहाँ कोई विरोध माने, वहाँ जाने से कल्याण नहीं होता है।

अन्त में शिवजी ने विवश होकर सती को पिता के घर जाने की आज्ञा दे दी। सती पिता के घर गईं। यज्ञ में जाकर देखा तो वहाँ शिवजी का भाग नहीं था। दक्ष ने सती का वहाँ कुछ भी आदर नहीं किया। इन बातों से सती को बड़ा क्रोध हुआ और उसने उस यज्ञ-स्थल में सबके सम्मुख अपना शरीर योग की अग्नि में त्याग दिया। सती ने हिमालय पर्वत के घर में उसकी स्त्री मैना के गर्भ से फिर जन्म लिया, तब से वह पार्वती नाम से पुकारी जाने लगी। एक दिन ऋषि नारद हिमालय के घर आए। गिरिराज हिमालय के पूछने पर नारदजी ने बताया कि पार्वतीजी के सब लक्षण अच्छे हैं, पर इसका पति बिना माता-पिता का, भीख माँग कर खानेवाला और अशुभ वेश रखनेवाला होगा। यह सुनकर मैना और हिमालय को बड़ा दुःख हुआ। फिर नारदजी बोले कि जो सब लक्षण इसके पति के होंगे, वे शिव को हैं। यदि इस कन्या का विवाह शिव के साथ हो जाय, तो दोष भी गुण के समान हो जाएगा।

भानु-कृसानु सर्ब रस खाहीं।
तिन कहँ मन्द कहत कोउ नाहीं॥१२७॥

सूर्य और अग्नि सब रसों को खाते हैं, पर उन्हें बुरा कोई नहीं कहता है।

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई।
सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥१२८॥

पवित्र और अपवित्र; सब चीजें गंगाजी के जल में बहती हैं, पर गंगाजी को कोई अपवित्र नहीं कहता है।

समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं।
रबि पावक सुरसरि की नाईं॥१२९॥

हे गोसाईं ! सूर्य, अग्नि और गंगा की तरह शक्तिमान को दोष नहीं लगता है।

दोहा–जौं अस हिसिषा करहिं नर, जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान ॥२१॥

परन्तु मूर्खतापूर्ण विचारवाला मनुष्य यदि अहंकार के वश ऐसी बराबरी करे (समर्थों की देखा-देखी अशुभ धारण का अनुकरण करे) तो वह कल्प भर (४३२०००००० वर्ष; लंकाकाण्ड की दोहा-संख्या ८८ के नीचे कोष्ठ में देखिये) नरक में पड़ेगा। क्या जीव ईश्वर के समान हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं हो सकता है।)

[जबतक दो नहीं हो, तबतक जाना नहीं जा सकता कि एक दूसरे के समान है (वा असमान है)। द्वैत में ही समानता वा असमानता की नाप वा विचार हो सकता है, अद्वैत में नहीं। इस दोहे को पढ़कर यह नहीं जानना चाहिये कि गोस्वामी तुलसीदासजी का यह मत है कि जिस तरह घट के फूटने पर घटाकाश और महदाकाश की एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी तरह जीव के जीवत्व (जीव का भाव) का नाश होने पर सर्वेश्वर से एकता नहीं होती है। ये (गो० तु० दा०) जीव और ईश की समानता तो अवश्य ही नहीं मानते हैं, परन्तु उपर्युक्त रीति से जीवत्व-रूप आवरण के नष्ट होने पर जीवात्मा का सर्वेश्वर से एकता अच्छी तरह निःसंशय रूप से अवश्य मानते हैं। इसकी पुष्टि आगे कई स्थानों पर की गई मिलेगी। समानता का अर्थ है बराबरी और एकता का अर्थ है अद्वैतता–अभेद भाव–अत्यन्त द्वैताभाव–दो भेद का कुछ भी न रहना। एक की दूसरे से तुलना करने पर यदि दोनों में बराबरी पाई जाय, तो कहेंगे कि यह उसके समान है। इसलिए यह कुछ भी जरूरी नहीं है कि समानता में द्वैतता मिट जाय। अतएव समानता और एकता वा अतिशय द्वैतहीनता; एक ही बात नहीं है। जीव और ईश को समान मानना तो निरी मूर्खता है ही, परन्तु समानता और अद्वैतता को एक ही जानना भी अगाध मूढ़ता से कम नहीं है।]

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना।
कबहुँ न सन्त करहिँ तेहि पाना ॥१३०॥

गंगा-जल से भी बनी हुई जानकर मदिरा को सन्त लोग कभी नहीं पीते हैं।

सुरसरि मिले सो पावन जैसे।
ईस अनीसहि अन्तर तैसे॥ १३१॥

परन्तु वही मदिरा गंगाजी में मिल जाने से जिस प्रकार पवित्र हो जाती है, जीव और ईश में उसी तरह का अन्तर है।

[गंगाजी से पृथक हुआ जल मदिरा बनने योग्य दूसरे सब पदार्थों के संग से अपवित्र मदिरा कहलाता है और वह गंगा-जल की बराबरी मदिरा-रूप में रहकर कभी नहीं कर सकता है। इसी तरह अन्तःकरण, इन्द्रियों और शरीरों के आवरण-रूपी संग से ईश्वर का अंश जीवात्मा कहलाता है और अज्ञानता की अपवित्रता से युक्त मायाधीन हो जाता है और ईश्वर की बराबरी कभी नहीं कर सकता है। परन्तु जिस तरह वह मदिरा बना हुआ गंगा-जल गंगाजी में मिलकर अपवित्रता से मुक्त हो जाता है और गंगाजी की बराबरी नहीं करता, बल्कि गंगाजी से एकता प्राप्त करके तद्रूप (गंगाजी का रूप) हो जाता है, उसी तरह जीवात्मा ईश्वर की भक्ति करके, उसमें लीन होकर वह और ईश्वर एक ही हो जाता है। उसकी जीवत्व-भाववाली अपवित्रता सम्पूर्णतः नष्ट हो जाती है। चौ० सं० १३० और १३१ का यह मर्म है।]

फिर नारदजी हिमालय और मैना से बोले कि यदि पार्वती तप करके शंकर की आराधना करे, तो शंकरजी प्रसन्न होकर पार्वती से विवाह कर लेंगे। पार्वतीजी ने भी स्वप्न देखा कि एक ब्राह्मण उससे कहते हैं—

तप बल रचइ प्रपंच बिधाता।
तप बल बिष्नु सकल जग त्राता॥ १३२॥

तप के बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और तप के बल से विष्णु भगवान सम्पूर्ण जगत की रक्षा करते हैं।

तप बल सम्भु करहिं संघारा।
तप बल सेष धरहिं महि भारा॥ १३३॥

तप के बल से महादेव नाश करते हैं और तप के बल से शेषनाग पृथ्वी का भार धारण करते हैं।

तप अधार सब सृष्टि भवानी।
करहि जाइ तप अस जिय जानी॥ १३४॥

हे पार्वती ! तप के आधार पर सब सृष्टि है, ऐसा मन में जानकर तुम जाकर तप करो।

यह स्वप्न अपनी माता को सुनाकर पार्वती तप करने को जंगल में चली गईं। तप पूरा होने पर वे घर लौट आईं। श्रीशिवजी से उनका विवाह होना निश्चित हुआ। शिवजी की बारात हिमालय के यहाँ पहुँची, तो उसमें शिवजी का अनूठा भयावह रूप देखकर मैना पार्वती को गोद में लेकर बैठ गई और बोली कि मैं जीते-जी विवाह होने नहीं दूँगी। तब नारदजी वहाँ पहुँचे और समझाने लगे-

मैना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदम्बा तव सुता भवानी॥१३५॥

हे मैना ! तुम मेरा सत्य वचन सुनो कि तुम्हारी कन्या (पार्वतीजी) जगत की माता भवानी (शिवजी की स्त्री) है।

अजा अनादि सक्ति अविनासिनि।
सदा संभु अरधंग निवासिनि॥१३६॥

यह अजन्मा, आदि-रहित और नाश न होनेवाली शक्ति सदा शिवजी के आधे अंग में निवास करनेवाली है अर्थात् सदा से शिवजी की स्त्री है।

जग संभव पालन लय-कारिनि।
निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥१३७॥

जगत को उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली है और जब इच्छा करती है, उसी समय लीला (माया) का शरीर धारण करती है।

जनमी प्रथम दच्छ गृह जाई।
नाम सती सुन्दर तनु पाई॥१३८॥

यह प्रथम दक्ष प्रजापति के घर में जन्मी थी। वहाँ इसका नाम सती था और इसने सुन्दर शरीर पाया था।

इन बातों को सुनकर मैना शिव के साथ पार्वती का विवाह होने देने को सहमत हो गई। विवाह के निमित्त शिव-पार्वती को सिंहासन पर बैठाया गया। तब-

***दोहा*-मुनि अनुसासन गनपतिहिँ, पूजेउ संभु भवानि।**
कउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥२२॥

मुनि की आज्ञा से शिव-भवानी ने गणेशजी का पूजन किया। यह बात सुनकर कोई सन्देह न करे, गणेशजी को अनादि देवता जाने। शिव-पार्वती का विवाह वेदानुसार हो गया।

एक समय शिव-पार्वती दोनों बैठे थे। वहाँ पार्वती ने अति नम्रता से प्रश्न किया–

प्रभु जे मुनि परमारथ बादी।
कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।।१३९।।

हे स्वामी ! जो मुनि परमार्थ के वक्ता हैं, वे राम को अनादि ब्रह्म कहते हैं।

सेष सारदा बेद पुराना।
सकल करहिं रघुपति गुन गाना।।१४०।।

शेष, सरस्वती, वेद और पुराण; सभी रघुनाथजी का गुणगान करते हैं।

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।
सादर जपहु अनंग अराती।।१४१।।

हे कामदेव को नष्ट करनेवाले ! फिर आप भी दिन-रात आदर से राम-राम जपते हैं।

राम सो अवध-नृपति सुत सोई।
कि अज अगुन अलख गति कोई।।१४२।।

वह राम वही अयोध्या के राजा (दशरथ) के पुत्र हैं अथवा जन्म-रहित निर्गुण और अदेख गतिवाले कोई (दूसरे) हैं ?

***दोहा*–जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।**
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि।।२३।।

यदि स्त्री के वियोग में पगली बुद्धिवाले राजकुमार हैं, तो फिर वह ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? उनके चरित्र को देख और उनकी महिमा को सुनकर मेरी बुद्धि बहुत चक्कर खाती है।

जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ।
कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ।।१४३।।

यदि इच्छा-रहित व्यापक ब्रह्म कोई दूसरा है, तो हे स्वामी ! वह भी मुझे समझाकर कहिए।

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिँ ।
आरत अधिकारी जहँ पावहिँ ।। १४४।।

साधु-लोग जहाँ दुःखी अधिकारी पाते हैं, वहाँ गूढ़ तत्त्व (सार पदार्थ) को भी नहीं छिपाते हैं। इसके बाद पार्वतीजी ने और भी ये प्रश्न पूछे–

(१) रघुनाथजी की कथा कहिये। (२) निर्गुण ब्रह्म सगुण शरीर-धारी कैसे हुए ? (३) राम-अवतार की लीलाएँ कहिए। (४) ज्ञानी-मुनि किस तत्त्व-ज्ञान में डूबे रहते हैं ? (५) भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य कहिए। (६) और भी रामजी की गुप्त लीलाएँ कहिए। (७) जो मैंने पूछा न हो, वह भी छिपा न रखिये–कहिये।

पार्वतीजी के प्रश्नों को सुनकर शिवजी कुछ काल तक ध्यानावस्थित रहकर बोले–

झूठउँ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।। १४५।।

जिसके बिना जाने झूठ (प्रकृति-माया) भी सत्य मालूम होता है, जिस तरह डोरी को बिना पहिचाने (उसमें) साँप का भ्रम होता है।

जेहि जाने जग जाइ हेराई ।
जागे जथा सपन भ्रम जाई ।। १४६।।

और जिसको जान लेने पर संसार (माया) इस तरह हेरा (भुला) जाता है, जिस तरह जाग जाने पर स्वप्न का भ्रम दूर हो जाता है।

बंदउँ बाल रूप सोई रामू ।
सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ।। १४७।।

उन बालक-रूप राम को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनका नाम जपने से सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।

[चौ० सं० १४५, १४६ और १४७ का सारांश यह है कि माया मिथ्या, भ्रम और स्वप्नवत् है। जिनके जाने बिना यह (माया) सत्य प्रतीत होती है, जिस तरह रस्सी-रूप सत्य वस्तु में

माया-रूप सर्प का भ्रम होता है, जिसके जाने बिना जीव अज्ञानता-रूप नींद में माया-रूप स्वप्न देखता है, जो (स्वप्न) केवल भ्रम मात्र है, जिसको जानने पर माया मिट जाती है और अज्ञानता-रूप नींद नहीं रहती है, वह बालक-रूप राम है। बालक-रूप राम को ही देखकर कागभुशुण्डि को भ्रम हुआ था, जिसकी कथा सप्तम सोपान में वर्णन की गई है। इसलिए वह बालक-रूप राम, जिसको जान लेने से माया मिट जाती है, केवल बाल्यावस्था का नर-रूप राम नहीं; बल्कि उसी बाल्यावस्था के नर-रूप से आवरणित वा आच्छादित आत्म-रूप राम है। जो केवल मायाकृत नर-रूप को ही जानेगा, उसमें व्यापक आत्म-रूप राम को नहीं जानेगा, उसका माया-भ्रम नहीं मिटेगा। व्याप्य रूप आवरण-भेद से आत्म-स्वरूप राम को बालक-रूप राम कहने में कुछ भी अयुक्ति नहीं। आत्म-रूप राम से व्याप्त नराकृति बाल-रूप को, जो कौशल्या माता के गर्भ से प्रकट होनेवाले और राजा दशरथ के आँगन में विहार करनेवाले हैं, 'दाशरथि राम' वा 'रघुनाथ' वा 'रघुवर' और 'दशरथ अजिर विहारी' कहना कुछ भी अयोग्य नहीं। केवल नराकृति-राम-रूप को जानना और उसमें व्याप्त आत्मरूप राम की जानकारी को अनुपयोगी (बेफायदे) जानकर उसे जानने की चाह न करना, भ्रम में फँसे रहने का लक्षण है। रामचरितमानस के सप्तम सोपान में साफ कह दिया है कि–

दोहा–

भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥

तात्पर्य यह है कि भगवान राम प्रभु ने शुभ लीला-हित नर राजा की देह वा नर-रूप धारण करके नर की भाँति नटवत् लीला की थी, पर वे यथार्थ मनुष्य न हो गये थे। अस्तु, मनुष्याकार राम भगवान का माया-रूप है। उनका स्वरूप (निजरूप) निश्चय ही आत्मराम-रूप अमायिक है।

इस भाँति रामजी की महिमा का वर्णन कर और उनको प्रणाम करके शिवजी फिर कहने लगे–

***दोहा*–राम कृपा ते पारबति, स्वपनेहु तव मन माहिँ।**
सोक मोह संदेह भ्रमु, मम बिचार कछु नाहिँ ॥ २४॥

हे पार्वती ! मेरे विचार में श्रीरामजी की कृपा से तुम्हारे मन में स्वप्न में भी व्यथा, मोह, संदेह और भ्रम कुछ भी नहीं है।

[इस दोहे से पार्वतीजी मोह-वश नहीं जान पड़ती हैं, परन्तु चौ० १५७ से वे मोह-वश जान पड़ती हैं।]

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना।
स्रवन रन्ध्र अहि भवन समाना ॥ १४८ ॥

जिन्होंने हरि की कथा कानों से नहीं सुनी है, उनके कानों के छिद्र साँप के घर (बिल) के समान हैं।

नयनन्हि सन्त दरस नहिं देखा।
लोचन मोर पंख सम लेखा ॥ १४९॥

जिन्होंने (अपनी) आखों से सन्तों का दर्शन नहीं किया है, उनकी आँखें मयूर के पंख (की आँखों) की तरह हैं।

ते सिर कटु तूमरि सम तूला।
जे न नमत हरि गुरु पद मूला ॥ १५०॥

वे सिर तितलौकी (कड़ुवी तुम्बी) के समान हैं, जो हरि और गुरु के चरण पर नहीं झुकते हैं।

जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी।
जीवत सव समान ते प्रानी ॥ १५१॥

जिन (लोगों) ने हरि-भक्ति को हृदय में नहीं लायी, वे प्राणी जीते-जी मृतक-तुल्य हैं।

जो नहिं करइ राम गुन गाना।
जीह सो दादुर जीह समाना ॥ १५२॥

जो जीभ राम का गुणगान नहीं करती है, वह बेंग की जीभ के समान (व्यर्थ) है।

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती।
सुनि हरि चरित न जो हरषाती ॥ १५३॥

वह छाती वज्र की तरह कठोर और निष्ठुर है, जो हरि-चरित सुनकर हर्षित नहीं होती है।

राम नाम गुन चरित सुहाये।
जनम करम अगनित स्त्रुति गाये ॥ १५४॥

राम के सुन्दर नाम, गुण, चरित्र, जन्म और कर्म वेद ने अनगिनत गाए हैं।

जथा अनन्त राम भगवाना।
तथा कथा कीरति गुन गाना ॥ १५५॥

जिस तरह भगवान राम अनन्त हैं, उसी तरह उनकी कथा, यश और गुण अनन्त हैं।

उमा प्रस्न तव सहज सुहाई।
सुखद संत सम्मत मोहि भाई ॥ १५६॥

हे पार्वती ! तुम्हारे प्रश्न जो सहज सुन्दर, सुख देनेवाले और सन्तों के अनुकूल हैं, मुझे अच्छे लगे।

एक बात नहिं मोहि सुहानी।
जदपि मोह बस कहेहु भवानी ॥ १५७॥

परन्तु एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी, यद्यपि तुमने मोह के वश होकर कही है।

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना।
जेहि स्त्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥ १५८॥

(वह यह कि) तुमने जो कहा कि राम कोई दूसरे हैं, जिनको वेद गाते और मुनि ध्यान धरते हैं ?

***दोहा*—कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।**
पाखंडी हरि पद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥ २५॥

जिनको अज्ञान-रूप भूत निगले हुए हैं, जो पाखंडी, हरि भक्ति-रहित, झूठ (माया) को जाननेवाले अर्थात् मायावादी और सत्य (ब्रह्म) को नहीं जाननेवाले अर्थात् नास्तिक हैं, वे ही अधम मनुष्य ऐसा कहते और सुनते हैं।

अज्ञ अकोबिद अन्ध अभागी।
काई बिषय मुकुर मन लागी ॥ १५९॥

जो अज्ञानी, मूर्ख, अन्धे (विचार-दृष्टि और योगाभ्यास-द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से हीन) और अभागे हैं और जिनके मनरूपी दर्पण में विषय-रूपी काई लगी हुई है।

[यदि केवल ज्ञान और विचार-हीन को अन्ध कहते, तो अज्ञ और अकोविद शब्दों के बाद फिर 'अन्ध' शब्द इस चौपाई में देने की आवश्यकता न थी। योगाभ्यास द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से हीन को ही विशेष कर व्यक्त करने के लिए 'अन्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है। दिव्य दृष्टि के सम्बन्ध में विशेष बातें चौपाई सं० ५ और ११८ में दी गई हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द; विषय कहे जाते हैं। जो मन इन विषयों के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता है, उसी मन-रूप दर्पण पर विषय की काई लगी हुई है। 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी', 'गुरु पद पदुम परागा' के सेवन से और रामचरितमानस के पवित्र जल से धोने से यह मल दूर होता है। चौ० सं० ४, ११६ और ११९ के अर्थों, उनके नीचे के कोष्ठों के वर्णनों को समझकर पढ़िये।]

लंपट कपटी कुटिल बिसेखी।
सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥१६०॥

जो व्यभिचारी, धोखेबाज और बड़े ही दुष्ट हैं तथा जिन्होंने स्वप्न में भी सन्तों की सभा नहीं देखी है।

कहहिं ते बेद असम्मत बानी।
जिन्हके सूझ लाभ नहिं हानी॥१६१॥

वे वेद विरुद्ध वचन कहते हैं, जिनको लाभ और हानि नहीं सूझते।

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिँ किमि दीना॥१६२॥

दर्पण तो मैला है और (देखनेवाला) आँखों से हीन है, (फिर) वह कंगाल राम का रूप कैसे देख सकता है ?

[चौ० सं० १५९ में मन को दर्पण और विषय को उस दर्पण पर की काई कहा गया है और अन्ध, बाहरी आँखों से हीन को नहीं, बल्कि दिव्य दृष्टि से हीन को कहा गया है। जो अपने मन-रूप दर्पण पर से विषय-ज्ञान-रूप मल को साधनों के द्वारा

धोकर साफ कर डालेगा और दिव्य दृष्टि प्राप्त करेगा, वही राम-रूप का दर्शन पावेगा। साधनों से हीन, विषय-मल-युक्त मैला मन-दर्पणवाला और दिव्य दृष्टि विहीन, केवल चर्म-दृष्टिवाला अन्धा मनुष्य राम-रूप का दर्शन कभी नहीं प्राप्त कर सकेगा। चौ० सं० १५९ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में देखिए। चौ० १४७ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में जो बालक-रूप राम का विचार किया गया है, उसको यह चौपाई (सं० १६२) अच्छी तरह पुष्ट करती है। मायिक नराकृति बालक रघुवर-रूप आवरण से आच्छादित आत्म-रूप राम का दर्शन, मन-रूप दर्पण पर के विषय-रूप मल को दूर करने और दिव्य दृष्टि प्राप्त करने पर होगा। यदि केवल मायिक रूप से काम चल जाता अर्थात् राम के निज स्वरूप (यथा–राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर.....निगम कह ....) का ज्ञान हो जाता तो चौ० सं० १६२ के लिखने का कुछ भी फल न होता; क्योंकि माया का रूप तो मन-मलिन और चर्म-दृष्टिवाले अन्धे को स्वाभाविक ही दरसता है। अतएव जिनको राम-रूप देखना हो, उन्हें चाहिये कि अपने मन पर से विषय-काई को दूर कर दिव्य दृष्टि प्राप्त करके अपने अन्धेपन को दूर करें। ऐसा किए बिना जिस रूप को राम-रूप कहकर (देखनेवाला) देखता है, वह केवल मायिक रूप को ही देखता है, यथार्थ राम-रूप को नहीं। यदि अज्ञानता से हठ करके कोई कहे कि नराकृति बालक रघुवर-रूप ही गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस के आधार पर यथार्थ राम-रूप है; पर उसे संसार या भ्रम या माया, स्वप्न की तरह मिटी हुई (नराकृति बालक रघुवर-रूप को देखने के बाद भी) नहीं दिखाई देती है, तो रामचरितमानस ही के अनुसार वह भ्रम में पड़ा हुआ असत्यवादी पुरुष है।]

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका।
जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥१६३॥

जिनको निर्गुण और सगुण का विचार नहीं है, वे बनावटी बहुत-सी बातों की गप्पें मारते हैं।

[चौ० सं० ११९ में कहा गया है कि निर्गुण-महिमा निर्विघ्न है। इस कारण निर्गुण का विवेकी बनावटी बातों की गप्पें नहीं मारेगा; क्योंकि उसको भ्रम कदापि न होगा और सगुण की

असलियत को यथार्थ रूप से जानेगा। उक्त चौ० के अर्थ के नीचे कोष्ठ में यह दरसा दिया गया है कि केवल सगुण में भ्रम उत्पन्न होगा।]

हरि माया बस जगत भ्रमाहीं।
तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥१६४॥

जो ईश्वर की माया के वश में होकर संसार में भ्रमते फिरते हैं, उनके लिए ऐसा कहना कुछ भी असम्भव नहीं है ।

बातुल भूत बिबस मतवारे।
ते नहिँ बोलहिँ बचन बिचारे ॥१६५॥

जो बाँत गये हैं अर्थात् जिनको सन्निपात हो गया है, जिनको भूत लगा है और जो पागल हैं, वे विचारकर वचन नहीं बोलते हैं।

जिन्ह कृत महा मोह मद पाना।
तिन्ह कर कहा करिय नहिँ काना ॥१६६॥

जिन्होंने महा अज्ञान-रूप मदिरा पी ली है, उनका कहा हुआ नहीं सुनना चाहिये।

सगुनहिँ अगुनहिँ नहिँ कछु भेदा।
गावहिँ मुनि पुरान बुध बेदा ॥१६७॥

सगुण और अगुण में कुछ भेद नहीं है। मुनि, पण्डित, पुराण और वेद ऐसा कहते हैं।

[कोई एक पदार्थ जो अकेले हो—संगहीन हो, जब वह किसी दूसरे का संग कर लेता है, तब वह उस पदार्थ के सहित कहा जाता है। परन्तु दूसरे पदार्थ के संग होने पर भी वह वही रहता है, जो वह पहले से है।

गुण का अर्थ है—स्वभाव। उत्पादक स्वभाव रजोगुण, पोषक स्वभाव सतोगुण और विनाशक स्वभाव तमोगुण; इन तीन गुणों से हीन को निर्गुण कहते हैं। यह असंग एक-ही-एक है; परन्तु वही जब कथित गुणों को साथ कर लेता है, तब सगुण कहलाता है। सगुण कहलाने पर भी तत्त्व-रूप में वह स्वरूपतः निर्गुण ही रहता है। तात्पर्य यह कि शरीर वा देह पर जब कुरता नहीं पहना रहता है, तब बिना कुरते का शरीर कहा जाता है। कुरता पहन लेने पर वह कुरता के सहित हो जाता है। कुरते के आवरण के कारण

शरीर, कुरता नहीं होता है और कुरता, शरीर नहीं होता। शरीर, शरीर ही और कुरता, कुरता ही रहता है। इसी तरह से निर्गुण, त्रयगुणी आवरण को धारण करके उसके अन्दर रहता हुआ निर्गुण ही रहता है और त्रयगुणी आवरण, निर्गुण नहीं होता है। परमात्म-स्वरूप राम ब्रह्म, सर्वव्यापी और अपार है।

राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ॥

यह राम ब्रह्म 'अविगत अलख अपार' है। 'अपार'='अनन्त' तत्त्व दो नहीं हो सकने के कारण उसको उपर्युक्त त्रयगुण सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं कर सकते। वह अनन्त तत्त्व अपने आंशिक भाव में ही सगुण कहलाता है। उन गुणों में आंशिक भाव से रहकर सगुण कहलाकर भी स्वरूपतः वह निर्गुण ही रहता है। वह सदैव निर्गुण ही रहता है—कहने का तात्पर्य है कि वह एक-ही-एक (निर्गुण तत्त्व) ऊपर वर्णनानुसार निर्गुण और सगुण; दोनों नामों से विदित है। अतएव 'सगुनहिँ अगुनाहिँ नहिँ कछु भेदा।' ठीक ही है।

त्रयगुण राम की निजी माया हैं—उनके स्वचरित हैं, उनके अधीन हैं। इस त्रयगुणमयी माया को रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर भ्रम और मिथ्या कहा गया है।

'रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सो, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥
ऐसेहि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
'व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखण्ड ॥
सो दासी रघुवीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि ॥'
'झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥'

सीपी में चाँदी, भानुकर में जल और रज्जु में सर्प का भान भ्रम से ही होता है। इन उपमाओं से गोसाईंजी ने माया को भ्रमवश

प्रतीत होनेवाली कहा है। और–

'प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥'

कहकर उन राम प्रभु को, प्रकृति–जो त्रयगुणमयी है, के पार कहकर केवल निर्गुण स्वरूप में भी रामचरितमानस में वर्णन किया है।

इससे यह नहीं कि निर्गुण राम कोई और तथा सगुण राम कोई दूसरे हैं, प्रत्युत प्रकृति-पार होते हुए भी वे प्रकृति में भी व्याप्त हैं। इसीलिए वे सगुण भी कहलाते हैं। प्रकृति पार और प्रकृति के अन्दर; दोनों तरहों से वे एक-ही-एक रहते हैं। चौ० सं० १७५ और १७७ उपर्युक्त भाव को विदित करती हैं।

निर्गुण स्वरूप उसका सहज, स्वाभाविक और अनिर्मित है, पर उसका सगुणरूप किसी कारण से निर्मित और अस्वाभाविक है। निर्गुण स्वरूप अव्यक्त, अगोचर, अवयव-रहित, निराकार, अपरिच्छिन्न, असीम, निर्माया, अविनाशी और सत्य है। सगुण रूप व्यक्त, गोचर, अवयव-सहित, साकार, परिच्छिन्न, ससीम, माया, नाशवान और असत्य है। निर्गुण स्वरूप भ्रममूलक नहीं है, न भ्रम के आधार से दरसता है और न भ्रम उत्पन्न करता है, पर सगुण रूप भ्रममूलक, भ्रम के आधार से दरसनेवाला और भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। निर्गुण स्वरूप का ज्ञान होने से सगुण रूप-माया की अयथार्थता प्रत्यक्ष हो जाती है और वह मिट जाती है.... इत्यादि-इत्यादि। निर्गुण एवं सगुण में तत्त्व-निर्भेदता के अतिरिक्त बहुत-से दूसरे भेद रामचरितमानस में ही वर्णित हैं। इन बातों की साक्षी के लिए चौ० सं० ११९, १४५ से १४७ तक तथा १६८, १६९, १७१ और १७७ के अर्थों और उनके नीचे के कोष्ठों के वर्णनों को पढ़िए।]

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥१६८॥

जो (परम पदार्थ–सर्वेश्वर) निर्गुण, निराकार, अदेख और अजन्मा है, वही भक्त के प्रेम के वश में होकर सगुण होता है।

[यह चौपाई निर्गुण स्वरूप से सगुण रूप होने का कारण

बतलाती है और यह भी बतलाती है कि जो पदार्थ निर्गुण है, वही सगुण होता है अर्थात् निर्भेदता केवल तत्त्व-रूप में है, गुण-रूप में नहीं। यदि कोई गुण-रूप में भी निर्भेदता माने, तो कहना होगा कि वह निर्गुण और सगुण शब्दों का अर्थ नहीं जानता है। इस चौपाई से यह भी साफ प्रकट होता है कि निर्गुण रूप राम का प्रथम, पुराना, सनातन और सहज स्वरूप है और उनका सगुण रूप नवीन, किसी कारण से प्रकट होनेवाला तथा असनातन है और सहज स्वरूप नहीं है।]

जो गुण रहित सगुण सोइ कैसे ।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।१६९।।

(प्रश्न) जो निर्गुण है, वह सगुण कैसे होता है? (उत्तर) जल, पाला और ओला (बनौरी) जैसे भिन्न नहीं है।

[जल से पाला और ओला बनता है। जल, पाला और ओला; तीनों ही तत्त्व-रूप में निर्भेद हैं, पर तत्त्व-रूप के अतिरिक्त और अनेक प्रकार से निर्भेद नहीं हैं; जल तरल, पाला वाष्पीय और ओला कठोर है। जल सींचने से खेती अच्छी होती है, पर पाले और ओले से खेती नष्ट हो जाती है इत्यादि। इसी तरह सगुण और निर्गुण में भेद और अभेद; दोनों हैं। इस चौपाई से भी उस वर्णन की पुष्टि होती है, जो चौ० सं० १६७ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में है। जैसे हिम और उपल, जल से व्याप्त जल के नवीन अपर रूप हैं, वैसे ही सगुण रूप निर्गुण से व्याप्त निर्गुण का नवीन अपर रूप है।]

राम सच्चिदानन्द दिनेसा ।
नहिं तहँ मोह-निसा लव-लेसा ।। १७०।।

राम सत्य-ज्ञानानन्द के सूर्य-रूप हैं, वहाँ (राम के इस रूप में) मोह-रूपी रात का लेश-मात्र भी नहीं है।

[सप्तम सोपान उत्तरकाण्ड में चौ० सं० ७२२ से ७२७ तक राम के केवल निर्गुण स्वरूप का वर्णन है और इसी (वर्णित रूप) को सूर्य कहा गया है, जिसके आगे मोह-अन्धकार नहीं जा सकता है। इस चौ० (सं० १७०) में वर्णित सच्चिदानन्द के सूर्य-रूप राम को यदि सगुण मान लें, तो उत्तरकाण्ड के उपर्युक्त

वर्णन (जो चौ० सं० ७२२ से ७२७ तक है) से यह विरुद्ध (वर्णन) होगा। और रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है कि राम के सगुण रूप को देखकर बहुतों को भ्रम उत्पन्न हुआ। उत्तरकाण्ड के इस दोहे–'निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥' में तो साफ ही कह दिया गया है कि सगुण भ्रमोत्पादक अर्थात् मोह-निशावाला है। इसलिए चौ० सं० १७० में राम के निर्गुणत्व का ही वर्णन जानना यथार्थ है।]

सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिँ तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना ॥ १७१॥

भगवान स्वभाव से ही प्रकाश-रूप हैं। उनमें समता देनेवाले ज्ञान-विज्ञान का कभी अन्त नहीं है। (तात्पर्य यह कि भगवान के वर्णित राम-रूप में समता देनेवाला ज्ञान सदा स्थित है अर्थात् भगवान के इस रूप का अनुभव प्राप्त करनेवाले परम भक्त को सर्वदा विज्ञान बना रहता है।)

[भगवान शब्द से षडैश्वर्य माया-धारी सगुण रूप ही व्यक्त होता है। अमित भुज वा मुखधारी विश्ववास वा विराटरूप भगवान, ब्रह्मा-रूप भगवान, सीतापति राम रूप भगवान और भगवती कहानेवाली सब देवी-रूप भगवतियाँ विचारपूर्वक सगुण माया-रूप-धारी वा धारिणी ही कही जाएँगी। केवल रघुवर राम ही को वा केवल विष्णु भगवान ही को भगवान नहीं कहते हैं। भगवान का वर्णन चौ० सं० ७८ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में देखिये। यद्यपि सगुण के सर्वोत्कृष्ट पद को भगवान कहते हैं, तथापि सगुण भगवानरूप को 'सहज प्रकाश-रूप' मान नहीं सकते; क्योंकि भगवान कहलानेवाला उपर्युक्त कोई भी रूप क्यों न हो, वह तो फिर सगुण ही होना चाहिये। फिर चौ० सं० १६७ से १६९ तक के अर्थों के नीचे कोष्ठों में सप्रमाण वर्णन कर दिया गया है कि सगुण बनावटी-मात्र है। हाँ, जिस तत्त्व से सगुण की बनावट हुई है, वह (तत्त्व) उपर्युक्त चौपाइयों (सं० १६७ से १६९ तक) के अनुसार 'सहज प्रकास रूप भगवाना' अवश्य ही मानने योग्य है; क्योंकि वह परम तत्त्व सगुण नहीं, निर्गुण है। निर्गुण रूप

बनावटी हो नहीं सकता। 'सहज प्रकाश रूप भगवाना' अर्थात् भगवान बिना बनावट के प्रकाश-रूप हैं, ऐसा कहकर और सगुणता का प्रकाशक 'भगवान' शब्द का प्रयोग करके भी बिना बनावट का वा 'सहज प्रकाश-रूप' भगवान का तात्पर्य समझ लेने पर बनावटी सगुण छूटकर, बिना बनावट का निर्गुण ही रह जाता है। और चौ० सं० १७४ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में वर्णित बाल-रूप राम और दशरथ-अजिर-विहारी राम को जिस रीति से निर्गुण जाना गया, उस रीति से भी भगवान-रूप को निर्गुण जान लेना अयोग्य नहीं। मूल परम तत्त्व निर्गुण से ही निर्मित भगवान के किसी भी सगुण रूप व्याप्य में वही निर्गुण तत्त्व व्यापक है (क्योंकि जल से ओले की भाँति निर्गुण से सगुण का बनना कहा गया है)। इस दृष्टि से व्यापक और व्याप्य; दोनों को एक ही परम तत्त्व निर्गुण जानकर ही भगवान को 'सहज प्रकास-रूप भगवाना' कवि ने कहा है। यदि बहुत कारीगरी से अति सुन्दर चित्रकारीयुक्त, परम सुगढ़-गढ़न का एक सर्वोत्कृष्ट जेवर सोने का बनाया गया हो और कोई कवि सोने के गुणों का (जेवर का नहीं) वर्णन करके, उस जेवर को भी उन्हीं (सोने के) गुणोंवाला वर्णन करे तो जानना चाहिये कि इस वर्णन में कवि जेवर का केवल सोना-रूप में वर्णन करता है, जेवर-रूप में नहीं। इसी तरह जबकि निर्गुण परम तत्त्व-रूप सोने से ही सगुण भगवान-रूप अत्यन्त सुन्दर जेवर रामचरितमानस के अनुसार बना है (देखिये, चौ० सं० १६७ से १६९ तक) और 'सहज प्रकाश-रूप' और 'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना' कहकर केवल निर्गुण रूप के ही सहज गुण का कवि वर्णन करते हैं, न कि सगुण रूप के गुणों का, तो मानना चाहिये कि कवि सगुणता-प्रकाशक भगवान नाम कहकर भी भगवान के निर्गुण स्वरूप का ही वर्णन करते हैं। और यह भी कहा है कि 'बिनु विज्ञान कि समता आवै', इसलिए जहाँ विज्ञान मिटा नहीं अर्थात् समता बनी रही, वह तत्त्व-रूपी स्थान सगुण नहीं, निर्गुण ही है। इस कोष्ठ के भीतर के सब वर्णनों का सारांश यह है कि चौ० सं० १७१ से सगुण रूप का नहीं, केवल निर्गुण रूप का ही बखान है।]

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धरम अहमिति अभिमाना॥१७२॥

हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, अहंकार और अभिमान; ये सब जीव के धर्म (स्वभाव) हैं।

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।
परमानन्द परेस पुराना॥१७३॥

सारा संसार जानता है कि परमानंद-स्वरूप सर्वेश्वर सनातन और व्यापक ब्रह्म (ही) राम हैं।

[चौ० सं० १७२ में वर्णित धर्म सगुण रूप से प्रत्यक्ष ही व्यक्त होता है, इसी से सगुण रूप को भ्रमोत्पादक कहा गया है। और चौ० १७३ में 'व्यापक ब्रह्म परेस पुराना' आदि शब्दों से केवल निर्गुण रूप का वर्णन कर सकते हैं; क्योंकि सगुण रूप में ओत-प्रोत और उसके बाहर प्रति ओर व्यापक निर्गुण रूप से विशेष व्यापक सगुण रूप हो नहीं सकता। सगुण रूप के परे, उससे विशेष प्राचीन और उसका उत्पादक निर्गुण रूप से 'परेस' और 'पुरातन' अर्थात् सनातन निःसंशय रूप से कहा जा सकेगा। इसलिए इन दो संख्याओं की चौपाइयों में भी राम के निर्गुण रूप ही को व्यक्त किया गया है।]

***दोहा*—पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ।**
रघुकुल मनि मम स्वामी सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥२६॥

जो (राम) प्रसिद्ध पुरुष, ज्योति का भंडार और प्रत्यक्ष (गोचर व्यक्त सगुण) ब्रह्मादि से लेकर सभी के स्वामी हैं; वही रघुकुल के मनि (दाशरथि राम) मेरे स्वामी हैं, ऐसा कहकर शिवजी ने प्रणाम किया।

[उत्तरकाण्ड में 'सगुण जान नहिं कोइ' कहा गया है। इसलिए रामचरितमानस के अनुसार सगुण रूप राम को 'प्रसिद्ध पुरुष' कहना ठीक नहीं है। रामचरितमानस के अनुसार निर्गुण पुरुष को ही प्रसिद्ध पुरुष कहना चाहिए। विराट आदि किसी भी सगुण भगवान-रूप को, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि को तथा आज्ञा-चक्र, सहस्त्र दल-कमल या सहस्त्रार और त्रिकुटी-स्थित ब्रह्म ज्योतियों के पृथक-पृथक अद्भुत रूपों को 'प्रकाश-निधि' नहीं कह सकते हैं; क्योंकि इनको पाकर भी आत्मरूप परम-प्रभु

का निर्गुण स्वरूप प्रकाशित नहीं हो सकता। परन्तु निर्गुण स्वरूप का अनुभव-ज्ञान प्राप्त होने पर कुछ भी दरसने को शेष नहीं बच जाता। इसलिए निर्गुण स्वरूप को 'प्रकाश-निधि' भी कहेंगे। इस विचार की पुष्टि आगे की कई चौपाइयों से होती है। इस दोहे (सं० २६) से यह प्रकट है कि यद्यपि शिवजी ने 'रघुकुल-मनि' भी कहा, तथपि वे 'रघुकुल-मनि' रूप को सगुण दरसनेवाली दृष्टि से नहीं देखते हैं, बल्कि निर्गुण दरसनेवाली आत्म-दृष्टि से ही देखते हैं। जैसे कि जेवर को केवल धातु-रूप में देखना असम्भव नहीं है, उसी तरह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने पर भी सगुण को निर्गुण रूप में देखना असम्भव नहीं है। परन्तु ऐसी उत्तम दृष्टि विशेष सत्संग और योगाभ्यास-द्वारा आत्म-दृष्टि प्राप्त किए बिना कभी किसी को नहीं प्राप्त हो सकती। शिवजी महान सत्संगी और योगी हैं। इसलिए इनको सगुण जेवर, निर्गुण धातु-रूप ही दरसे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सच्चे जिज्ञासु रामचरितमानस को इसी विचार से समझेंगे, तो रामचरितमानस के सार का पता पाएँगे। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १५, श्लोक १६-१७ में पुरुष का वर्णन इस प्रकार है–

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटोस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
ये लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥'

अर्थ–(इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं। सब (नाशवान) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रकृति-* रूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं ॥१६॥ परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न हैं। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रवष्टि होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है ॥ १७॥ (लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के 'गीता-रहस्य' से उद्धृत) तथा कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली ३ में इस प्रकार वर्णन किया गया है–

* परा प्रकृति। क्षर पुरुष=अष्टधाा प्रकृति=अपरा प्रकृति।

'अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥'

अर्थ–अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिंग है, जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ८॥ तथा मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक २, खण्ड १ में कहा है–

'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २॥'

अर्थ–(वह अक्षर ब्रह्म) निश्चय ही दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं कार्य-वर्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत* प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥ २॥

निज भ्रम नहिँ समुझहिँ अज्ञानी ।
प्रभु पर मोह धरहिँ जड़ प्रानी ॥ १७४॥

अज्ञानी अपने भ्रम को तो समझते नहीं, पर (वे) जड़ जीव अपने मोह को प्रभु पर धरते हैं।

जथा गगन घन पटल निहारी ।
झाँपेउ भान कहहिँ कुबिचारी ॥ १७५॥

जैसे आकाश में मेघ के परदे को देखकर कुविचारी कहते हैं कि इसने (घन-पटल ने) सूर्य को ढाँक लिया है।

[पृथ्वी से सूर्य पन्द्रह लाख गुणा बड़ा और नौ करोड़ तीस लाख मील ऊपर में है। बहुत-से तारे-पुंज और चन्द्रमा, सूर्य के नीचे हैं, बादल ताराओं और चन्द्रमा से भी नीचे रहता है। भू-मण्डल के सब भागों में एक ही ऋतु एक ही समय नहीं रहने के कारण, समस्त भू-मण्डल के निवासी एक ही समय अपने ऊपर मेघाच्छन्न आकाश नहीं देखते हैं। जिस समय भूमण्डल के किसी भाग पर से सूर्य साफ नजर आता है, उसी समय किसी भाग पर से बादल से ढँका हुआ-सा रहकर वह नजर नहीं आता है। इन्हीं कारणों से मेघ-मण्डल, जो सूर्य-मण्डल से सदैव बहुत छोटा है, सूर्य मण्डल का पूर्ण ढाँकनेवाला नहीं हो सकता है। इसलिए

* विकारहीन अव्यक्त = परा प्रकृति।

कहना पड़ेगा कि भू-मण्डल पर से समस्त मेघ-मण्डलों का यदि एक ही मण्डल बनाकर उसको सूर्य की ओर सीधे ऊपर की तरफ उठाते हुए सूर्य से बराबरी करने के लिए पहुँचाया जाय, तो वह (समस्त मेघ-मण्डल) जैसे-जैसे ऊपर चढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे भूमण्डल पर रहनेवालों को छोटा नजर आता जाएगा (क्योंकि दूर की वस्तु स्वभाव से ही छोटी मालूम होती है) और सूर्यांश प्रत्यक्ष होता जाएगा। वह सूर्य तक पहुँचने भी न पावेगा कि सम्पूर्ण सूर्य मण्डल बिना परदे का प्रत्यक्ष मालूम होने लगेगा और वह मेघ-मण्डल (सूर्य-ताप के कारण नहीं, केवल दूरी ही के कारण मान लीजिए) एक छोटा चिह्न-मात्र मालूम होकर, फिर न मालूम होने लगे, तो कुछ आश्चर्य नहीं। फिर सूर्य-ताप तो समस्त मेघ-मण्डल को नाश ही कर देगा, इसमें संशय ही क्या ? इसलिए मेघ-मण्डल से समस्त सूर्य-मण्डल कभी भी छिप नहीं सकता। इन बातों के नहीं जाननेवालों को बादल से सूर्य के ढंक जाने का जैसे भ्रम होता है, वैसे ही अगुण और सगुण के विवेक से रहित अज्ञानी मनुष्य को सगुण रूप बादल से निर्गुण रूप सूर्य के ढँक जाने का भ्रम होता है। चौ० सं० १७४ में उपर्युक्त भ्रम को लक्ष्य करके कहा है कि अज्ञानी मनुष्य यह तो नहीं समझता है कि उपर्युक्त भ्रम मेरी बुद्धि पर छाया हुआ है, बल्कि वह जड़ प्राणी प्रभु पर ही मोह धरता है कि निर्गुण प्रभु-रूप सूर्य पर सगुण-बादल पूर्ण रूप से चढ़ा हुआ होकर वह (निर्गुण रूप सूर्य) सम्पूर्णतः सगुण रूप से ढंक गया है वा वह सम्पूर्ण का सम्पूर्ण सगुणाकार ही हो गया है। ऐसा विचार कुविचारी ही को होता है। विचारने पर निम्नोक्त विचार भी चौ० सं० १७५ में झलकता है। प्रभु का सहज निर्गुण स्वरूप अपरिमित है। वह बड़े-से-बड़े सगुण रूप से आवृत्त हो नहीं सकता है। निर्गुण स्वरूप परम विशाल, अनगिनत ब्रह्माण्डमय परम विराट सगुण रूप से आच्छादित होने पर भी इसके (सगुण विराट के) प्रति ओर बिना ढँके कितना अधिक बच जाता है, उसका अनुमान कोई नहीं कर सकता है। वर्णन हो चुका है कि बादल का रूप सूर्य के निकट होते-होते सूर्य-ताप और दर्शकों से दूर होते

जाने के कारण घटते-घटते सम्पूर्णतः लुप्त हो जाएगा। इसी तरह अगुण-सगुण के विवेक से सगुण की निःसारता, असत्यता, भ्रम-रूपता और स्वप्न-सदृशता (ये सभी शब्द चौ० सं० १४५, १४६ और दोहा २७ के अनुसार माया अथवा सगुण के लिए प्रयुक्त किये गये हैं) जैसे-जैसे समझ में आती जाएँगी और निर्गुण रूप का परम ज्ञान ताप जैसे-जैसे विशेष मिलता जाएगा, वैसे-वैसे सगुण-ज्ञान दूर और तुच्छ होते जाकर बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। तब सगुण रूप को सामने देखने पर भी वह निर्गुण ही जानेगा। जैसे कि द्वितीय सोपान-अयोध्याकाण्ड में वर्णन है कि वाल्मीकि मुनि ने अपने सामने वर्त्तमान नर-रूपधारी भगवान राम से कहा–'राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥' इत्यादि।]

चितब जो लोचन अंगुलि लाये ।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये ॥ १७६॥

जो कोई आँख में अंगुल लगाकर देखता है, तो उसके जानते दो चन्द्रमा प्रत्यक्ष मालूम होते हैं।

[सहज निर्गुण प्रभु-रूपी चन्द्र एक ही है। जो आदमी भ्रम का अंगुल अपने ज्ञान-चक्षु पर लगाकर देखता है, उसको सगुण प्रभु-रूपी एक और (दूसरा) चन्द्रमा दरसता है। जिस प्रकार आँखों पर से अंगुल हटा लेने से एक-का-एक ही चन्द्रमा दरसने लगता है और दूसरा (भ्रम का चन्द्रमा) मिट जाता है, उसी प्रकार भ्रम का अंगुल ज्ञान-चक्षु पर से हट जाने से सहज स्वरूपी निर्गुण रूप सत्य प्रभु-चन्द्र केवल एक ही रह जाता है और सगुण अथवा भ्रम-रूप दूसरा असत्य प्रभु-चन्द्र विलीन हो जाता है।]

उमा राम बिषयक अस मोहा ।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥ १७७॥

हे पार्वती ! राम के सम्बन्ध में मोह ऐसा है, जैसा कि आकाश में अन्धकार, धुआँ और धूलि होती है।

[आकाश में अन्धकार के छाये रहने से आकाश अन्धकारमय या अन्धकार का रूप, धुआँ छाया रहने से धुआँमय

वा धुआँ-रूप और धूल छायी रहने से धूलमय वा धूल-रूप दरसता है। पर यथार्थ में आकाश अन्धकार, धूम और धूलि से निर्लेप ही रहता है। प्रत्यक्ष निर्मल आकाश का जाननेवाला आकाश में अन्धकार, धूम और धूलि को देखकर भी उसे (आकाश को) इनसे लिप्त वा इनके रूप का कदापि नहीं जानेगा; परन्तु जिसने निर्मल आकाश को कभी नहीं देखा है, वह तो अन्धकार, धूम और धूलि छायी रहने के कारण आकाश को उनसे लिप्त और उनका रूप ही विश्वास-सहित मानता रहेगा। अच्छी युक्तियों से समझाने पर भी वह आकाश के निर्मल रूप को जल्द न समझ सकेगा। आकाश में यदि पूर्ण अन्धकार छाया हुआ होता है, तो आकाश का निज निर्मल रूप कुछ नहीं सूझता है। यदि उसमें धुआँ छाया रहे, तो वह कुछ-कुछ सूझता है और यदि धूल छाई रहे तो वह उससे कुछ विशेष सूझता है। पर जबतक कोई अन्धकार, धुएँ और धूल; तीनों के भीतर से चलते हुए तीनों की सीमाओं को पार न कर लेगा, तबतक आकाश का निर्मल निज रूप उससे कदापि नहीं सूझ सकता है। निर्मल आकाश-रूप निर्गुण राम में अन्धकार-रूप नराकृति सगुण (माया) छाया रहने से (वह निर्मल आकाश-रूप निर्गुण राम) नराकृति–अन्धकारमय नर-रूप दरसता है। धूम-रूप देवाकृति सगुण (माया) छाया रहने से देवाकृति–धूममय देवरूप और धूल-रूप विराटाकृति सगुण (माया) छाया रहने से विराटाकृति–धूलमय विराटरूप वा विश्ववास भगवान-रूप दरसता है। पर यथार्थ में निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश नराकृति, देवाकृति और विराटाकृति-रूप अंधकार, धूएँ और धूल से सर्वदा निर्लेप ही रहता है। निर्गुण-राम रूप निर्मल आकाश का प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान रखनेवाला पुरुष उसमें (निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश में) नराकृति, देवाकृति और विराटाकृति रूप अन्धकार, धूम और धूल को देखकर भी उसे इनसे लिप्त वा इनके रूप का कदापि नहीं जानेगा, परन्तु जिसने निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश का (प्रत्यक्ष) अनुभव ज्ञान कभी नहीं प्राप्त किया है, वह तो उसमें (निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश में)

नराकृति-रूप अन्धकार, देवाकृति-रूप धूम और विराटाकृति-रूप धूल छाए रहने के कारण उसको (निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश को) उनसे लिप्त और उनका रूप ही विश्वास-सहित मानता रहेगा। अच्छी युक्तियों से समझाने पर भी वह उसे जल्द न समझ सकेगा। निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश में यदि नराकृति-रूप अन्धकार छाया हुआ होता है, तो उसको निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश के रूप का कुछ भी अनुभव ज्ञान नहीं होता है। यदि उसमें देवाकृति-रूप धूम छाया रहता, तो अनुभव ज्ञान की तरफ बढ़ानेवाला ज्ञान कुछ-कुछ होता है और यदि उसमें विराटाकृति-रूप धूल छायी हुई होती है, तो अनुभव ज्ञान की तरफ बढ़ानेवाला ज्ञान कुछ विशेष होता है। पर जबतक उस निर्गुण राम-रूप आकाश में से नराकृति माया-रूप अन्धकार, देवाकृति माया-रूप धूम और विराटाकृति माया-रूप धूल; तीनों माया-रूपों से गुजरते हुए तीनों की सीमाओं को पार न कर लिया जाय (और इसके आगे जब साम्यावस्थाधारिणी अव्यक्त प्रकृति को भी पार न कर लिया जाय), तबतक निर्गुण राम-रूप निर्मल आकाश के स्वरूप का अनुभव ज्ञान कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है।]

बिषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता॥ १७८॥

ज्ञान-इन्द्रियाँ, उनके (इन्द्रियों के) देवता और जीव; सम्मिलित रूप से सभी एक-से-एक सचेत हैं।

[इन्द्रियाँ उनके (इन्द्रियों के) देवता से और इन्द्रियों के देवता जीव से सचेत हैं (जीव के कारण सचेत हैं)।]

सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥ १७९॥

जो सबके परम प्रकाशक हैं, वही अनादि राम अवध-पति हैं।

[परम प्रकाशक—सर्वोत्तम प्रकाशक—आत्म-अनुभव-विकाशक—जिसके द्वारा कुछ भी देखने को बच न जाए । अनादि राम—राम का निर्गुण सनातन सहज रूप। राम के सगुण रूप को अनादि राम वा राम का निर्गुण सनातन रूप कहना 'रामचरितमानस'

के विरुद्ध है। (चौ० सं० १६८ देखिए)। नराकृति–सगुण हुए बिना अवध-पति वा अयोध्या का राजा कहा नहीं जा सकता है। उत्तरकाण्ड में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ॥' और भी–'जथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ । सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥' इसलिए अवधपति-रूप को, राम का अनादि रूप नहीं कहा जा सकेगा। इस चौ० का तात्पर्य यह है कि संसार-रूप नाट्यशाला में 'सब कर परम प्रकाशक' अनादि (निर्गुण स्वरूप) राम-रूप नट ने आवश्यकता-वश समयानुसार नाट्यकला दिखाने के लिए अवधपति का रूप धारण किया था। अयोध्या के राजा-रूप को ही 'सब कर परम प्रकाशक' और 'अनादि' मान लेना मूर्खता है। हाँ, इस रूप में व्यापक राम के निर्गुण सहज स्वरूप को ऐसा ('सब कर परम प्रकाशक' और 'अनादि') कहकर मानना निर्भ्रान्त और परमोचित है।]

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ज्ञान-गुन धामू ॥ १८०॥

संसार प्रकट होने योग्य और ज्ञान तथा गुण के भण्डार मायापति राम प्रकाश करनेवाले हैं।

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥ १८१॥

जिनकी सत्यता से अचेतन (जड़) माया, मोह की सहायता पाकर सत्य-सी मालूम होती हैं।

***दोहा*–रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि ॥**
जदपि मृषा तिहुँ काल सो, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥ २७॥

जैसे सीपी में चाँदी और सूर्य की किरण में जल का आभास होता है। यद्यपि ऐसा होना तीनों काल में झूठ है, तथापि इस भ्रम को कोई नहीं टाल सकता है।

यहि बिधि जग हरि आस्रित रहई ।
जदपि असत्य देत दुख अहई ॥ १८२॥

इसी तरह से संसार हरि के सहारे रहता है । यद्यपि यह (जगत) असत्य है, (तोभी) दुःख होता है।

जौं सपने सिर काटइ कोई।
बिनु जागे न दूरि दुख होई॥१८३॥

(प्रश्न है कि संसार असत्य है, तो उसका दिया दुःख सत्य कैसे हो सकता है ? उसी का उत्तर दिया जाता है) जैसे कोई सपने में सिर काटे, तो यह दुःख (सिर काटने का दुःख) बिना जागे दूर नहीं हो सकता है। (उसी तरह संसार से जागे बिना संसार का व्यवहार सत्य प्रतीत होता है।)

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।
गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥१८४॥

हे गिरिजा ! जिनकी कृपा से भ्रम इस तरह दूर हो जाता है (जिस तरह स्वप्न में सिर काटने का दुःख जागने पर दूर हो जाता है), वही कृपालु राम हैं।

[चौ० सं० १८०, १८२, १८३ और १८४ तथा दो० सं० २७ से निम्न-कथित सिद्धान्त प्रकट होते हैं-(१) माया अचेतन और असत्य है। (२) जैसे सीपी और सूर्य-किरण की सत्यता के आधार पर तथा मोह (भ्रम) की सहायता पाकर सीपी में चाँदी और सूर्य-किरण में जल मालूम पड़ता है, वैसे ही राम के अनादि, सहज और निर्गुण रूप की सत्यता के आधार पर मोह (भ्रम) की सहायता पाकर माया भासती (मालूम पड़ती) है। (३) माया कोई स्वतन्त्र मूल द्रव्य (तत्त्व) नहीं है। (४) यद्यपि माया असत्य और भ्रम मात्र है, तोभी अज्ञानावस्था में दुःख देती है। (५) जैसे स्वप्न का दुःख जग जाने से मिटता है, वैसे ही राम की कृपा से अज्ञानावस्था-रूप नींद से जागने पर अर्थात् भ्रम के नष्ट होने पर माया मिट जाती है। चौ० सं० १८४ में रघुराई शब्द से नराकृति–सगुण रूप जानने में आता है। नराकृति सगुण और स्थूल माया है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार जबकि माया-संसार असत्य और भ्रम-मात्र ही है, तो नराकृति स्थूल-सगुण माया की सत्यता मानना परम मूर्खता है। और जबकि इसकी सत्यता मानी नहीं जा सकती, तो इसकी सत्यता के आधार पर मोह की सहायता पाकर कुछ भासता है, ऐसा विश्वास करना पूर्ण निरर्थक है। इसलिए मानने योग्य है कि नराकृति–स्थूल सगुण माया रघुराई-रूप में व्यापक सहज निर्गुण

रूप अनादि, सनातन और सत्य-रूप राम को ही लक्ष्य करके उपर्युक्त चौपाई और दोहे में वर्णित गुण-गान किया गया है।]

आदि अन्त कोउ जासु न पावा।
मति अनुमान निगम अस गावा ॥१८५॥

जिनके आदि-अन्त को किसी ने नहीं पाया और जिनके सम्बन्ध में बुद्धि के अनुमान से (अनुभव से नहीं) वेद ने ऐसा गाया है।

[बुद्धि के अनुमान-ज्ञान और अनुभव-ज्ञान में बड़ा अन्तर है। चौ० सं० ११८ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में इसका भेद खोल दिया गया है।]

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥१८६॥

(वह) बिना पैर के चलता है, बिना कान के सुनता है और बिना हाथ के बहुत प्रकार के कामों को करता है।

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥१८७॥

बिना मुख के सब स्वादों को भोगता है और बिना वाणी के बड़ा योग्य वक्ता है।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥१८८॥

बिना शरीर के स्पर्श करता है, बिना आँख के देखता है। और बिना नाक के अपार गन्ध ग्रहण करता है।

असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिँ बरनी ॥१८९॥

ऐसे सब तरह से जिनके आश्चर्यमय कार्य हैं, जिनकी महिमा वर्णित नहीं की जा सकती है।

***दोहा*–जेहि इमि गावहिँ बेद बुध, जाहि धरहिँ मुनि ध्यान।**
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ॥ २८॥

वेद और पण्डित जन जिनका इस तरह वर्णन करते हैं और जिनका ध्यान मुनि लोग करते हैं, भक्तों के हेतु वही भगवान अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र हुए।

[उपर्युक्त चारो चौपाइयों और इस दोहे (सं०२८) से भी यही बात प्रकट होती है कि राम का सनातन सहज रूप निराकार ही है, कारणवश वही साकार होता है। और 'रामचरितमानस' से यह बात सिद्ध है कि उसकी साकारता केवल माया-मात्र है। इसलिए यह नहीं भूलना चाहिए कि राम का सगुण वा माया-रूप असनातन, नवीन, असत्य और निर्गुण की सत्यता पर भ्रम की सहायता से असत्य होने पर भी सत्य-सा प्रतीत होता है।]

पार्वती शिवजी की कही ऊपर लिखी बातों को सुनकर बोली कि–हे स्वामी ! आपके भ्रम-नाशक अमृत-वचन सुनकर मेरा भ्रम दूर हो गया। अब आप कृपा करके वह बात कहिये, जो मैं पहले पूछ चुकी हूँ कि–

राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।
सर्व-रहित सब उर पुर वासी ॥१९०॥

जो राम सर्वव्यापक, चैतन्यमय, अविनाशी, सबसे अलग और सब के हृदय-रूप नगर में निवास करनेवाले हैं,

नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू।
मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू ॥१९१॥

हे नाथ ! उन्होंने किस कारण से मनुष्य का शरीर धारण किया ? हे वृषकेतु ! वह मुझे समझाकर कहिए।

श्रीशिवजी महाराज पार्वतीजी का यह प्रश्न सुनकर अत्यन्त आनन्दित होकर बोले कि हे पार्वती! मैं तुमको कागभुशुण्डि और गरुड़ का संवाद सुनाता हूँ। ऐसा कहकर शिवजी कहने लगे–

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥१९२॥

हरि का अवतार जिस हेतु से होता है; उसके बारे में कहना कि इसी हेतु से हुआ है, नहीं कहा जा सकता है।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।
मत हमार अस सुनहिँ सयानी ॥१९३॥

हे सयानी ! (पार्वतीजी !) सुनो, मेरा मत है कि राम बुद्धि, मन और वचन से तर्क वा विचार के योग्य नहीं हैं।

जब-जब राक्षसों की बढ़ती होती है और उनके द्वारा धर्म की हानि होती है, तब-तब हरि विविध शरीर धरकर, उनको मारकर, देवताओं को स्थापित करके वेद-मार्ग की रक्षा करते हैं तथा सज्जनों के दुःख दूर करते हैं; राम अवतार का अभिप्राय यही है। राम-जन्म के अनेक कारण हैं; उनमें से एक दो का वर्णन मैं करता हूँ–

१-हरि (विष्णु भगवान) के जय और विजय नाम के दो द्वारपाल थे। ब्राह्मण के शाप से दोनों ने दैत्य का शरीर पाया। एक का नाम हिरण्याक्ष हुआ और दूसरे का हिरण्यकश्यप। जब इन दोनों ने इन्द्रादि देवताओं को जीतकर उनका राज्य ले लिया; तो विष्णु भगवान ने वराह-रूप धरकर एक (हिरण्याक्ष) का और नृसिंह-रूप धरकर दूसरे (हिरण्यकश्यप) का नाश किया; क्योंकि तीन जन्मों के लिए ब्राह्मण का शाप था। इसलिए विष्णु भगवान से मारे जाने पर भी वे शाप से न छूटे। इस कारण वे फिर रावण और कुम्भकर्ण नाम के महाबलवान विख्यात राक्षस हुए। विष्णु भगवान ने फिर राम का अवतार लेकर उनको मारा। कश्यप और अदिति, दोनों दशरथ और कौशल्या होकर जन्मे और भगवान ने इनके घर में अवतार (जन्म) लिया और 'राम-नाम' से विख्यात होकर रावण और कुम्भकर्ण को मारा। एक कल्प में इस तरह अवतार हुआ।

२-दूसरे कल्प के अवतार की कथा इस तरह है कि जलन्धर नाम का एक बड़ा बली राक्षस था। सब देवता उससे हार गये। शम्भु भगवान ने भी उससे बहुत समय तक अत्यन्त भयंकर युद्ध किया, पर वह न मरा। उसकी स्त्री परम सती थी। अपनी स्त्री के सतीत्व-बल से वह राक्षस नहीं मारा जा सकता था। इसलिए विष्णु भगवान ने छल करके (जलन्धर का रूप धरकर) उसकी स्त्री का सतीत्व बिगाड़ दिया, तब वह मारा जा सका। जब उसकी स्त्री विष्णु के इस छल को जान गयी, तब उसने बड़ा क्रोध करके उनको (विष्णु को) शाप दिया। उसके शाप को विष्णु भगवान ने स्वीकार कर लिया। जलन्धर मरकर रावण हुआ और विष्णु

भगवान उस शाप के कारण अवतार लेकर राम कहलाये और इन्हीं के हाथों से रावण का वध हुआ।

३-तीसरे कल्प में अवतार लेने का कारण यह हुआ कि एक समय नारदजी को समाधि में देखकर इन्द्र के मन में डर हुआ कि कदाचित् नारदजी तप के बल से मेरा राज्य न ले लें।

***दोहा*–सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज ।**
छीनि लेइ जिमि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिँ न लाज ॥ २१॥

जैसे शठ कुत्ता सिंह को देखकर सूखी हड्डी लेकर भाग जाता है कि कहीं छीन न ले, उसी तरह इन्द्र को लाज न हुई। (इन्द्र को लाज-हीन इसलिए कहा गया कि उसके मन में डर हुआ कि नारद कहीं तप-बल से उसके राज्य को, जो नारद के लिए सूखे हाड़ के तुल्य है, न ले लें।) इसलिए नारदजी की समाधि, भंग करने के लिए उन्होंने कामदेव को ससैन्य भेजा। कामदेव की एक भी कला नारदजी के आगे न चली। नारदजी का तप भंग न हुआ, पर इस जीत से नारदजी को गर्व हो गया। नारदजी ने यह गर्व-भरी कथा विष्णु भगवान तक को क्षीर-समुद्र में जाकर सुनाई। विष्णु भगवान ने नारदजी का गर्व-नाश करके उनके हित के लिए उपाय किया कि नारद जब विष्णुजी के पास से चले, तो उनको एक नगर दीख पड़ा। वहाँ की राज्य-कन्या का स्वयंवर होनेवाला था। उन्होंने देखा कि स्वयंवर का समय थोड़ा ही शेष है, इसलिए विष्णु भगवान की स्तुति करने लगे। भगवान विष्णु प्रसन्न होकर नारद के पास आये और बोले कि क्या चाहते हैं? उन्होंने सब समाचार सुनाकर कहा कि मुझे अपना-सा सुन्दर रूप दीजिए, जिससे विश्व-मोहिनी मुझे वर ले। विष्णुजी ने कहा कि जिससे आपका भला होगा; मैं वही करूँगा। ऐसा कहकर शरीर तो सुन्दर कर दिया, पर मुख बन्दर का-सा बना दिया। विष्णुजी अपने लोक को गए और नारद स्वयंवर में पहुँचे। स्वयंवर में राज-कन्या ने राजा के वेश में बैठे हुए विष्णु भगवान के गले में जय-माला डाल दी। असफल होने के कारण नारदजी विकल थे। उनकी विकलता को देखकर ब्राह्मण-वेश में वहाँ बैठे हुए शिवजी के दो गण हँस

पड़े। उन्होंने नारद को अपना मुख दर्पण में देखने को कहा। नारदजी अपना मुख जल में देखकर बड़े दुःखी हुए। जब स्वयंवर हो चुका, सब लोग अपने घर को जा रहे थे, रास्ते में नारदजी ने देखा कि विष्णुजी के साथ लक्ष्मी और विश्वमोहिनी, दोनों हैं। तब तो वे विष्णुजी पर क्रोधपूर्वक बहुत-से दुर्वचन बोले और शाप दिया कि तुमने मनुष्य-शरीर धरकर मुझे ठगा है, इसलिए तुम मनुष्य-शरीर धारण करो, स्त्री के विरह में दुःखी होओ और तुम्हें बन्दर की सहायता लेनी पड़े। शिवजी के गणों को शाप दिया कि तुम दोनों राक्षस होओ। उन दोनों के प्रार्थना करने पर नारदजी ने कहा कि तुम दोनों बड़े बली होओगे और विष्णु भगवान अवतार लेकर तुम्हें मारकर सद्गति देंगे। विष्णु भगवान ने नारदजी का शाप अंगीकार करके दशरथजी के घर अवतार लिया और राम कहाए। शिव-गण राक्षस-योनि में जन्मे और रावण-कुम्भकर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुए। सीताजी को चुरा लेने से रामजी ने उन्हें युद्ध में मार डाला।

[पार्वतीजी का प्रश्न यह नहीं है कि सगुण-रूपी विष्णु भगवान के अवतारों के कारणों को कहिए। पर प्रश्न यह है कि–

'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।
सर्व-रहित सब उर पुर बासी॥ १९०॥
नाथ धरेउ नर तन केहि हेतू।
मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥ १९१॥'

(इनका अर्थ चौ० सं० १९०, १९१ के साथ यथास्थान में पूर्व हो चुका है) और इसी सोपान में इससे कुछ आगे बढ़ने पर मनु और शतरूपा की कथा में इनके तप-काल की अभिलाषा के प्रसंग में लिखा है कि–चौ०–'उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिए नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखण्ड अनंत अनादि। जेहि चिन्तहि परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥ सम्भु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥' पार्वतीजी जिन चिन्मय, अविनाशी (ब्रह्म) के अवतार का कारण पूछती हैं, और 'चिदानन्द निरुपाधि अनूपा।' जिनका दर्शन स्वायम्भुव मनुजी चाहते हैं; दोनों एक ही हैं, इसमें संशय नहीं।

और स्वायम्भुव मनु की कथा में यह भी कहा गया है कि चिन्मय अविनाशी ब्रह्म अर्थात् 'चिदानन्द निरुपाधि अनूप ब्रह्म' से ही बहुत-से शम्भु, विरंचि और विष्णु भगवान उत्पन्न होते हैं। इसलिए चिन्मय (चिदानन्द), अविनाशी, अगुण, अखंड, अनन्त, अनादि ब्रह्म को (कि जिसके अंश से बहुत-से विष्णु उपजते हैं) और विष्णु भगवान को (निर्गुण और सगुण तथा अंशी और अंश के कारण) एक मानना रामचरितमानस के ही विरुद्ध होगा। मनु और शतरूपा ने भी चिन्मय, अगुण, अखण्ड और अनादि, ब्रह्म को ब्रह्मा, विष्णु और महेश का अंशी जाना था। इन तीनों देवेश्वरों को उन निर्गुण ब्रह्म के तुल्य नहीं माना था तथा इसी हेतु से उनसे वरदान नहीं लेकर तप करना नहीं छोड़ा और अंत में जिस रूप का दर्शन पाकर उन्होंने तप करना छोड़ा, उस रूप को भी 'चिन्मय' नहीं कह सकेंगे; क्योंकि 'चिन्मय' निर्मायिक होने के कारण इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता। (इस विषय में अधिक जानकारी के लिए चौ० सं० २०४ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़िए) यद्यपि निर्गुण और सगुण में क्या अंतर है, वह चौ० सं० १६७ के नीचे कोष्ठ में दे दिया गया है, तथापि निर्गुण और सगुण को तत्त्व वा द्रव्य-रूप में रामचरितमानस के अनुसार एक अवश्य मानेंगे। परन्तु तत्त्व वा द्रव्य-रूप में तो निर्गुण के अतिरिक्त उसे सगुण कह न सकेंगे। इसलिए विष्णु-रूप अथवा सगुण के जो कर्म राम-अवतार के कारण हुए, उन्हीं को निर्गुण से सगुण होने का कारण मानना युक्ति-संगत नहीं। उपर्युक्त तीनों कथाओं से (इन कथाओं को रामचरितमानस पढ़कर जान लीजिए) तो रामचरितमानस के अनुसार यही प्रकट होता है कि इनमें रामावतार के जो कारण वर्णित किए गए हैं, वे सगुण रूप विष्णु के कर्म हैं; न कि चिन्मय, अविनाशी, अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि ब्रह्म के। इन कर्मों के कारण जो रामावतार हुए, जान लेना चाहिए कि वह सगुण विष्णु भगवान ही नर-रूप राम, दशरथ-सुत हुए, न कि वह चिन्मय अगुण स्वरूप। इसलिए पार्वतीजी के प्रश्नों के उत्तर जो उपर्युक्त तीनों कथाओं को कहकर दिए गए हैं, यथोचित नहीं जँचते। ऐसे उत्तर से कवि का यह तात्पर्य झलकता है कि जैसे जल से बर्फ बनी है, वैसे ही निर्गुण से सगुण। विचार-दृष्टि से जिस प्रकार बर्फ जल ही है,

उसी प्रकार सगुण-रूप विष्णु भी निर्गुण ब्रह्म ही हैं, परन्तु जबकि रामचरितमानस में माया को भ्रम और असत्य भी कहा गया है, तब 'निज माया निर्मित तनु' को सगुण के अतिरिक्त निर्गुण कैसे कहा जाए ? उत्तरकाण्ड में यह स्पष्ट ही कहा गया है कि 'भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप। किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥ जथा अनेकन बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥' तब फिर त्रयगुणमयी माया-निर्मित इन्द्रिय-गोचर रूप को निर्गुण नहीं कह सकते।]

४-एक कल्प में अवतार लेने के कारण की कथा इस प्रकार है कि राजा स्वायंभुव मनु और उनकी रानी शतरूपा, दोनों राज छोड़कर तप करने को जंगल में गए और तप करते हुए यह अभिलाषा करने लगे कि-

उर अभिलाष निरन्तर होई।
देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥ १९४॥

(मनु और शतरूपा के) हृदय में यह अभिलाषा सदा होने लगी कि हम उस परम प्रभु को आँखों से देखें।

अगुन अखण्ड अनन्त अनादि ।
जेहि चिन्तहि परमारथ बादी ॥ १९५॥

जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और आदि-रहित हैं और जिनका चिन्तन परमार्थ तत्त्व के वक्ता करते हैं।

[परमार्थ-तत्त्व के स्वरूप का वर्णन द्वितीय सोपान की चौपाई सं० २७४-२७५ में और चौ० सं० २६७ के नीचे कोष्ठ में किया गया है।]

नेति नेति जेहि वेद निरूपा।
चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥ १९६ ॥

जिनके लिये 'अन्त नहीं, अन्त नहीं' कहकर वेदों ने निरूपण किया है, जो चैतन्य, आनन्दमय, उपाधि और उपमा-रहित हैं,

सम्भु बिरंचि बिष्नु भगवाना।
उपजहिं जासु अंस तें नाना ॥ १९७॥

ऐसउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीला तनु गहई ॥ १९८॥

जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौं हमार पूजिहिँ अभिलाषा॥ १९९॥

(१९७-१९९ चौ० का) जिनके अंश से अनेकों महादेव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान उत्पन्न होते हैं; ऐसे प्रभु भी सेवक के वश में होकर भक्तों के लिए लीला का शरीर धारण करते हैं। यह वचन यदि वेदों ने सत्य कहा है, तो हमारी अभिलाषा पूरी होवेगी।

एक हजार वर्ष तप करने पर–

बिधि हरि हर तप देखि अपारा।
मनु समीप आये बहुबारा॥ २००॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव मनु का अपार तप देखकर उनके पास बहुत बार आये। और–

माँगहु बर बहु भाँति लोभाये।
परम धीर नहिँ चलहिँ चलाये॥ २०१॥

उनसे बहुत बार बोले कि वर माँगो, वर माँगो; पर वे (राजा-रानी) बड़े धीर थे, विचलित करने से विचलित नहीं हुए।

वे (मनु-शतरूपा) विशेष-से-विशेष क्लेशमय तप में लगे रहे। अन्त में आकाश-वाणी हुई कि वर माँगो-वर माँगो। यह सुनकर दम्पति (स्त्री-पुरुष) ने प्रार्थना की कि–

जो सरूप बस सिव मन माहीँ।
जेहि कारण मुनि जतन कराहीं॥ २०२॥

जो सरूप (रूप-सहित) शिवजी के मन में बसता है और जिसे पाने के लिए मुनि लोग यत्न करते हैं,

जो भुसुन्डि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥ २०३॥
देखहि हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥ २०३क॥

जो रूप कागभुशुण्डि के मनरूपी सरोवर का हंस है और जिसे सगुण-अगुण कहकर वेद बड़ाई देता है। हे दीन-रक्षक ! हम आपके उसी रूप का दर्शन चाहते हैं, आप कृपा कर दर्शन दीजिए यह सुनकर–

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
बिस्व बास प्रगटे भगवाना॥२०४॥

भक्तों पर कृपा करनेवाले प्रभु कृपा के निधान विश्ववास (विराट) भगवान प्रकट हो गये।

[तृतीय सोपान—अरण्यकाण्ड में है कि 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥' अतएव शिवजी के मन में वा कागभुशुण्डि के मन में जो रूप गृहीत होगा, सो भी मायिक ही होगा, सत्य नहीं। इसके अतिरिक्त चौ० सं० २८४ से २८७ तक के अर्थ-सहित कोष्ठ में के वर्णनों के पढ़ने से प्रकट होगा कि राम के स्वरूप को शिवजी नहीं जानते हैं। और न वे उतने बड़े अधिकारी भक्त हैं कि राम उनको अपना स्वरूप जना दें। इसलिए रामचरितमानस के अनुसार कहना पड़ता है कि शिवजी राम का केवल मायिक रूप ही जानते हैं, उनके निज स्वरूप को नहीं जानते हैं। फिर चौपाई सं० १९८ में देखिये—मनु और शतरूपा को भी लीला (माया) सम्बन्धी रूप ही 'भरि लोचन' देखने की अभिलाषा थी। अपनी प्रार्थना के अनुसार मनु और शतरूपा ने विश्ववास भगवान के केवल मायिक रूप का ही दर्शन पाया, जो अत्यन्त सुन्दर था। मनु-शतरूपा को दर्शन देने के लिए वह रूप प्रकट हुआ, जिसकी प्रशंसा सगुण-अगुण कहकर वेद में है। सगुण रूप को 'भरि लोचन' वे अवश्य देखे होंगे, परन्तु अगुण—दूसरा और कुछ उन्होंने पहचाना, सो नहीं है। अगुण तो सगुण के अन्दर ही अवश्य व्याप्त था, परन्तु भगवान का वह व्यापक स्वरूप सगुणवत् इन्द्रियगोचर मानने योग्य नहीं है। तप करने के समय मनु-शतरूपा को केवल यही अभिलाषा थी कि निर्गुण ब्रह्म सगुणरूप धरकर हमको दर्शन दें। उस समय वे उस सगुण रूप से पुत्र की अभिलाषा नहीं रखते थे। सगुण-रूप के दर्शन होने पर ही यह अभिलाषा उनको हुई। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि सगुण-रूप धारण करना निर्गुण ब्रह्म की माया है। अतएव माया-रूप के दर्शन से माया से मोहित होना सम्भव ही है। अतएव माया-मोहित होकर ही वे पुत्र-कामी हुए। यथार्थ में उनको ब्रह्म के निर्मायिक स्वरूप के दर्शन की इच्छा नहीं थी। उन्हें सगुण मायिक

रूप के दर्शन की ही इच्छा थी। इसीलिए रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में यह दोहा लिखा है—'भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप। किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥ जथा अनेकन भेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥' और दोहावली में है—'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण, रसना राम सुनाम। मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥'

और कुछ लोग भगवान के सगुण रूप में अगुण स्वरूप में अभेद मानते हैं। वे स्वयं विश्वास करते हैं और औरों को भी विश्वास दिलाते हैं कि 'भगवान के सगुण रूप और निर्गुण स्वरूप में कोई भेद नहीं है। आँखों से सगुण का दर्शन होने से ही निर्गुण का भी दर्शन हो गया। उनके सगुण रूप को ही निर्गुण स्वरूप मान लेना चाहिये ॥' यह विश्वास अन्ध-विश्वास भर ही है। विश्वरूप वा विश्ववास भगवान के सम्बन्ध में चौ० सं ७७, ७८, १७५ और १७७ को, उनके अर्थ-सहित कोष्ठ की व्याख्या को पढ़िये। परम प्रभु का निर्गुण असीम अनन्त स्वरूप पूर्ण का पूर्ण किसी एक बड़े-से-बड़े रूप में अँट (समा) नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि अनादि, असीम परम प्रभु का विश्ववास आदि कोई भी एक बड़े-से-बड़ा रूप उनके अंश-मात्र से ही व्याप्त होगा। अतएव किसी भी रूप को उनके अंश-मात्र से बना हुआ कह सकेंगे। जिस रूप में प्रकट होकर विश्ववास भगवान ने मनु और शतरूपा को दर्शन दिया, वह अत्यन्त ही सुन्दर था (रूप का वर्णन रामचरितमानस में पढ़ लीजिए)। उससे ऐसा जान पड़ता है कि विष्णु भगवान के आभूषणों से ही यह सुन्दर रूप भी भूषित था। पर इस रूप में कितने हाथ थे, सो नहीं वर्णन किया गया है और भगवान राम के साथ उनकी बाईं ओर जगत की मूल आदिशक्ति शोभायमान थीं, जिनके अंश से असंख्य लक्ष्मी, ब्रह्माणी और पार्वती उपजती हैं।]

बाम भाग सोभित अनुकूला।
आदि सक्ति छबि निधि जगमूला ॥ २०५॥*

भगवान के बायें भाग में उनके अनुकूल रहनेवाली, सुन्दरता की खानि, जगत की मूलकारणरूपा आदिशक्ति शोभा पाती हैं।

जासु अंस उपजहिं गुन खानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।। २०६।।✡

जिनके अंश से गुणों की खानि अनगिनत लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती (त्रिदेवों की शक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं।

भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई ।। २०७।।✡

जिनकी भौं के संकेत से ही जगत की रचना हो जाती है, वे ही श्रीसीताजी श्रीरामजी के बायें भाग में स्थित हैं।

[चौ० सं० १३६ और १३७ में देखिए, वहाँ श्री पार्वतीजी को ही आदिशक्ति और अजा (जो जनमे नहीं) कहा गया है।]

विष्णु भगवान ने मनु और शतरूपा से वर माँगने को कहा। उन्होंने कहा कि आप अपने समान पुत्र और अपनी भक्ति हमको दीजिए। भगवान ने मनोवांछित वर देकर कहा कि तुम दोनों कुछ काल के बाद तन-त्यागकर इन्द्रलोक में जाकर बसोगे। कुछ काल वहाँ का भोग भोगकर फिर नर-लोक में अवतार लेकर अयोध्या के राजा-रानी होओगे, तब मैं तुम्हारे यहाँ अपने अंशों के सहित पुत्र होकर अवतार लूँगा। (यह कथा गो० तुलसीदासजी ने और आगे नहीं बढ़ाई।)

५-याज्ञवल्क्य मुनि ने भारद्वाजजी से कहा कि हे मुनि! राम-जन्म के कारण के सम्बन्ध में एक कथा और सुनिए कि जो शिवजी ने पार्वतीजी से कही थी-

प्राचीन समय में सत्यकेतु नामक राजा था। उसके दो पुत्र हुए। बड़े का नाम प्रतापभानु था और छोटे का नाम अरिमर्दन। राजा सत्यकेतु अपने बेटे प्रतापभानु को राज्य देकर जंगल चला गया। प्रतापभानु अपने धर्मरुचि नामी बुद्धिमान मंत्री की सहायता से भूमण्डल के राजाओं को जीतकर सम्राट बन धर्म-पूर्वक राज्य करने लगा। राजा प्रतापभानु से पराजित किसी राजा ने उससे बदला लेने की इच्छा की। वह कपटी तपस्वी बनकर जंगल में रहने लगा। उसके एक मित्र ने जो छल-विद्या में बड़ा चतुर था, एक दिन जब प्रतापभानु शिकार के लिए जंगल गया, तो शिकार बन उसे (राजा को) भटकाते हुए कपटी तपस्वी राजा के आश्रम तक पहुँचाया और छिप गया। प्रतापभानु और उस कपटी तपस्वी में

(जो प्रतापभानु का शत्रु था) गहरी बातचीत हुई। उस (कपटी तपस्वी) ने बतलाया कि यदि आप ब्राह्मणों को वश में कर लें, तो आपको फिर किसी शत्रु का भय न रह जाय। इस प्रकार अपनी दमपट्टी में लाकर राजा को ब्राह्मणों से शाप दिलवा दिया कि तुम सपरिवार राक्षस होओ। राजा किसी युद्ध में सपरिवार मारा गया और काल पाकर फिर जनमा। प्रतापभानु रावण हुआ और अरिमर्दन कुम्भकर्ण और धर्मरुचि नामी मन्त्री विभीषण हुआ। तीनों ने बहुत तप किया। शिवजी और ब्रह्माजी ने उनके पास जाकर वरदान दिया। रावण की माँग के अनुसार उसे वर मिला कि वह मनुष्य और बन्दर के अतिरिक्त किसी के हाथ से नहीं मरेगा। माँगने पर कुम्भकर्ण को वर दिया गया कि तुम छह महीने सोओगे और एक दिन जागे रहोगे। उस दिन तुमसे कोई जीतने नहीं पावेगा। विभीषण ने वर में हरि-भक्ति ली। रावण ने लंका में अपनी राजधानी बनायी। वह हिंसा आदि बहुत पापाचार करने लगा। धर्म की हानि देखकर पृथ्वी डरकर घबड़ायी। फिर गो का रूप धारण कर देवताओं के पास गयी और अपना सन्ताप सुनाकर उनसे छुटकारा पाने के लिए सहायता माँगी। परन्तु देवता और मुनि से कुछ न हो सका, इसलिए वह मुनियों को साथ कर ब्रह्मलोक गई। ब्रह्माजी उनसे सब वृत्तान्त जानकर बोले कि हम से भी कुछ न हो सकेगा। फिर ब्रह्मा-सहित सब देवतादि बैठकर विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ पावें, जो अपनी रक्षा के लिए पुकार करें।]

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई।
कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ॥ २०८॥*

किसी ने वैकुण्ठ में चलने को कहा और किसी ने कहा–वे प्रभु क्षीर-समुद्र में रहते हैं।

[वैकुण्ठ और क्षीर-समुद्र में सगुण रूप चतुर्भुजी विष्णु भगवान रहते हैं, यह बात पुराणों की कथाओं से बहुत लोग जानते हैं। इस चौ० (सं० २०८) से प्रकट होता है कि देवगण केवल सगुण रूपधारी विष्णु भगवान की खोज में हैं। विष्णु भगवान इस देव-समाज में नहीं थे, यदि होते तो देवगण का विचार उल्लिखित रूप में नहीं होता। यदि देवगण उनकी खोज में होते, जिनको मनु और शतरूपावाली कथा में अनन्त अनादि परम प्रभु कहा गया है

कि जिनके अंश से असंख्य ब्रह्मा, विष्णु और शिव उपजते हैं और विष्णु भी इस (देव) समाज में होते तो अच्छा था। यदि कहा जाय कि इस देव-समाज में विष्णु भी अवश्य थे, पर उनको व्यक्त नहीं किया गया है, तो यह बात मानी नहीं जा सकती; क्योंकि समाज में प्रधान लोग ही विशेषकर व्यक्त होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रधान देव हैं। ब्रह्मा और शिव इस समाज में व्यक्त कर ही दिए गए हैं, पर विष्णु को व्यक्त नहीं किया गया है। इसलिए और वैकुण्ठ वा क्षीर-समुद्र में चलकर प्रभु के सम्मुख पुकार करने का देवगणों का विचार करने के कारण से यह निःसन्देह सिद्ध है कि इस देव-समाज में विष्णु भगवान नहीं थे। यदि देवताओं का यह मन्तव्य होता कि विष्णु भगवान से बढ़कर किसी परम श्रेष्ठ देव के पास चलकर पुकार करें, तो जैसे उनके साथ में ब्रह्मा और शिव थे, उसी प्रकार यदि विष्णु भगवान भी उनके साथ में होते, तो उनकी अवहेलना करके उनकी सम्मति न लेने तथा उनको इस समाज में सम्मिलित न करने का अनुचित काम देवगण से नहीं हो सकता। इसलिए देवगण क्षीर-शायी वा वैकुण्ठवासी विष्णु भगवान की ही खोज में अवश्य थे और इन्हीं के सामने दुःख की पुकार करना चाहते थे।]

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! उस देव-समाज में मैं भी था, अवसर पाकर मैंने कहा-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥२०९॥

मैं जानता हूँ कि हरि (विष्णु) सब स्थानों में समान रूप से व्यापक हैं और प्रेम से प्रकट होते हैं।

देस काल दिसि बिदिसहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥२१०॥

कहो तो वह कौन-सा देश, समय, दिशा और दिशाओं का कोण है, जहाँ वह प्रभु नहीं हैं ?

अग जग मय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥२११॥

प्रभु स्थावर-जंगम के रूप, सबसे निर्लेप, राग-रहित हैं और

प्रेम से उसी तरह प्रकट होते हैं, जैसे अग्नि।

[षड् ऐश्वर्य-धारी विष्णु भगवान अपने को विश्व-रूपी वा विराट-रूपी भी कर लेते हैं, इसलिए कहा जाता है कि ये दृश्य जगत में सर्वव्यापक हैं। भगवान की व्यापकता के सम्बन्ध में चौ० सं० ७७, ७८, १७५ और १७७ को पढ़िए।]

(शिवजी कहते हैं) हे पार्वती ! मेरा ऐसा वचन सुनकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए और सावधान होकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक स्तुति करने लगे–

छंद–जय जय सुर नायक जन सुख दायक प्रनत पाल भगवंता ।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधु-सुता प्रिय कंता ।।
जय जय अविनासी सब घटवासी व्यापक परमानंदा ।
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा ।। १ ।।

हे देवताओं के स्वामी, भक्तों के सुख-दायक, प्रणत-पाल, भगवान ! आप की जय हो, जय हो ! हे गौ और ब्राह्मणों के हित करनेवाले, दैत्यों के वैरी, लक्ष्मी के प्यारे पति ! आपकी जय हो ! हे सबके हृदय में रहनेवाले, अविनाशी, सर्वव्यापक, परमानन्दस्वरूप ! आपकी जय हो ! आप सर्वव्यापक और इन्द्रियों के परे हैं, आपका चरित्र पवित्र है, आप माया-रहित और मुक्तिदाता हैं........।

[परम प्रभु निर्गुण के अपरम्पार सहज सनातन स्वरूप को समुद्र-पुत्री (लक्ष्मीजी) का प्यारा स्वामी कहना कदापि उचित नहीं। भागवतादि पौराणिक ग्रन्थों में समुद्र मथने, उसमें से लक्ष्मीजी के निकलने और विष्णु भगवान की स्त्री बनने की कथा है, जिसको सब कोई जानते हैं। समुद्र से निकली, इसलिए समुद्र की पुत्री कहलायी। देवता-गण जिनकी खोज में थे और ब्रह्माजी ने जिनकी स्तुति उल्लिखित रूप से की थी, वे सगुण विष्णु भगवान ही हैं। चौ० सं० २०८ के कोष्ठ में वर्णित विषय को यह छन्द 'सिन्धु सुता प्रिय कन्ता' कहकर खूब पुष्ट करता है। अविनाशी, घट-घट-वासी, गोतीतं और माया-रहित आदि कहकर जो गुण गाया गया है, सो सगुण रूप के लिए तो केवल रोचक-मात्र कहा जाएगा, पर सगुण रूप विष्णु-शरीर में (वा किसी में) व्यापक

निर्गुण परम तत्त्व का इस तरह गुण गाना परमोचित ही है।]

इत्यादि विनय-वाक्यों से स्तुति करके ब्रह्माजी ने कहा कि हे स्वामी! मुनि, सिद्ध और देवगण परम भयातुर होकर आपके चरण-कमल को प्रणाम करते हैं। ब्रह्माजी जब चुप हो गये तो गम्भीर आकाशवाणी हुई कि हे मुनि, सिद्ध और सुरेन्द्रादि ! तुमलोग मत डरो। मैं तुमलोगों के लिए नर-वेश धारण करूँगा। अपने अंशों के सहित सूर्य-वंश में अवतार लूँगा और–

कस्यप अदिति महा तप कीन्हा ।
तिन कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥ २१२॥

कश्यप और अदिति ने बड़ा कठिन तप किया था । मैं पूर्व ही उनको वरदन दे चुका हूँ।

ते दसरथ कौसल्या रूपा ।
कौसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥ २१३॥

वे ही अयोध्यापुरी में दशरथ और कौशल्या के रूप में मनुष्यों के राजा होकर जन्म लिए हैं।

तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई ।
रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥ २१४॥

मैं उन्हीं के घर रघुकुल-श्रेष्ठ चार भाइयों के रूप में अवतार लूँगा।

नारद बचन सत्य सब करिहौं ।
परम सक्ति समेत अवतरिहौं ॥ २१५॥

नारद के सब वचनों को मैं सत्य करूँगा और अपनी श्रेष्ठ शक्ति के सहित अवतार लूँगा।

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई ।
निर्भय होउ देव समुदाई ॥ २१६॥

मैं पृथ्वी का समस्त (अधर्म-रूप) भार हर लूँगा। हे देवगण ! आप निर्भय हो जावें।

[नारद मुनि ने क्षीर-समुद्र में शयन करनेवाले विष्णु भगवान को शाप दिया था, यह कथा पहले वर्णित हो चुकी है। चौ० सं० २१५ से यह और भी अच्छी तरह से पुष्ट हो गया कि ब्रह्मा ने

विष्णु भगवान ही की स्तुति की थी, जिसे सुनकर विष्णु भगवान ने अवतार लेकर भूमि का भार उतारने का वर दिया था। यदि असीम, अनादि, सहज निर्गुण स्वरूप परम प्रभु की स्तुति ब्रह्माजी करते और अवतार लेकर भूमि-भार उतारने का वर देवताओं को देते तो 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' की आकाश-वाणी क्यों होती ? नारदजी ने असीम, अनादि, सहज निर्गुण स्वरूप परम प्रभु को शाप नहीं दिया था। यदि कहा जाय कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' से नारदजी से विष्णु भगवान को दिया गया शाप नहीं प्रकट किया गया है, बल्कि यह कोई दूसरी बात है, जो सहज निर्गुण रूप परम प्रभु के अवतार लेने के लिए नारदजी की प्रार्थना से सम्बन्ध रखती है, जिस (प्रार्थना) का पूरा-पूरा रामचरितमानस में वर्णन नहीं किया गया है, तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि तृतीय सोपान में नारदजी अपने मन में ऐसा क्यों विचारते कि 'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा ॥' फिर रामजी से ही वे ऐसा क्यों कहते कि 'जब बिबाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करन न दीन्हा ॥' यह कथा तीसरे कल्प में राम-अवतार लेने के कारण में पहले वर्णित की गई है। इस (कथा) में लिखा है कि विष्णु की माया से रचित विश्वमोहिनी नाम की कन्या से विवाह करने के लिए नारदजी ने विष्णु भगवान से प्रार्थना की कि मुझे आपका सुन्दर रूप मिले। यद्यपि नारदजी प्रार्थना करने के लिए क्षीर-समुद्र नहीं गए, तथापि विष्णु भगवान नारदजी की स्तुति से उनके समीप आ गए। इस भाँति देव और योगी वा सिद्धगण भी प्रकट होते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस तरह केवल निर्गुण परम प्रभु ही सगुण होकर प्रकट होते हैं। इस कथा से यही सिद्ध होता है कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' यह आकाशवाणी उल्लिखित कथा में वर्णित नारद के शाप के ही सम्बन्ध में हुई। अतएव यह आकाश-वाणी क्षीर-शायी विष्णु भगवान की ही थी, सहज निर्गुण अपरम्पार स्वरूप परम प्रभु की नहीं थी। यदि कहा जाय कि जल से बर्फ की तरह निर्गुण परम प्रभु से सगुण विष्णु मानो, तो विष्णु-कृत सब काम उसी परम प्रभु-कृत हुए, तो केवल विष्णु का ही क्यों, उपर्युक्त युक्ति से सब प्राणियों का किया काम उसी परम प्रभु का किया कहा जाएगा।

रामचरितमानस के आधार पर यह भी सिद्ध हो ही चुका कि अपरम्पार परम प्रभु का स्वरूप, कोई बड़े-से-बड़ा एक रूप नहीं हो सकता वा वह बड़े-से-बड़े विस्तारवाले सगुण रूप से सम्पूर्णतः आवरणित नहीं हो सकता है। इसलिए विष्णु आदि उनके अंश के सगुण रूप माने जाएँगे। ऐसी दशा में केवल अंश के काम को अंशी का काम कहना अनुचित है।]

यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।
अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ।। २१७क।।

ये सब सुन्दर चरित्र मैंने कहे। अब वह (चरित्र) सुनो, जो (कथा-प्रसंग के) बीच में ही छोड़ दिया है।

[कथा यह है कि रावण-कुम्भकर्णादि निशाचरों से बहुत सताये जाकर देवताओं और गौ-रूप धरती ने ब्रह्मा के पास जाकर अपने-अपने दुःखों को निवेदित किया। ब्रह्मा ने भगवान की स्तुति की और भगवान ने अवतार धारण कर दुःख दूर करने का वरदान आकाशवाणी-द्वारा दिया। आकाशवाणी के चुप हो जाने पर ब्रह्मा ने देवताओं से बन्दरों और भालुओं की देहों में धरती पर अवतार लेकर रहने को कहा। ब्रह्मा की आज्ञा के अनुकूल देवता भालुओं और बन्दरों की देहों को धारण कर-करके धरती पर भगवान के अवतार की प्रतीक्षा करने लगे। इस तरह भालुओं और बन्दरों की देहों में देवताओं के अवतार लेने की कथा को कहने के बाद आकाशवाणी-द्वारा भगवान ने अपने अवतार लेने की जो आज्ञा दी थी और जिसको आद्योपान्त कहे बिना ही कथा-प्रसंग के बीच में ही छोड़कर देवताओं के अवतारों की कथा कही गई—बीच में छूटी हुई इसी कथा को सुनाते हैं। 'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ।।' इसलिए ऐसा कहा गया है। यहाँ भगवान ने आकाश-वाणी-द्वारा अपने अवतार लेने की आज्ञा देवताओं से कही है। देवताओं के अवतार लेने की कथा के पूर्व अति पास ही में यह कथा छोड़ी गई थी। अतएव इन दोनों कथाओं को निकटतम मेल है, न कि मनु-शतरूपावाली कथा को। उपर्युक्त कथा प्रसंग में आकाशवाणी-द्वारा यह आज्ञा भगवान ने नहीं की कि मनु और शतरूपा दशरथ और कौशल्या हैं, उनके यहाँ मैं अवतार लूँगा। बल्कि उस आकाशवाणी-द्वारा उन्होंने यह आज्ञा की कि कश्यप

और अदिति कौशलपुरी में दशरथ और कौशल्या हैं, उनके यहाँ मैं अवतार लूँगा और नारद मुनि के (शाप) वचन को सत्य करूँगा। मनु और शतरूपा के देह-त्याग के बाद स्वर्ग जाने तक की कथा कहकर यह कहा गया है–दो०-'यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कही वृषकेतु। भरद्वाज सुनु अपर पुनि, राम जनम कर हेतु ॥' अपर=दूसरा। पुनि=फिर। भगवान के अवतार के कारण की मनु-शतरूपा वाली कथा को कहकर फिर दूसरा कारण उनके अवतार का सुनाते हैं, इस दोहे से साफ प्रकट यह है। इसी दूसरे कारण की कथा में राजा प्रतापभानु का रावण होकर अत्याचार और उपद्रव करना, इससे पृथ्वी और देवताओं का विकल होना, ब्रह्मदेव द्वारा भगवान की स्तुति की जानी, कश्यप और अदिति का तब दशरथ और कौशल्या होना, तिनके यहाँ अवतार लेने की आज्ञा भगवान की आकाशवाणी-द्वारा देनी, नारद-वचन सत्य करने की प्रतिज्ञा भगवान द्वारा होनी, ब्रह्मा द्वारा देवताओं को भालू और बन्दरों की देह धारण करने की आज्ञा दी जानी और देवताओं का उस तरह देह धारण करके धरती पर रहना, इत्यादि-इत्यादि वर्णन हैं। स्वायंम्भुव मनु और शतरूपा तथा हरगण-रूप रावण और कुम्भकर्ण की कथाओं के पूर्व नारद-वचन वा नारद -शाप वाली कथा रामचरितमानस में है। इस कथा से विदित होता है कि श्रीनारदजी ने क्षीर-सिन्धु में रहनेवाले भगवान को शाप दिया था। वह भगवान शरीरधारी सगुण-साकार थे। मनु-शतरूपा से आराधित अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि प्रभु को और इन दोनों राजा-रानी की प्रार्थना के अनुसार आँखों से देखे जाने योग्य सुन्दर रूप बननेवाले इन प्रभु को श्रीनारदजी ने शाप दिया हो, ऐसा रामचरितमानस में वर्णन नहीं है। ब्रह्मा के स्तुति करने पर भगवान यह तो कहा कि नारद के (शाप) वचन को सत्य करूँगा, पर उन्होंने यह नहीं कहा कि मनु और शतरूपा को जो मैंने वरदान दिया है, उसको भी सत्य करूँगा। ब्रह्मा-द्वारा भगवान की स्तुति होने पर दशरथ-कौशल्या-रूप में कश्यप-अदिति के यहाँ भगवान को अवतार ग्रहण की कथा के साथ नारद के (शाप) वचन को प्रकट-रूप में व्यक्त किया गया है, परन्तु इस कथा के संग मनु-शतरूपावाली कथा को प्रकट-रूप में कुछ भी

व्यक्त किया हुआ नहीं है। उपर्युक्त सब वर्णनों से मनु-शतरूपा को दिए हुए वरदान के कारण से इस कथा को दशरथ कौशल्या-रूप कश्यप अदिति की कथा तथा नारद के शापवाली कथा को मिला-जुला देना उचित नहीं है। अतएव 'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥' यह बीच में छूटी हुई कथा मनु-शतरूपा वाली कथा हो, कदापि सम्भव नहीं जँचता।]

गगन ब्रह्म बानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥ २१७॥

आकाश से हुई ब्रह्म-वाणी को सुनकर देवताओं की छाती ठण्ढी हुई और वहाँ से तुरत फिरे।

[यहाँ विष्णु को ही ब्रह्म कहा गया है और उनकी वाणी को ब्रह्म-वाणी कहा गया है। विष्णु भगवान की व्यापकता के सम्बन्ध में चौ० सं० २११ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़िए। जिस देश में जिसकी व्यापकता है, उस देश में वा उस देश का उसको ब्रह्म कहना परमोचित ही है।]

'तुम नर-लोक जाकर बन्दर की देह धारण करो और भगवान का चरण-सेवन करो।' देवताओं को यह उपदेश देकर ब्रह्मा अपने लोक में चले गये। देवताओं ने धरती पर बन्दरों की देह धारण की। इधर अवधपुरी में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनको कोई पुत्र न था। उन्होंने पुत्र के लिए यज्ञ किया। राजा दशरथ को तीन प्रधान रानियाँ थीं; बड़ी कौशल्या, दूसरी कैकेई और तीसरी सुमित्रा। यज्ञ-फल से रानियों को गर्भ रहा। पहले बड़ी रानी कौशल्या के गर्भ से भगवान के प्रकट होने का समय हुआ, तो ब्रह्मा सब देवताओं को लेकर अवधपुरी के ऊपर आकाश में आए और विमानों पर से बाजा बजाकर भगवान की स्तुति करने लगे। इस प्रकार भगवान की सेवा करके सब कोई अपने-अपने धाम को चले गए।]

***दोहा*–सुर समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम।**
जग निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक बिश्राम ॥ ३०॥

देवता लोग विनती करके अपने-अपने धाम को चले गए। सब लोकों को आनन्द देनेवाले जग-निवास प्रभु प्रकट हो गए।

[यहाँ भी ब्रह्मा सब देवताओं को साथ लेकर आए और

मानस में वर्णन है कि आगे चलकर शिवजी भी आए हैं, पर परम प्रधान देव विष्णु भगवान वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने स्तुति की, ऐसा वर्णन नहीं किया गया है। यथार्थ बात यह है कि विष्णु भगवान उस शुभ अवसर पर गुण-गान करने को उपस्थित नहीं हुए थे, बल्कि गुणगान सुनने के लिए कौशल्या माता के गर्भ से बालक-रूप में वे स्वयं प्रकट हुए थे। जग-निवास–विश्ववास–विष्णु भगवान। इसका वर्णन चौ० सं० २११ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में किया गया है।]

शिवजी बोले–हे पार्वती ! घनश्याम-रूप, वनमाला धारण किए, चारों हाथों में हथियार लिए खर राक्षस को मारनेवाले (प्रभु) प्रकट हो गये। उनकी माता हर्षित हुईं और दोनों हाथों को जोड़कर उनसे बोलीं।

छंद–

कह दुइ कर जोरी, अस्तुति तोरी, केहि विधि करउँ अनन्ता।
माया गुण ज्ञानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता॥
ब्रह्माण्ड निकाया, निर्मित माया, रोम-रोम प्रति बेद कहे।
मम उर सो बासी, सो उपहासी, सुनत धीर मति थिर न रहे॥२॥

कौशल्या माता दोनों हाथों को जोड़कर बोलीं कि हे अनन्त! मैं आपकी स्तुति किस तरह करूँ ? वेद और पुराण कहते हैं कि आप माया, गुण और ज्ञान से परे और परिमाण-रहित हैं। वेद कहते हैं कि आपके रोम-रोम में माया से रचित असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, सो (आप) मेरे गर्भ में रहे, यह हँसी की बात सुनकर धीर पुरुष की भी बुद्धि स्थिर नहीं रहती है। (यहाँ उर-वासी का अर्थ गर्भवासी ही जानना चाहिये। हृदयवासी कहना कोई उपहास की बात नहीं।)

['माया गुण ज्ञानातीत अमाना' किसी सगुण रूप को कहा नहीं जा सकता। कौशल्या के गर्भ से चतुर्भुजी रूप से ('निज आयुध भुज चारी') प्रकट हुए हैं। विष्णु भगवान वैकुण्ठवासी वा क्षीर-शायी होकर इसी रूप से विराजते हैं। इस रूप से कौशल्या के सम्मुख उनके गर्भ से प्रकट होने का यही कारण हो सकता है कि भगवान कौशल्या को प्रकट रूप से जनाना चाहते थे कि मैं

विष्णु हूँ, कोई साधारण जन नहीं। कौशल्या भगवान के इसी चतुर्भुजी रूप को देखती और 'माया गुन ज्ञानातीत अमाना' कहती हैं यदि वे इस सगुण रूप का ही उक्त प्रकार के गुणगान करती हैं, तो यह केवल रोचक मात्र है और यदि उस चतुर्भुजी रूप में व्यापक सहज निर्गुण स्वरूप का उक्त रीति से गुणगान करती है, तो भी अनुचित नहीं है। विष्णु भगवान अपने रोम-रोम में अनेकों ब्रह्माण्ड धारण कर अपना विराट रूप बना सकते हैं। इसलिए इनका 'ब्रह्माण्ड निकाया, निर्मित माया, रोम-रोम प्रति' कहकर गुणगान करना कुछ भी अयोग्य नहीं।]

फिर माता बोलीं कि हे तात! यह रूप छोड़िये और बाल-लीला कीजिए। भगवान माता का वचन सुन बालक-रूप धरकर रोने लगे।

दोहा–बिप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार ॥ ३१॥✡

ब्राह्मण, गौ, देवता और संतों के कल्याण के लिए भगवान ने नर-अवतार लिया। उनका शरीर उनकी इच्छा से रचित है। वे माया और उसके गुणों (सत्, रज, तम) तथा इन्द्रियों के परे हैं।

['माया गुन गो पार'–माया, गुण और इन्द्रियों से परे कोई भी सगुण रूप नहीं हो सकता। प्रति शरीर में व्यापक शुद्ध निर्गुण तत्त्व को ऐसा कह सकते हैं। यहाँ विष्णु भगवान के शरीर-व्यापी शुद्ध निर्गुण तत्त्व को ही लक्ष्य करके ऐसा कहा है। रामचरितमानस में से भगवान के ऐसे सब गुणों का वर्णन पढ़कर यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि सगुण रूप विष्णु ने रामावतार नहीं लिया था, सहज निर्गुण अपरम्पार स्वरूप का ही रामावतार हुआ था; क्योंकि इस कल्प की कथा के आरम्भ में राम-अवतार होने का जो कारण बतलाया गया है, उसमें स्पष्ट करके झलका दिया गया है कि नारदजी के शाप से विष्णु भगवान को अवतार लेना पड़ा। स्वायम्भुव मनु और शतरूपा को दिये गये वरदान के कारण इस कल्प का रामावतार हुआ कहना निरर्थक है; क्योंकि इस कल्प की कथा में भगवान ने साफ कह दिया है कि 'कश्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥' आदि।

फिर मनु और शतरूपा वाले कल्प की कथा का अन्त करके कहा कि अब दूसरे कल्प के अवतार का कारण सुनो–'यह इतिहास पुनीत अति, उमहिँ कहा बृषकेतु। भरद्वाज सुनु अपर पुनि, राम जनम कर हेतु॥' तब इसको और मनु-शतरूपावाली कथा को एक कर देना, किसी तरह उचित नहीं है। मनु और शतरूपा ने निर्गुण परम प्रभु से सगुण रूप धरकर दर्शन देने की प्रार्थना की थी। जब उनको उसी रूप में दर्शन मिला, तब उन्होंने उस रूप से यह वरदान माँगा कि हमको तुम्हारे ही समान पुत्र हो। उन्होंने सगुण रूप से ही उस (सगुण रूप) के समान पुत्र का वरदान माँगा था। उस सगुण ने भी यह वरदान दिया था कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा। ऐसी दशा में मनु और शतरूपा के पुत्र-रूप में अवतार लेंगे, वही सगुण रूप जिन्होंने वरदान दिया था, न कि अपरम्पार सहज निर्गुण परम प्रभु। फिर अपरम्पार सहज निर्गुण परम प्रभु किसी भी सगुण से सम्पूर्णतः आवृत्त हो जायँ सो रामचरितमानस को मान्य नहीं है। (चौ० सं० १७५ और १७७ के अर्थों के नीचे के कोष्ठों के वर्णनों को पढ़िए) इसलिए मनु और शतरूपा को जिस सगुण रूप का दर्शन मिला, उसको भी अपरम्पार सहज निर्गुण परम प्रभु के अंश का ही रूप मानेंगे। (यदि अपरम्पार सहज निर्गुण परम प्रभु से मनु और शतरूपा ने वर माँगा होता कि तुम्हारे समान पुत्र हमको हो, तो उनको ऐसा पुत्र होता कि वह किसी से देखा भी नहीं जाता।) चाहे वह अंशरूप, विष्णु-रूप अंश (जिनसे मनु और शतरूपा ने वरदान नहीं लिया) से कितना ही अधिक ऐश्वर्यवान हो, फिर भी अंश अंशी की बराबरी कदापि नहीं कर सकता है। इसलिए मनु और शतरूपा को अपरम्पार सहज निर्गुण परम प्रभु के जिन अंश-रूप का दर्शन मिला था, उनके कर्मों को पूर्ण अंशी का किया हुआ कहना युक्तिसंगत बात नहीं है।]

रानी कैकेई के गर्भ से एक और सुमित्रा रानी के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ दिनों के बाद राजा दशरथ के गुरु वशिष्ठजी ने बड़े पुत्र (जो कौशल्याजी से हुए थे) का नाम राम रखा। राम से छोटे पुत्र (जो कैकेईजी से जनमे थे) का नाम भरत रखा। भरत से छोटे पुत्रों (जो सुमित्राजी से जनमे थे) के नाम बड़े-छोटे के क्रम से लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखे। माताएँ प्यारे सुन्दर बालकों को

गोद में रखकर बहुत प्यार करती थीं। हे पार्वतीजी ! भगवान के जन्म महोत्सव के समय की अपनी एक चोरी मैं कहता हूँ, वह यह है–

काक भुशुन्डि संग हम दोऊ।
मनुज रूप जानहिँ नहिं कोऊ ॥ २१८॥✡

काकभुशुण्डि और मैं; दोनों वहाँ एक साथ थे, परन्तु मनुष्य-रूप में होने के कारण हमें कोई पहचान नहीं सका।

परमानन्द प्रेम सुख फूले।
बीथिन्ह फिरहिँ मगन मन भूले ॥ २१९॥✡

हम दोनों अति आनंद और प्रेम के सुख में फूले हुए, प्रसन्न मन से गलियों में भूले फिरते थे।

[चौ० २१९ से शिवजी और कागभुशुण्डिजी का कितना गहरा प्रेम श्रीरामजी के प्रति प्रकट होता है। श्रीरामजी के जन्मोत्सव में इन दोनों को इतना आनन्द क्यों हुआ ? ये लोग तो परम भक्त एवं परम योगी हैं। ऐसे लोग जबतक अपने आराध्य ध्येय को प्राप्त न करें, तबतक ऐसे प्रेम में विभोर हो नहीं सकते। इस अवसर पर इनका इस तरह प्रेम में मगन होने का वर्णन करके कवि ने यह प्रकट किया है कि दोनों परम भक्तों के परमाराध्य इष्टदेव का अवतार हुआ है। यह बात अच्छी तरह सिद्ध है कि इस बार क्षीर-शायी विष्णु भगवान ही ने अवतार धारण किया है। इसलिए यह बात अवश्य ही कही जाएगी कि इन्हीं भगवान के नराकृति-राम-रूप को शिवजी और कागभुशुण्डिजी अपना-अपना इष्ट मानते हैं। मनु और शतरूपा ने भी इसी रूप (शिवजी और कागभुशुण्डिजी के आराध्य रूप) का दर्शन चाहा था। इस तरह समझ लेने पर इसका भी पता लग ही जाता है कि मनु और शतरूपा को वर देनेवाली आकाश-वाणी किनकी हुई थी और किनने उनको दर्शन दिया था। वह आकाशवाणी क्षीर-शायी विष्णु भगवान की थी और उन्होंने ही मनु और शतरूपा को दर्शन दिया था। तब यह प्रश्न हो सकता है कि मनु और शतरूपा तो 'अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि' का सगुण रूप में दर्शन पाने के लिए तप करते थे, इन्हें क्षीर-शायी विष्णु भगवान दर्शन देने क्यों

आवेंगे ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मनु और शतरूपा ने 'अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि' से ही वर माँगा था, तथापि उन्होंने यह भी विनती की थी कि 'जो स्वरूप बस शिव मन माहीं' 'जो भुशुण्डि मन मानस हंसा', 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'– तात्पर्य यह है कि मनु और शतरूपा ने विनती की थी कि शिवजी और कागभुशुण्डिजी जिस रूप की उपासना करते हैं, उसी (रूप) का दर्शन हमको दीजिए। और यह तो कहा जा चुका है कि शिवजी और कागभुशुण्डिजी क्षीर-शायी विष्णु भगवान की उपासना करते हैं। गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में श्रीगणेशजी को 'सुर अनादि', शिवजी को 'विभुं व्यापकं ब्रह्म' (निजं), 'अजं निर्गुणं' और 'अखण्डं अजं' आदि और पार्वतीजी को 'अजा अनादि सक्ति अविनासिनि' और 'नहिं तब आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना ॥' आदि कहा है। और मनु-शतरूपा को तप के फलस्वरूप जिन राम और सीता के दर्शन मिले थे, उनके सम्बन्ध में कहा है कि अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और शिव राम के अंश से उपजते हैं और 'अगनित लच्छि उमा ब्रह्माणी,' आदिशक्ति सीता के अंश से उपजती हैं। इससे समझ में आता है कि गो० तुलसीदासजी अज, अनादि, अखण्ड, निर्गुण और आदिशक्ति इत्यादि परमोच्च गुण-गण सगुण अंशी के लिए प्रयोग करते हैं। उन्हीं गुणों को वे सगुण अंश के लिए तथा अपरम्पार सहज निर्गुण रूप परम प्रभु के लिए भी प्रयोग करते हैं। तब दाशरथि राम-रूप विष्णु भगवान के लिए 'अगुण अखण्ड अनन्त अनादी' रामचरितमानस में कहा जाएगा, यह कोई विचित्र बात नहीं।]

***दोहा*–व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत बिनोद ।**
सो अज प्रेम-भगति बस, कौसल्या की गोद ॥ ३२॥

जो व्यापक ब्रह्म, निर्गुण, निरंजन (मैल या अपयश-रहित) और क्रीड़ा-रहित हैं, वे जन्म-रहित होकर भी प्रेम-भक्ति के वश में होकर कौशल्या की गोद में विराजमान हैं।

[कौशल्या के गर्भ से जिन्होंने अवतार लिया था, उनका वृत्तान्त लिखा जा चुका है। इस दोहे में जो गुण-गान किया गया है, वह कौशल्या की गोद में स्थित बालक-रूप राम के शरीर में व्यापक निर्गुण आत्मतत्त्व का ही है; किसी भी सगुण रूप का

नहीं है; क्योंकि सगुण वा माया तो रामचरितमानस में असनातन और भ्रम-मात्र ही बतलाई गयी है।]

श्रीरामजी के सब अंग अत्यन्त सुडौल और सुन्दर थे। उनमें सुन्दर-सुन्दर उपयुक्त आभूषण तथा कपड़े लगे हुए थे। और–

उर मनि हार पदिक की सोभा।
बिप्र चरन देखत मन लोभा॥२१९क॥

उनकी (रामजी की) छाती पर मणियों के हार, पदिक और ब्राह्मण के चरण-चिह्न की शोभा देखते ही मन लुभा जाता था।

पदिक=एक गहना, जो हृदय पर लटकाकर गले में पहना जाता है, जिसे जुगनू कहते हैं।

[ब्रह्मा के पुत्र भृगुजी ने विष्णु भगवान की शान्ति और सहनशीलता जाँचने के लिए निद्रित अवस्था में उनकी छाती पर लात मारी थी। विष्णु भगवान उनके चरण-चिह्न को सदा के लिए अपनी छाती पर रखते हैं। नर-रूप में अवतार लेकर भी वे उस चिह्न से अपनी छाती चिह्नित किये हुए थे। भृगु मुनि विद्वान ब्राह्मण थे, इसलिए उनके चरण-चिह्न को 'विप्र-चरण' लिखा गया है। सहज, निर्गुण, अपरम्पार स्वरूप परम प्रभु पर कोई चिह्न नहीं लग सकता। यदि किसी भक्त के प्रेमवश वह अपने अंश का (क्योंकि वह अपने पूर्ण अपरम्पार स्वरूप से सगुण नहीं होता) सगुण रूप होकर नर-रूप में अवतार लेंगे तो विष्णु भगवान से धारण किए गए भृगु-चरण-चिह्न को अपनी छाती पर क्यों धारण करेंगे? भृगु-लता दाशरथि राम भगवान की छाती पर थी। इसका वर्णन कर चुकने पर गो० तुलसीदासजी स्पष्ट और विशेष प्रकार से कहते हैं कि उस कल्प में (जिसमें राम-अवतार हुआ है और जिसकी कथा विस्तारपूर्वक वे वर्णन कर चुके हैं) विष्णु भगवान ही दशरथ-सुत होकर राम कहलाए थे। तब 'व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद' और इसी कोटि के रामजी के अन्य-अन्य गुण-गान, जो गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में बारम्बार किये हैं, वे सभी आत्म-स्वरूपी राम के हैं, न कि लीलाधारी नर-रूप राम के।]

दोहा–सुख संदोह मोह पर, ज्ञान-गिरा-गोतीत।
दम्पत्ति परम प्रेम बस, कर सिसु चरित पुनीत ॥ ३३॥

जो सुख के समूह, अज्ञान से परे, ज्ञान, वचन और इन्द्रियों से परे अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, वह दम्पत्ति (राजा दशरथ और रानी कौशल्या) के प्रेम के वश होकर पवित्र बाल-लीला करते हैं।

[मोह पर, 'ज्ञान-गिरा-गोतीत' का विचार दोहा सं० ३१ और ३२ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में लिखे वर्णन के अनुसार जानना चाहिए।]

एकबार माता कौशल्या ने श्रीरामजी को स्नान और शृंगार करा के झुलवे (हिंडोले) में सुला दिया और आप स्नान कर अपने कुलदेव की पूजाकर नैवेद्य भोग लगाकर पाक-गृह (रसोई-घर) चली गईं। जब वे पुनः लौटकर पूजा-स्थान पर आईं, तो उन्होंने देखा कि देवता को चढ़ाये गये नैवेद्य शिशु-रूप भगवान राम भोजन कर रहे हैं। पर जाकर जब झुलवे पर देखा, तो वहाँ भी निज पुत्र रामजी को सोते पाया। इस तरह पूजा-स्थान और हिंडोले के पास कई बार जाकर देखा। दोनों जगहों पर श्रीरामजी को पाया। इस दृश्य को देखकर कौशल्याजी डर गईं और काँपने लगीं। माता की यह अवस्था देखकर श्रीरामजी हँसे और माता को अपना अद्भुत रूप दिखाया–

दोहा–देखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ॥ ३४॥

(श्रीरामजी ने) अपनी माता को अपना आश्चर्य-पूर्ण रूप दिखलाया कि जिसके एक-एक रोएँ में करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए थे।

[यह अचरज-रूप भी भगवान का निर्गुण आत्म-स्वरूप नहीं है। यह तो उनकी विशाल माया-भर है। महाभारत के शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण में वर्णन है कि भगवान ने नारदजी को अपने अद्भुत विराट रूप का दर्शन देकर कहा–'तुम जो मेरा रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। इससे तुम ऐसा न

समझो कि मैं सर्व भूतों के गुणों से युक्त हूँ। मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है।'

एक रूप से अनेक रूप बनने की माया तो रावण आदि राक्षस भी जानते थे। अपने ऐसे अद्भुत विराट रूप का दर्शन शिवजी ने रामजी को दिया था। जिस प्रकार महाभारत का अंश श्रीमद्भगवद्गीता परमोच्च ज्ञान का ग्रन्थ है, लोग कहते हैं कि उसी तरह पद्म पुराण का अंश शिव-गीता परमोच्च ज्ञान का ग्रंथ है, इस शिव-गीता में वर्णन है कि जब श्रीसीताजी को रावण हर कर ले गया, तो श्रीरामजी उनके विरह में व्याकुल हुए। श्रीअगस्त्य मुनि ने उन्हें पहले तो कुछ ज्ञान-वैराग्य का उपदेश दिया, फिर शिवजी का दर्शन प्राप्त करने के लिए तप करने को कहा। श्रीरामजी ने वैसा ही किया। कुछ दिनों के बाद श्रीशिवजी देवताओं-सहित श्रीरामजी के सम्मुख प्रकट हुए और रावण का वध करने के लिए उन्होंने श्रीरामजी को अस्त्र-शस्त्र दिए। इसके बाद दिव्य दृष्टि देकर अपना परम अद्भुत विराट रूप दिखाया। श्रीरामजी ने शिवजी के उस विराट रूप के मुख में अनेकों ब्रह्माण्डों और सब रचनाओं को देखा। शिवजी का वह विराट रूप ऐसा तेजोमय और भयदायक था कि एक तो श्रीरामजी अपनी साधारण दृष्टि से उसे न देख सकेंगे, यह विचारकर शिवजी ने उन्हें दिव्य दृष्टि दी और दूसरी बात यह कि दिव्य दृष्टि से दर्शन पाने पर श्रीरामजी डर से सीधे खड़े न रह सके, जंघाओं के बल पृथ्वी पर बैठ गये। (शिव-गीता, अ० ७, श्लोक ९ से २० तक)। विराट रूप दिखलाने की माया-विद्या केवल विष्णु भगवान वा केवल श्रीरामजी को ही है, सो नहीं; योगी और ज्ञानी जन भी अपने अन्तर में सारा ब्रह्माण्ड देखते हैं। 'सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी। सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी ॥' (गो० तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका')

फिर मनुस्मृति के १२वें अध्याय के १२०-१२१ श्लोकों में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष बाहरी आकाश की भावना उदराकाश में, वायु की चेष्टा स्पर्श में, तेज की जठराग्नि में, आदित्य की नेत्र में, जल की शरीर के चिकनेपन में, पृथ्वी की शरीर में, चन्द्रमा की मन में, दिशाओं की श्रोत्र में, विष्णु की गति में, शिव की

बल में, अग्नि की वाणी में, मित्र (मरुद्गण देव में से पहला) की गुदा में, प्रजापति की जननेन्द्रिय में भावना करे। फिर शिवजी ने शिव-संहिता में पार्वतीजी से वर्णन किया है कि 'इस शरीर में सुमेरु आदि सब पर्वत, समुद्र और नदी आदि समस्त विराट की रचना विद्यमान है।' (जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे) इन वर्णनों का तात्पर्य यही है कि मनुष्य योग का अवलम्बन करे, तो वह अपने अन्तर में समस्त विराट की रचना देख और दिखा सकता है। इस प्रकार अपने शरीर को विश्व-रूपी बनाना यद्यपि आश्चर्य का काम है, तथापि यह भी माया से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और ऐसा काम योगीजन कर सकते हैं।]

भगवान का विराट रूप देखकर कौशल्या माता की देह प्रफुल्लित हो गई। वह आँखें मूँदकर भगवान के चरणों पर गिर पड़ीं। यह जानकर कि जगत-पिता को मैं पुत्र करके जानती हूँ, बहुत डरीं। श्री भगवान ने माता को बहुत तरह से समझाया और कहा कि हे माता ! यह बात आप किसी से न कहेंगी। कौशल्या ने हाथ जोड़कर विनती की कि हे प्रभो ! अब मुझको तुम्हारी माया कभी न व्यापे। फिर तीनों छोटे भाइयों के साथ भगवान राम का चूड़ाकरण हुआ। भगवान राम भाइयों के सहित राजा दशरथ के आँगन में उत्तम-उत्तम खेल खेलते थे।

मन क्रम बचन अगोचर जोई।
दशरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥२२०॥

जो मन, कर्म और वचन को प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे ही प्रभु दशरथजी के आँगन में विचरते हैं।

['मन क्रम बचन अगोचर' का विचार दोहा सं० ३१ और ३२ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में के वर्णन के अनुसार जानना चाहिए।]

जब भ्राताओं-सहित भगवान राम की कुमार अवस्था हुई तब माता, पिता और गुरु ने उन्हें यज्ञोपवीत दिया और विद्या-पाठ कराया। अल्प काल में ही सब भाई वेद-विद्या में निपुण हो गए। श्रीरामजी भाइयों और सखाओं के साथ माता, पिता, गुरु और पुरवासी को सुख देनेवाले अनेक शुभ चरित्र करते थे।

दोहा—ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप ॥ ३५॥

जो प्रभु सर्वव्यापक, कला-रहित, इच्छा-हीन, अजन्मा, निर्गुण, नाम और रूप-हीन हैं, वे ही भक्तों के लिए बहुत प्रकार के अनूप चरित्र करते हैं।

[प्रथम यह सिद्ध हुआ है कि क्षीर-शायी विष्णु भगवान इस बार नर-रूप राम दशरथ-सुत हुए हैं। इसलिए 'व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप।' का विचार दो० सं० ३१ और ३२ के अर्थ के नीचे कोष्ठ के वर्णन के अनुसार ही जानना चाहिए।]

अब आगे कथा इस तरह चलती है कि कुछ काल के उपरान्त विश्वामित्र मुनि राजा दशरथ के यहाँ आए। राजा ने उनका अच्छा सत्कार किया। विश्वामित्र ने राजा से कहा कि राक्षस लोग मुझे दुःख देते हैं, मेरा यज्ञ नष्ट कर देते हैं, इसलिए आप राम और लक्ष्मण को मेरी सहायता के लिए मेरे साथ जाने दीजिए। राजा ने आगे-पीछे विचारकर राम-लक्ष्मण को मुनिजी के साथ कर दिया। मुनि ने दोनों भाइयों को धनुर्विद्या सिखायी। राम ने उन राक्षसों में से (जो मुनि का यज्ञ नष्ट करते थे) मारीच को भगाकर समुद्र-पार कर दिया और सुबाहु तथा ताड़का को मार डाला। लक्ष्मण ने अनेक राक्षसों का संहार किया। मुनि का यज्ञ पूर्ण हुआ। यज्ञ पूर्ण होने पर मुनि राम-लक्ष्मण को संग लेकर श्रीसीताजी का स्वयंवर देखने के लिए जनकपुर चले। गौतम मुनि की स्त्री अहल्या जो पति के शाप से पत्थर होकर आश्रम में पड़ी थी, रामजी को मार्ग में मिली। रामजी ने अपना चरण छुलाकर उनका उद्धार कर दिया। अहल्या रामजी की स्तुति करती हुई बोली—

छन्द—जेहि पद सुर सरिता परम पुनीता, प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥ ३॥

जिन चरणों से परम पवित्र देवनदी (गंगा) प्रकट हुई हैं कि जिसको शिवजी ने अपने मस्तक पर धारण किया है और जिन

चरण-कमलों को ब्रह्माजी पूजते हैं, उन्हीं को कृपालु भगवान ने मेरे सिर पर रखा।

[पौराणिक कथाओं में कहा गया है कि श्रीगंगाजी सगुण रूप विष्णु भगवान के ही चरण से निकली हैं। (निर्गुण स्वरूप से नहीं)। इस स्थान के वर्णन से भी श्रीरामजी विष्णु भगवान ही के अवतार सिद्ध होते हैं।]

फिर विश्वामित्र मुनि दोनों राजकुमारों को संग लिए जनकपुर पहुँचे। वहाँ राजा जनक ने उनका बड़ा सत्कार किया और उनको उत्तम आश्रम में ठहराया। एक दिन गुरु (विश्वामित्र से) आज्ञा ले राम-लक्ष्मण जनक-नगर देखने गए। दोनों भाइयों ने घूम-घूमकर देखनेयोग्य स्थानों और वस्तुओं को देखा। विलम्ब होता जानकर श्रीरामजी डरे कि कहीं गुरु रिसावें। फिर अपने निवास पर आए-

***दोहा*–सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाई ।**
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ॥ ३६॥

दोनों भाइयों ने भय, प्रेम और संकोच से युक्त होकर अत्यन्त झुककर गुरु के चरण-कमलों में अपना सिर नवाया और आज्ञा पाकर बैठ गए।

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा ।
सबहीं सन्ध्या बन्दन कीन्हा ॥ २२१॥

मुनि ने रात्रि का प्रवेश जानकर दोनों भाइयों को आज्ञा दी, तब सभी ने सन्ध्या-वन्दन किया।

कहत कथा इतिहास पुरानी ।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ २२२॥

पुरानी कथा और इतिहास कहते सुन्दर दो पहर रात बीत गई।

मुनि वर सयन कीन्ह तब जाई ।
लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥ २२३॥
बार बार गुरु आज्ञा दीन्ही ।
रघुबर जाय सयन तब कीन्ही ॥ २२४॥

तब मुनिवर विश्वामित्र जाकर सोए। दोनों भाई चरण चाँपने लगे। जब गुरु ने बारम्बार आज्ञा दी, तब रामजी जाकर सोए।

चाँपत चरन लषनु उर लाये।
सभय सप्रेम परम सचु पाये ॥ २२५॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पद जल जाता ॥ २२६॥

लक्ष्मणजी मन लगाकर डर, प्रेम और संकोच से रामजी का चरण चाँपने लगे। (डर-संकोच इसलिए कि मेरे कठोर हाथों से रामजी का कोमल चरण इतना न दब जावे कि जिससे उनकी नींद उचट जावे)। जब रामजी ने बार-बार कहा कि हे तात! सोओ, तब लक्ष्मणजी राम के चरण-कमलों का स्मरण करके सोए।

***दोहा*–उठे लषनु निसि विगत सुनि, अरुन-सिखा धुनि कान।**
गुरु तें पहिले जगतपति, जागे राम सुजान ॥ ३७॥

मुर्गे की बोली सुन रात का बीतना जानकर लक्ष्मणजी उठे और संसार के स्वामी सुजान रामचन्द्रजी गुरु से पहले ही जागे।

[गुरु-भक्ति और भ्रातृ-भक्ति का आदर्श सिखाने के लिए ये पद लिखे गए हैं।]

फिर विश्वामित्रजी दोनों भाइयों को संग लेकर उस स्थान पर गए, जहाँ शिवजी का धनुष रखा था और सब राजा लोग उसे तोड़ने को इकट्ठे थे। राजा जनक का प्रण था कि जो राजा शिव-धनुष को तोड़ेगा, उसके साथ सीता का विवाह कर देंगे। विश्वामित्र मुनि के साथ श्रीराम और लक्ष्मण उस धनुष-यज्ञ की सभा में पहुँचकर अत्यन्त शोभायमान हुए।

जिन्ह कै रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥ २२७॥✡

जिनकी जैसी भावना थी; प्रभु के रूप को उन्होंने वैसा ही देखा।

देखहिं भूप महा रनधीरा।
मनहुँ बीर रस धरेउ सरीरा ॥ २२८॥✡

राजागण श्रीराम को महान रणधीर के रूप में देख रहे हैं, मानो स्वयं वीर-रस ने शरीर धारण किया हो।

डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी।
मनहु भयानक मूरति भारी ॥ २२९॥*

प्रभु को देखकर दुष्ट राजागण डर गए, मानो वे बड़ी भयदायक मूर्त्ति हैं।

रहे असुर छल छोनिप बेखा।
तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ॥ २३०॥*

जो राक्षस वहाँ छल से राजाओं का वेश बनाकर बैठे थे; उन्होंने प्रभु को साक्षात काल के रूप में देखा।

पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई।
नर-भूषन लोचन सुख दाई ॥ २३१॥*

नगर-वासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों का भूषण-रूप और आँखों को सुख पहुँचानेवाला देखा।

***दोहा*—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।**
जनु सोहत सृंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥ ३८॥*

स्त्रियाँ हर्षित हृदय से अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप उन्हें देख रही हैं, मानो श्रृंगार-रस परम अनुपम मूर्त्ति धारण कर सुशोभित हो रहा हो।

बिदुषन प्रभु विराट मय दीसा।
बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥ २३२॥*

विद्वानों को प्रभु विराट रूप में दिखलाई दिए, जिनके बहुत-से मुँह, हाथ, पैर, नेत्र और सिर हैं।

जनक जाति अवलोकहिं कैसे।
सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥ २३३॥*

जनकजी के कुटुम्बीजन प्रभु को किस तरह देख रहे हैं, जैसे सगे-सम्बन्धी प्रिय लगते हैं।

सहित बिदेह बिलोकहिं रानी।
सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी ॥ २३४॥*

जनक-समेत रानियाँ उन्हें अपने बच्चे के समान प्रिय देख रही हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जोगिन्ह परम तत्त्व-मय भासा।
सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा॥२३५॥✡

योगियों को वे शांत, शुद्ध, सहज प्रकाश और परम तत्त्व रूप में दीख पड़े।

हरि-भगतन देखे दोउ भ्राता।
इष्ट-देव इव सब सुख-दाता॥२३६॥✡

हरि-भक्तों ने दोनों भाइयों को सर्व सुखों के दाता इष्टदेव की नाईं देखा।

[श्रीरामजी क्षीर-शायी विष्णु भगवान के अवतार हैं। इनकी शक्ति सहज ही अद्‌भुत है। ये अपनी अद्‌भुत शक्ति से भिन्न-भिन्न लोगों को उनकी भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार दिखाई पड़े। इनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है, बल्कि छोटा-सा खेल है। अणिमा, गरिमा आदि अष्ट सिद्धियों के द्वारा सिद्ध लोग अपने को ऊपर कथित प्रकार से विविध रूपों में दिखलाते हैं। ये सिद्धियाँ केवल सहस्त्रदल में ही पहुँचे हुए अभ्यासी योगी भक्तों को प्राप्त होती हैं। सच्चे भक्त भक्ति मार्ग में विघ्न जानकर इन सिद्धियों से हटे रहते हैं। वैकुण्ठ और क्षीर समुद्र आदि परमोत्कृष्ट लोक सहस्त्रदल कमल के ही अभ्यन्तर हैं। चौ० सं० २३५ में वर्णित परम तत्त्वमय स्वरूप के अतिरिक्त और सब दृश्य विविध जनों की भावना के अनुकूल भगवान की माया-मात्र हैं। रामचरितमानस के अनुसार माया तो केवल भ्रम और असत्य है। कैसी भी अद्‌भुत माया क्यों न हो, वह परम भक्तजनों को निःसार ही दीख पड़ती है और उनके आगे उसकी अद्‌भुतता व्यर्थ हो जाती है। पूर्ण योगी—परम भक्त—सन्त तो परम तत्त्वदर्शी होते ही हैं; उन्हें केवल भगवान ही क्यों, सब चराचर परम तत्त्वमय दीखते हैं। 'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा वेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥५॥ (केनो०, खंड २) यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है

और यदि उसे इस जन्म में न जाना, तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान लोग उसे समस्त प्राणियों में उपलब्ध करके इस लोक से जाकर (मरकर) अमर हो जाते हैं।' योगियों को भगवान राम परम तत्त्वमय दीखें, इसमें भगवान की माया की कुछ विशेषता नहीं है। यह तो उस परम भक्त और सन्त-स्वरूप योगियों ही के भजन-अभ्यास-द्वारा परम बोध की प्राप्ति की विशेषता है।]

वह शिव-धनु किसी राजा से न टूटा। श्रीरामजी ने उसे तोड़ा। श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के गले में जयमाला पहना दी। उस समय वहाँ परशुरामजी पहुँचे। पहले तो उन्होंने धनुष-भंग होने के कारण क्रोध किया, परन्तु अंत में श्रीराम को भगवान का अवतार बोध करके उनकी स्तुति करके वहाँ से चले गए। सब समाचार लेकर दूत अवधपुर भेजा गया। राजा दशरथ भरत और शत्रुघ्न के सहित बारात साजकर जनकपुर पहुँचे। श्रीराम और लक्ष्मण आगे बढ़कर पिता से जा मिले। शिष्टाचार के पीछे दोनों भाई दूलह के वेश में घोड़ों पर सवार हो गये। उस समय उनकी छवि अत्यन्त मनोहर मालूम होती थी। शिव, ब्रह्मा और विष्णु आदि देव उस बारात में श्रीरामजी के सुन्दर रूप को देखकर मोहित होते थे।

हरि हित सहित राम जब जोहे ।
रमा समेत रमापति मोहे ।। २३७।।

जब हरि ने प्रेम से रामजी को देखा तो वे लक्ष्मी के सहित मोहित हो गये।

[यह प्रथम स्थान है कि श्रीराम को देखने के लिए लक्ष्मी-पति विष्णु भगवान आए हैं। इसके पूर्व कवि ने भगवान विष्णु को श्रीरामजी के जन्मोत्सव आदि में कहीं सम्मिलित नहीं किया था। यह सिद्ध हो चुका है कि श्रीरामजी क्षीरशायी विष्णु भगवान के अवतार हैं। हो सकता है कि विवाहोत्सव में सम्मिलित होनेवाले क्षीरशायी विष्णु भगवान न होकर वैकुण्ठ-वासी विष्णु भगवान हों अथवा अपने कई रूप बना लेना विष्णु भगवान के लिए कुछ भी विलक्षण बात नहीं है। राजा जनक ने श्रीरामजी का

सीताजी के साथ, श्रीलक्ष्मणजी का उर्मिलाजी के साथ, श्रीभरतजी का मांडवीजी के साथ और श्रीशत्रुघ्नजी का श्रुतिकीर्तिजी के साथ विवाह कर दिया। राजा जनक ने बहुत कुछ दान-दहेज (दाइज) देकर, सब लोगों से मिल-जुल करके बेटियों और जामाताओं को विदा किया। विदा करते समय श्रीसीताजी की माता श्रीसुनयना रानी ने श्रीसीताजी को यह उपदेश दिया–

होएहु संतत पियहि पियारी।
चिरु अहिबात असीस हमारी ॥ २३७क॥✡

तुम सदा पति की प्यारी होओ, तुम्हारा सुहाग अटल हो; यह हमारा आशीर्वाद है।

सासु ससुर गुर-सेवा करेहू।
पति-रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥ २३७ख॥✡

सास, ससुर और गुरु की सेवा करना। पति के संकेतों को समझकर उनकी आज्ञा का पालन करना।

राजा जनक हाथ जोड़कर श्रीरामजी से विनती करके कहने लगे–

राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा।
मुनि महेस मन मानस हंसा ॥ २३८॥

हे राम ! मैं आपकी प्रशंसा किस तरह करूँ ? आप मुनियों और महेशजी के मन-रूपी मानसरोवर के हंस हैं।

करहिं जोग जोगी जेहि लागी।
कोहु मोहु ममता मद त्यागी ॥ २३९॥

योगीगण क्रोध, मोह, ममता और अहंकार को त्यागकर जिनके हेतु योग करते हैं,

ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी।
चिदानन्द निर्गुन गुन रासी ॥ २४०॥

जो सर्वव्यापक, अलख, अविनाशी, सच्चिदानन्द, निर्गुण और गुणों की खानि ब्रह्म हैं,

मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥ २४१॥

जिनको मन और वचन जान नहीं सकते और सब-के-सब

अनुमान करके जिनकी तर्कणा नहीं कर सकते,

महिमा निगम नेति कहि कहई ।
जो तिहु काल एक रस अहई ॥ २४२॥

जिनकी महिमा नेति-नेति कहकर वेद गाते हैं और जो तीनों कालों में एकरस रहते हैं,

***दोहा*–नयन बिषय मो कहँ भयउ, सो समस्त सुख मूल ।**
सबहिं लाभ जग जीव कहँ, भये ईस अनुकूल ॥ ३८॥

आप वही सब सुखों के मूल हैं, मुझको आपने दर्शन दिया है। जब ईश जीव पर अनुकूल होते हैं, तो उसे सब कुछ लाभ होता है।

[चौपाई सं० २४० से २४२ तक में वर्णित स्वरूप, विष्णु भगवान वा श्रीरामजी के शरीर में व्यापक सहज निर्गुण स्वरूप है।]

श्रीरामजी ने श्वशुर को अच्छी-अच्छी बातें कहकर सन्तोष दिया और आप पिता और भाइयों के साथ अपनी राजधानी अवध में लौट आये। वहाँ सब कोई सुख से रहने लगे।

रामचरितमानस-सार सटीक,
प्रथम सोपान-बालकाण्ड समाप्त ।

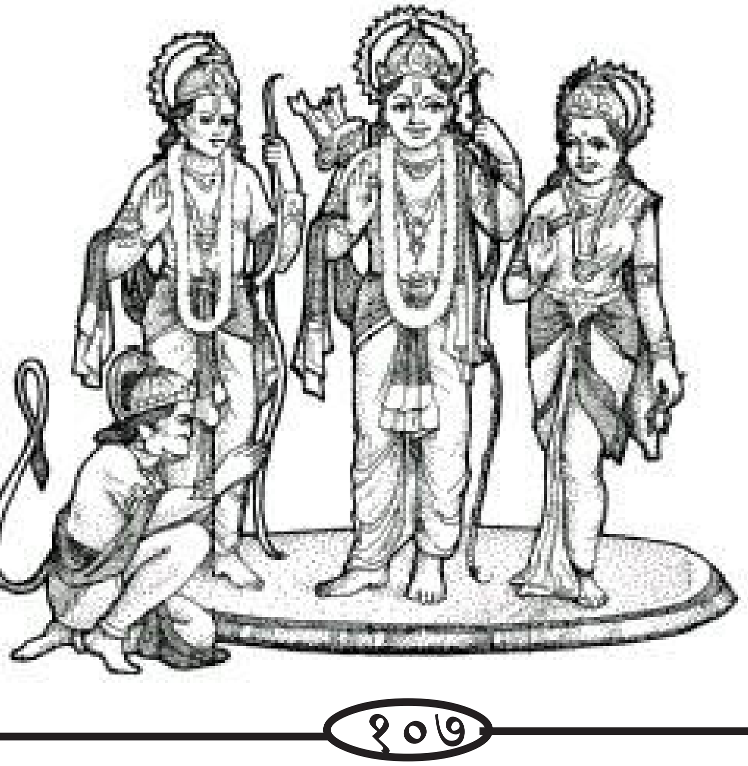

रामचरितमानस-सार सटीक

द्वितीय सोपान-अयोध्याकाण्ड

***दोहा*–श्री गुरु चरन सरोज रज, निज मनु मुकुर सुधारि ।**
बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायक फल चारि ॥ ३९॥

(गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि) मैं गुरु के चरण-कमल की धूलि से अपने मन-रूपी दर्पण को स्वच्छ कर श्रीरामजी के पवित्र यश का वर्णन करता हूँ, जो चारो फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को देनेवाला है।

[मन जब जिस विषय का चिन्तन करता है, तब उस पर वह (विषय) लगता है। जैसे मन के विषयों के चिन्तन में लगने के कारण ही यह कहा गया है कि–'काई विषय मुकुर मन लागी।' इसी तरह जब मन से गुरु-मूर्ति का चिंतन हो अथवा गुरु-रूप का मानस-ध्यान किया जावे, तो मन-रूपी दर्पण पर सहज में 'गुरु पद रज' लग जाएगी (क्योंकि गुरु-रूप स्वाभाविक ही चरण तथा चरण-रज-युक्त है)। चौपाई सं० १ के नीचे के कोष्ठ में वर्णित यह आभा-रूप रज है। गुरु के प्रति अपनी अत्यन्त श्रद्धा और उनके सम्मुख अपनी अतीव दीनता प्रकट करने का एवं गुरु-ध्यान को मंगल-सिद्धि-सुबुद्धि-दायक जानकर तथा यह जानकर कि गुरु की आराधना-बिना ईश्वरीय महिमा का पता नहीं लग सकता है, गोस्वामी तुलसीदासजी ने यह दोहा लिखा।]

अवधपुर में राजा दशरथ अपने पुत्रों के सहित बड़े आनन्द से रहने लगे। कुछ काल के बाद राजा के चित्त में अभिलाषा हुई कि श्रीरामजी को मैं अपने जीवन-काल में युवराज बना दूँ। राजा दशरथ अपने गुरु से आज्ञा लेकर श्रीरामजी को युवराज-पद पर अभिषिक्त करने के लिए सब सामग्री एकत्रित करने लगे। सम्पूर्ण नगर में यह समाचार फैल गया कि श्रीरामजी कल युवराज बनाए जाएँगे। नगरवासी अत्यन्त आनन्द में मग्न होकर कहने लगे–कल कब होगा।

सकल कहहिँ कब होइहिँ काली ।

बिघन मनावहिँ देव कुचाली ।। २४३।।

अवधपुर-वासी सब कोई कहते हैं कि कल कब होगा (अर्थात् राज-टीका शीघ्र हो), पर बुरी चालवाले देवगण विघ्न मनाते हैं (इसलिए कि जिसमें राम को राज-टीका न हो)।

तिन्हहिँ सोहाइ न अवध बधावा ।
चोरहिं चान्दिनि राति न भावा ।। २४४।।

उनको (देवताओं को) अवध का मंगल-उत्सव अच्छा नहीं लगता है, जैसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती है।

देवता लोग सरस्वती देवी को बुलाकर बहुत विनती से कहने लगे कि हे देवीजी ! आप अयोध्या में जाकर ऐसा काम कीजिए कि श्रीरामजी राज्य छोड़कर जंगल चले जावें और देवताओं का काम बने।

ऊँच निवास नीच करतूती ।
देखि न सकहिँ पराइ बिभूती ।। २४५।।

(देवताओं का) बास तो ऊँची जगह (स्वर्ग) में है, पर (उनकी) करनी नीच है। ये दूसरे का ऐश्वर्य देख नहीं सकते हैं।

शारदा देवी अपने मन में देवताओं को दुष्टबुद्धि विचार कर अवधपुर गईं और रानी कैकेयी की दासी मन्थरा की बुद्धि फेरकर बिगाड़ दी। मन्थरा ने कैकेयी को बहुत प्रकार से समझाया कि श्रीराम के राजा होने से आपको बड़ा दुःख होगा। इसलिए उन्हें वनवास दिया जाए और भरत को राज्य। कैकेयी मन्थरा के भुलावे में आ गई। वह क्रुद्ध हो रूठकर कोप-घर में चली गई। रनिवास में आने पर राजा दशरथ उसे मनाने लगे। कैकेयी राजा से बोली कि आपने मुझे दो वरदान देने को कहा था, वह अब तक आपने नहीं दिया है, मुझे सन्देह हो रहा है कि आप देंगे या नहीं। राजा ने कहा-'तुमने तो वरदान मेरे पास धरोहर रखा है, अभी तक माँगा नहीं। दो के बदले चार (वरदान) क्यों नहीं ले लेती, मुझे व्यर्थ दोष देती हो। हमारे कुल की यह रीति है कि प्राण भले ही जाएँ, पर वचन न जाने पावे।' और-

नहिँ असत्य सम पातक पुंजा ।

गिरि सम होहिँ कि कोटिक गुंजा ॥ २४६॥

झूठ के बराबर कोई पाप का ढेर नहीं है। क्या करोड़ों करजनी पहाड़ के समान हो सकती है ?

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये ।
बेद पुरान बिदित मनु गाये ॥ २४७॥

सत्य सब पुण्यों का मूल है, यह वेद और पुराण में विख्यात है और मनु ने भी कहा है।

जब राजा दशरथ ने इस तरह कह कैकेयी को वरदान माँगने कहा, तब वह बोली कि एक वरदान तो यह दीजिए कि भरत को राजटीका मिले और दूसरा यह कि राम को चौदह वर्ष तक वन का वास मिले। यह वचन सुनकर राजा को बड़ा दुःख हुआ, पर अपना वचन टाल भी नहीं सकते थे। उन्होंने कैकेयी को बहुत समझाया, विनती की कि वह राम को वनवास देने का वरदान न माँगे। वह बोली कि हे राजाजी ! यदि आपके हृदय में ऐसी निर्बलता थी; तो आपने बार-बार 'वर माँगो' क्यों कहा ? और—

दुइकि होइ एक समय भुआला ।
हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥ २४८॥

हे राजा ! ठठाकर हँसना और गाल फुलाना; ये दोनों क्या एक ही समय में हो सकते हैं ?

दानि कहाउब अरु कृपनाई ।
होइ कि षेम कुसल रौताई ॥ २४९॥

दानी कहलाना और कृपणता भी करना ? क्या शूरता में क्षेम-कुशल भी होता है ? हे राजा ! या तो अपना वचन छोड़िए या धीरज धरिए, स्त्रियों की तरह करुणा न कीजिए।

तनु तिय तनय धाम धन धरनी ।
सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी ॥ २५०॥

शरीर, स्त्री, बेटा, घर, धन और धरती (राज्य) सत्य-प्रतिज्ञ (सच्चे पुरुष) के लिए तृण-तुल्य कहे गये हैं।

कैकेयी के इन मर्म-भरे वचनों को सुनकर राजा ने उसे फिर बहुत-कुछ सत् विचार कहकर समझाया और अन्त में कहा कि—

फिरि पछितैहसि अन्त अभागी ।

मारसि गाईं नाहरू लागी ।। २५१।।

हे अभागी ! गाय मारने में तुझे दुःख नहीं होता है ? फिर अन्त में तू पछताएगी।

दूसरे दिन रामजी को जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तो वे पिता के सम्मुख उपस्थित हुए। पिता को मूर्च्छित अवस्था में देख कैकेयी से इसका कारण पूछा। उसने वरदान की बात कह सुनाई। श्रीरामजी वन जाने को तैयार हो माता कैकेयी से बोले–

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ।। २५२।।

हे माता ! सुनिए, वही बेटा बड़भागी है, जो माता-पिता के वचन-पालन में रत है।

तनय मातु पितु तोषनि हारा ।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ।। २५३।।

हे माता ! माता-पिता को सन्तुष्ट करनेवाला बेटा सम्पूर्ण संसार में दुर्लभ है।

मूर्च्छा दूर होने पर राजा रामजी को बारम्बार अपने हृदय से लगाने लगे। श्रीरामजी पिता को प्रेमवश जानकर बाले–'पिताजी ! छोटी-सी बात के लिए आपने बड़ा दुःख पाया। किसी ने मुझे पहले यह बात नहीं जनाई। अब मैंने माता से सब बातें पूछकर जान ली हैं, इससे मेरा शरीर ठण्ढा हुआ। आप चित्त से प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिए। हे पिताजी !

धन्य जन्म जगती तल तासू।
पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ।। २५४।।

धरती पर उसका जन्म धन्य है कि जिसका चरित्र सुनकर पिता को अत्यन्त आनन्द हो।

चारि पदारथ कर तल ताके ।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ।। २५५।।

जिसको माता-पिता प्राण-सम प्यारे हैं, उसके लिए चारो पदार्थ मुट्ठी में हैं।

आपकी आज्ञा पूरी कर, अपना जन्म सफल कर मैं शीघ्र

ही वन से लौट आऊँगा। आप कृपा करके वन जाने की राजाज्ञा दीजिए। मैं अपनी माता से विदा माँग आता हूँ, फिर आपके चरण छूकर जंगल जाऊँगा। पिता से ऐसा कह श्रीरामजी कौशल्या के पास पहुँचे और सब समाचार सुनाकर उन्होंने उनसे वन जाने की आज्ञा ले ली। उसी समय वहाँ श्रीसीताजी भी आ पहुँची। उन्होंने राज्य सुख को छोड़कर पति के संग वन जाने की आज्ञा माँगी। अत्यन्त विनती करने पर श्रीरामजी ने उन्हें अपने संग वन चलने की आज्ञा दे दी। जब यह दुःखद समाचार लक्ष्मणजी ने पाया, तो वे भी श्रीरामजी के पास आए। श्रीरामजी ने उनको घर में रहने को कहा; पर उन्होंने बड़ी दीनता से विनती कर रामजी को विवश कर दिया। रामजी ने कहा—अपनी माता से आज्ञा लेकर मेरे साथ वन को चलो। लक्ष्मणजी ने अपनी माता सुमित्रा के पास जाकर श्रीरामजी के संग वन जाने की आज्ञा माँगी। रानी सुमित्रा बोलीं—

गुरु पितु मातु बन्धु सुर साईं।
सेइअहि सकल प्रान की नाईं॥ २५६॥

गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी; इन सबों की सेवा प्राण के समान करनी चाहिए।

राम प्रान प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ-रहित सखा सबही के॥ २५७॥

श्रीरामजी तो प्राणों के प्रिय, जीवों के जीवन और सबके स्वार्थ-हीन मित्र हैं।

[जीव का जीवन सहज निर्गुण स्वरूप आत्मा है।]

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहि राम के नाते॥ २५८॥

परम प्रिय पूजनीय जहाँ तक (जो कोई) हैं, सबको राम के ही नाते मानना चाहिए।

[जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥ (विनय-पत्रिका)]

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुत होई॥ २५९॥

संसार में पुत्रवती स्त्री वही है, जिसका पुत्र श्रीरामजी का भक्त हो।

नतरु बाँझ भल बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥ २६०॥

राम-विमुख पुत्र से भला होना जानकर बिआना (पुत्र जनमाना) व्यर्थ है। उससे तो बाँझ ही अच्छी है।

सकल सुकृत कर बड़ फल येहू।
राम सीय पद सहज सनेहू ॥ २६१॥

सब पुण्यों का बड़ा फल यही है कि श्रीसीता-रामजी के चरणों में सहज स्नेह हो।

रानी सुमित्राजी ने ऐसे सदुपदेश अपने पुत्र लक्ष्मण को देकर श्रीरामजी के संग वन जाने की आज्ञा दे दी। लक्ष्मणजी माता को प्रणाम करके श्रीरामजी के पास पहुँचे। फिर राम, सीता और लक्ष्मण; तीनों मिलकर राजा के पास पहुँचे और उनसे विदा माँग वन को चल दिए। रामजी ने पहले दिन सन्ध्या-काल तमसा नदी के किनारे वास किया। दूसरे दिन सन्ध्या-काल में गंगाजी के किनारे शृंगवेरपुर में पहुँचकर वहाँ वास किया। वहाँ गुह निषाद ने बड़े भक्ति-भाव से उनलोगों का अच्छा आदर-सत्कार किया। श्रीसीता-राम एक वृक्ष के नीचे पत्तों की शय्या पर रात में सोए। श्रीलक्ष्मणजी उनसे कुछ दूर धनुष-वाण लिए पहरा देने को बैठे जगे रहे। स्थान-स्थान पर पहरा देने के लिए अपना आदमी नियुक्त कर गुह निषाद आप भी श्रीलक्ष्मणजी के पास बैठकर पहरा देने लगे। श्रीराम-सीता को पत्तों के बिछौने पर सोए देख गुह निषाद को बड़ा दुःख हुआ। वे इसके लिए कैकेयी को दोष देने लगे। यह सुन लक्ष्मणजी कहने लगे-

बोले लखन मधुर मृदु बानी।
ज्ञान बिराग भगति रस सानी ॥ २६२॥

श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-रस में सनी, कोमल मधुर वाणी से बोले-

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सुनु भ्राता ॥ २६३॥

हे भाई ! सुनो, कोई किसी को सुख-दुःख का देनेवाला नहीं है, सबको अपने ही कर्मों का फल भोगना होता है।

जोग बियोग भोग भल मन्दा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा ॥ २६४॥

मिलना-बिछुड़ना, भला-बुरा फल भोगना, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ, सभी भ्रम के फन्दे हैं।

[योग-वियोग आदि द्वैत को भ्रम कहा गया। बिना भ्रम के विविधता नहीं हो सकती है। भ्रम सत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए द्वैत वा विविधता भ्रम होने के कारण असत्य–नाशवान–माया वा जड़ ठहर गई। जीवात्मा को रामचरितमानस के सप्तम सोपान में 'ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥' कहकर ईश्वर-अंश (ईश्वर, जिनको रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर अखण्ड, अनन्त, अपार और असीम आदि कहकर वर्णन किया गया है), चेतन और निर्मल माना गया है। यहाँ पर अंश कहा गया है, पर इससे ऐसा न समझना चाहिए कि अंश (जीव) अखण्ड, अनन्त, अपार स्वरूप अपने अंशी से टूटकर वा खण्ड होकर भिन्न हो गया है। अंश यहाँ अंशी से उसी प्रकार सम्बन्ध रखता है, जैसे ढेव या तरंग का पानी के साथ है। तरंग अंश और पानी अंशी है। जैसे कि लोमश मुनि ने कागभुशुण्डि (जीवात्मा) को ईश्वर के साथ सम्बन्ध दिखाते हुए कहा है–'सो तुम ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा ॥' (रामचरितमानस, सप्तम सोपान) इस सिद्धान्त से एक दूसरा सिद्धान्त निकलता है कि जैसे जल-राशि पर की असंख्य तरंगों को तत्त्व-रूप में एकता वा अपृथक्त्व है, उसी तरह असंख्य शरीरों में स्थित जीवात्मा (शरीरी) की एकता–अपृथक्त्व है। तात्पर्य यह कि असंख्य शरीरों वा पिण्डों में एक ही परम तत्त्व-स्वरूप आत्मा है। ऊपर कहा जा चुका है कि द्वैत वा विविधता केवल भ्रम-मात्र, माया-जड़ वा असत्य है। ऐसा जान लेने पर और सब पिण्डरूप विविधताओं में एक ही आत्मा विचार–निश्चयपूर्वक विश्वास कर लेने पर, एक ही अद्वैत पदार्थ आत्मा रह जाता है। जब एक-ही-एक हो, दो होवे नहीं, तब मिलना-बिछुड़ना, भोगी-भोग्य, हित-अहित,

उत्तम-निकृष्ट और मध्यम आदि का मानना असत्य, भ्रम और अयुक्त है। इसी विचार को व्यक्त करने के लिए चौ० सं० २६३ और २६४ लिखी गई हैं।]

जनम मरन जहँ लगि जग जालू।
सम्पति बिपति करम अरु कालू ॥ २६५॥

जन्म-मृत्यु, सम्पत्ति-विपत्ति, कर्म और काल, जहाँ तक संसार के जाल हैं,

धरनी धाम धन पुर परिवारू।
सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥ २६६॥

धरती, घर, धन, गाँव, परिवार, स्वर्ग और नरक का जहाँ तक व्यवहार है,

देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं।
मोह मूल परमारथ नाहीं ॥ २६७॥

जो देखे, सुने और मन में विचारे जाते हैं, उन सबों का कारण अज्ञान ही है। ये परमार्थ अर्थात् तत्त्व-वस्तु (पाने के कार्य–उपाय) नहीं हैं।

[चौ० सं० २६५, २६६ और २६७ में बतलाया गया है कि जन्म-मरण, सम्पत्ति-विपत्ति, कर्म, काल, धरती, घर, नगर, धन, परिवार, स्वर्ग-नरक, रूप, शब्द तथा मन के कर्म, आदि सभी माया के जाल और व्यवहार, परमार्थ-रूप नहीं हैं। ये सब केवल अज्ञानता या मोह के कारण दीख पड़ते हैं। मोह या अज्ञानता के मिट जाने पर ये नहीं दीखेंगे। और जब अज्ञानता के मिटने पर माया-जाल और व्यवहार लोप हो जाएँगे–देखने में नहीं आवेंगे, तब परमार्थ दीख पड़ेगा।]

***दोहा*–सपने होइ भिखारी नृप, रंक नाकपति होइ।**
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥ ४०॥

स्वप्न में राजा भिखारी और दरिद्र इन्द्र हो जाता है, पर जग जाने पर न तो राजा को कोई हानि होती है और न दरिद्र को कुछ लाभ होता है। ऐसे ही संसार को मन में (स्वप्नवत्) जानो।

[इस दोहे का तात्पर्य यह है कि जब जीव मोह–अज्ञानता

की रात में अचेत हो जाता है अर्थात् सो जाता है, तो अपने राजा-रूप स्वतंत्र आत्म-स्वरूप परमार्थ को भूल जाता है और स्वप्नवत् माया के वश में होकर अपने को तृष्णावन्त बनाकर दरिद्र हो जाता है। और कभी यही माया-मोहित दरिद्र जीव मायिक (असत्य-सम्बन्धी) पदार्थों को पाकर अपने को सुखी मानता है तथा अपने को उन पदार्थों का स्वामी मान अहंकार करके इन्द्रवत् हो जाता है। परन्तु अज्ञानता की रात जब मिट जाती है अर्थात् परमार्थ दीखने लगता है और जीव का स्वप्न छूट जाता है, तब उपर्युक्त दरिद्रता और राजत्व के हानि-लाभ कुछ नहीं रहते—सब-के-सब लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह अज्ञानता के मिट जाने पर सम्पूर्ण संसार लुप्त हो जाता है और प्रपंच—द्वैत संसार से लुप्त होने पर दुःख-सुख, दुःखदायी-सुखदायी आदि भेद कुछ सत्य नहीं हो सकते।]

अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू।
काहुहि बादि न देइय दोषू॥२६८॥

ऐसा विचारकर क्रोध न कीजिए और किसी को व्यर्थ ही दोष न दीजिए।

मोह निसा सब सोवनिहारा।
देखिय सपन अनेक प्रकारा॥२६९॥

अज्ञान की रात में सभी सोनेवाले अनेक प्रकार के स्वप्न देखते हैं।

यहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥२७०॥

माया-त्यागी, सार तत्त्वदर्शी योगी जन इस संसार-रूप रात में जगते हैं।

[कोई केवल घर छोड़ वैरागी बनने से माया-त्यागी नहीं हो सकता है। योगाभ्यास-द्वारा माया के स्वर्ग और मृत्युलोक आदि सब मण्डलों को पार करके ऊपर पहुँचने पर माया-त्यागी बन सकता है। योगों में केवल भक्ति-योग, जिसकी विशेषता सम्पूर्ण

रामचरितमानस में कही गई है, सुख-साध्य है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; इन्हीं तीन अवस्थाओं में साधारणतया सभी रहते हैं और जग-यामिनी में सोते हुए संसार-व्यवहार का स्वप्न देखते हैं। इन तीन अवस्थाओं को त्यागकर जो चौथी अवस्था–तुरीय अवस्था में जाते हैं, वे योगी होते हैं। चौथी अवस्था में जाने को ही जगना कहते हैं। इसी जागरण में विषय-विलास से विरक्ति होती है। इस अवस्था में रहकर भजन करना बड़ा उत्कृष्ट है। इसलिए 'विनय-पत्रिका' में गो० तुलसीदासजी ने कहा है–'तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त।]

जानिय तबहिँ जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥२७१॥

संसार में जीव को तभी सचेत जानिए, जब उसका चित्त विषय के सब आनन्दों से हट जाए।

होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥२७२॥

जब सारासार वा आत्म-अनात्म का विचार होकर अज्ञान-भ्रम दूर हो जाता है, तब श्रीरामजी के चरणों में प्रेम उपजता है।

[विवेक–सार-असार वा आत्म-अनात्म का विचार। इसका वर्णन चौ० सं० २६४ से २६७ तक में है। चौ० २६७ के अर्थ के नीचे कोष्ठ के वर्णन को पढ़िए। उसमें रूप आदि जो पदार्थ मोह के कारण दरसनेवाले बताए गए हैं, उन्हें ही माया–असार–अनात्म जानना चाहिए। इनको छोड़ जो रूप आदि-रहित परमार्थ वा तत्त्व-वस्तु बची रहती है, उसी को अमाया–सार वा आत्म-तत्त्व जानना चाहिए। विवेक होने पर शरीर माया-रूप रघुनाथ असार वा अनात्म-रूप ठहरता है, पर उसी (माया-रूप रघुनाथ) में व्यापक आत्म-स्वरूपी अमायिक रूप रघुनाथ ही सार ठहरता है। चौ० सं० २७२ में वर्णन हुआ है कि मोह-भ्रम के भागने और विवेक होने पर रघुनाथजी के चरणों में प्रेम उपजेगा। इससे प्रकट होता है कि विवेक होने पर परमार्थ रूप, अमायिक, अरूप तत्त्व-वस्तु का विचार में सार तत्त्व कहकर ग्रहण होता है, उसी (तत्त्व-वस्तु) को यहाँ पर रघुनाथ कहा गया है। चौ० सं० १४७

के अर्थ के नीचे कोष्ठ में देखिए—वहाँ वर्णन है कि माया-रहित आत्म-स्वरूपी राम को रघुनाथ, रघुवर आदि नामों से पुकारना युक्ति-युक्त है।]

सखा परम परमारथ येहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ २७३॥

हे मित्र ! सर्वोत्तम परमार्थ यही है कि मन, वचन और कर्म से राम के चरणों में प्रेम हो।

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा॥ २७४॥

राम ब्रह्म, परमार्थ-स्वरूप, सर्वव्यापक, अलख (रूप-रहित), आदि-रहित और उपमा-रहित हैं।

सकल बिकार रहित गत भेदा।
कहि नित नेति निरूपहिँ वेदा॥ २७५॥

वे सब दोषों से हीन और भेद-रहित (अद्वैत) हैं, जिनको वेद सदा इति नहीं, इति नहीं कहकर वर्णन करते हैं।

[चौ० सं० २७४ और २७५ में राम के नर-रूप का नहीं, बल्कि (उनके) सहज निर्गुण आत्म-स्वरूप का वर्णन है, जो माया-कृत नर-रूप में व्यापक है। नर वा देव कोई भी रूप मायाकृत असत्य, विनाशी, आदि-अन्त-सहित होने के कारण उन गुणों को धारण करनेवाला कदापि नहीं हो सकता, जो इन चौपाइयों में वर्णित हैं।]

***दोहा*—भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागी कृपाल।**
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिँ जग जाल॥ ४१॥

कृपालु हरि भगवान भक्त, धरती, ब्राह्मणों गौओं और देवताओं के कल्याण के लिए मनुष्य-शरीर धारण कर चरित्र करते हैं, जिसको सुनकर संसार के जाल (बन्धन) मिट जाते हैं।

श्रीलक्ष्मणजी और निषाद का यह संवाद होते-होते प्रातःकाल हो गया। श्रीरामजी सोकर उठे। सुमन्त मंत्री ने (जो श्रीराम को अयोध्या से रथ पर वन तक लाये थे) श्रीरामजी से अयोध्या लौट चलने की प्रार्थना की। श्रीराम बोले—

सिवि दधीचि हरिचन्द नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ २७६॥*

राजा शिवि, ऋषि दधीचि और राजा हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिए, करोड़ों (अनगिनत) कष्ट सहे।

रन्ति देव बलि भूप सुजाना।
धरम धरेउ सहि संकट नाना॥ २७७॥*

रन्तिदेव और बलि जैसे बुद्धिमान राजा अनेक संकटों को सहकर भी धर्म को पकड़े रहे।

धरम न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना॥ २७८॥*

वेद, शास्त्र और पुराण वर्णन करते हैं कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। [आगम = शास्त्र, निगम = वेद]

मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।
तजे तिहूँ पुर अपजस छावा॥ २७९॥*

मैंने उस धर्म को सहज ही पा लिया है। इस (सत्यरूप) धर्म का परित्याग करने से तीनों लोकों में अपयश-दुर्नाम छा जाएगा।

सम्भावित कहँ अपजस लाहू।
मरन कोटि सम दारुन दाहू॥ २८०॥*

सम्मानित व्यक्ति को अपयश मिलना करोड़ों मृत्यु के समान कठिन ताप उत्पन्न करनेवाला है।

इस प्रकार श्रीरामजी ने बहुत उपदेश देकर सुमन्त को रथ-समेत अवध को लौटा दिया। इसके पश्चात् आप भाई और पत्नी-सहित गंगाजी के किनारे आकर केवट-पति निषाद से पार उतरने के लिए नाव माँगने लगे।

निषाद ने हाथ जोड़कर कहा कि जबतक मैं आपका पाँव नहीं धो लूँगा, तबतक नाव पर चढ़ने न दूँगा, चाहे लक्ष्मण मुझे वाण से भले ही मारें; क्योंकि लोग कहते हैं कि आपके चरणों की धूलि में मनुष्य बनानेवाली बूटी है। इसको छूते ही पत्थर की चट्टान स्त्री हो गई। यदि मेरी नाव भी स्त्री हो जावे, तो मेरी

जीविका ही चली जाएगी। मेरे बाल-बच्चे भूखों मरने लगेंगे। निषाद का प्रेम-भरा अटपट वचन सुनकर श्रीरामजी ने हँसकर निषाद को शीघ्र पाँव धोने की आज्ञा दे दी।

बेगि आनु जल पाय पखारू।
होय विलम्ब उतारहि पारू॥२८१॥✡

शीघ्र जल लावें और पाँव पखार लें देर हो रही है, पार उतार दें।

जासु नाम सुमिरत एक बारा।
उतरहिँ नर भव-सिन्धु अपारा॥२८२॥✡

जिनका नाम एकबार स्मरण करने से मनुष्य अपार भवसागर को पार कर जाता है।

सोइ कृपाल केवटहि निहोरा।
जेहि जग किय तिहु पगहु ते थोरा॥२८३॥✡

जिन्होंने (वामन अवतार में) जगत को तीन पग से भी छोटा कर दिया था, वे ही कृपालु श्रीरामजी गंगाजी के (पार उतारने के लिए) केवट का निहोरा कर रहे हैं।

[विष्णु भगवान ने वामन अवतार धरकर राजा बलि से तीन पग धरती का दान माँगा था और विराट रूप होकर दो ही पग में सारा ब्रह्माण्ड नाप लिया। तब बलि ने तीसरे पग में अपनी पीठ नपवा ली। इसी कथा के सम्बन्ध में 'जेहि जग किय तिहुँ पगहुँ ते थोरा' पद लिखा गया है। यहाँ भी स्पष्ट प्रकट होता है कि श्रीराम विष्णु ही के अवतार थे।]

गुह नामी निषाद ने श्रीरामजी का चरण धो, चरणामृत पान कर अपने परिवार को भी पान कराया। फिर श्रीरामजी को नाव पर चढ़ा गंगा के दूसरे पार में उतार दिया। वहाँ से चलकर भाई और स्त्री के सहित श्रीरामजी प्रयाग में भारद्वाजजी के आश्रम में पहुँचे। एक रात विश्राम कर वहाँ से चल यमुना नदी पार करके वाल्मीकिजी के आश्रम में पहुँचे। रात को विश्राम कर वहाँ से चलते समय श्रीरामजी ने वाल्मीकिजी से बड़ी नम्रता के साथ कहा कि आप कोई अच्छा स्थान मुझे बताइए, जहाँ मैं कुछ काल कुटी

बनाकर ठहरूँ। वाल्मीकिजी कहने लगे–

***सोरठा*–राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।**
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥४२॥

हे रामजी ! आपका स्वरूप वचन से कहने योग्य नहीं, बुद्धि से परे, सर्वव्यापक, नहीं कहने योग्य और अपार है, जिसके लिए वेद इति नहीं–अन्त नहीं कहते हैं।

[नर-रूप राम वाल्मीकिजी के सम्मुख ही उपस्थित हैं। नर-रूप को ही अकथ, अपार, अविगत, अगोचर और बुद्धि-पर कहना, मानो मन-मोदक खाकर भूख मिटाना है। उक्त विशेषणों से नररूप की महिमा नहीं प्रकट की जाती है। सहज निर्गुण आत्म-स्वरूप, जो उस नर-रूप में व्यापक है, राम का यथार्थ स्वरूप है। नर-रूप तो राम की केवल माया-मात्र है।]

जगपेखनु तुम देखनिहारे।
बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे ॥२८४॥

संसार दृश्य (तमाशा) और आप उसको देखनेवाले तथा ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को नचानेवाले हैं।

[ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप माया-सम्बन्धी हैं। इन (रूपों में) अकथ, अपार, अविगत, अगोचर, बुद्धि-पर, सहज निर्गुण आत्म-स्वरूप व्यापक है। इसी आत्म-रूप की सत्ता पर सब मायिक रूप भासमान होते और नाचते हैं अर्थात् सब कृत्य करते हैं। (चौ० सं० १८१, १८२, १८३ और १८४ तथा दो० सं० २७ को अर्थ सहित १८४ सं० की चौ० के अर्थ के नीचे कोष्ठ का वर्णन पढ़िए।) यद्यपि वाल्मीकिजी के सम्मुख नर-रूप रामजी उपस्थित हैं, तथापि राम-स्वरूप वर्णन करने से व्यक्त होता है कि 'जोगिन्ह परम तत्त्व मय भासा' के अनुसार वे उनका नर-रूप ही नहीं देखते हैं, बल्कि नर-रूप में व्यापक परम तत्त्व-रूप देखते हैं। जैसा कि दो० सं० ४२ में वर्णित है। चौ० सं० २८४ में भी उसी परम तत्त्व स्वरूप को सम्बोधन किया गया है, न कि मायाकृत नर-रूप को। मायाकृत नर-रूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नचानेवाला और जगत-रूप दृश्य को देखनेवाला कदापि नहीं हो

सकता है। नर-रूप तो स्वयं ही जगत-रूप दृश्य का अंश-मात्र कहा जा सकता है। दृश्यांश (राम का नर-शरीर–माया) ही अपने अंशी (जगत-माया) को अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य को देखे, यह कब सम्भव है ? फिर रूप तो माया–अचेतन है, उसमें देखने आदि की क्रिया नहीं होती है। स्मरण रहे कि रूप और आत्म-तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। आत्म-तत्त्व राम का निज स्वरूप है और रूप (नर, देवता या अन्य कोई विलक्षण रूप ही क्यों न हो) उसकी (राम की) माया-मात्र है। इसलिए राम का मायिक रूप 'जग पेखन का देखनेवाला तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नचानेवाला' नहीं है। बल्कि इन क्रियाओं का करनेवाला दोहा सं० ४२ में वर्णित राम का स्वरूप ही है। यह कई स्थलों पर सिद्ध हुआ है कि क्षीर-शायी विष्णु भगवान के अवतार इस कल्प में (जिस कल्प की कथा गो० तुलसीदासजी ने क्रम से वर्णन की है) श्रीराम थे। तब तो यही कहना पड़ा कि विष्णु ही विष्णु को नचाते हैं। यह सुनने में असंगत भले ही मालूम हो, पर यथार्थ यह है कि श्रीराम के मायाकृत नर-रूप में जो व्यापक आत्मतत्त्व वा राम का निज रूप है, वही देवाकृति मायिक रूप विष्णु-शरीर में भी व्यापक है, जिसकी सत्यता से जड़ मायिक रूप विष्णु-शरीर भासता और नाचता है अर्थात् कृत्य करता हुआ भासता है। जिस प्रकार चौ० सं० १४७ के अर्थ के नीचे (पाद-टीका में) सहज निर्गुण आत्म-तत्त्व को बाल-रूप राम वा रघुनाथ आदि कहना युक्ति-युक्त बतलाया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी विष्णु-शरीर में व्यापक आत्मतत्त्व को भी विष्णु नाम से पुकारना युक्ति-युक्त है।]

तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।
अउर तुम्हहिँ को जाननिहारा॥२८५॥

वे (त्रिदेव) भी आपके भेद को नहीं जानते हैं, फिर दूसरा कौन जाननेवाला है ?

[इस चौ० से प्रकट होता है कि दो० सं० ४२ वर्णित राम-स्वरूप को ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं जानते हैं, अतएव ये लोग भी पूर्ण ज्ञानी नहीं हैं और इस कारण ये भी

मुक्तरूप नहीं माने जाएँगे। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ६१ में भी यह वर्णन है कि—ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान के वास्तविक स्वरूप को या उनकी प्राप्ति के मार्ग को नहीं जानते।'—भागवतांक, पृ० ८४३।]

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहिँ तुम्हइ होइ जाई॥२८६॥

(आपको) वही जानता है, जिसको आप जना देते हैं। फिर आपको जानते ही वे आपसे निर्भेद हो जाते हैं।

[इस चौ० से प्रकट होता है कि सहज निर्गुण आत्म-स्वरूप राम ने अपने स्वरूप का ज्ञान करा देने की कृपा ब्रह्मा, विष्णु और महेश पर नहीं की है। और परम भक्त जीव, राम को जानकर राम ही हो जाता है अर्थात् जीव और ब्रह्म (राम) का भेद मिटकर केवल ब्रह्म-रूप ही रह जाता है।]

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिँ रघुनन्दन।
जानहिँ भगत भगत उर चन्दन॥२८७॥

हे भक्तों के हृदय के चन्दन रघुनन्दन (राम)! आपही की कृपा से भक्तजन आपको जानते हैं।

[इस चौ० से यह प्रकट होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उतने बड़े भक्त न थे कि राम उनको अपना स्वरूप जना देने की कृपा करते; क्योंकि चौ० सं० २८५ में कहा गया है कि त्रिदेव राम-स्वरूप को नहीं जानते हैं। और चौ० सं० २८६ में कहा गया है कि राम भक्तों को अपना स्वरूप जना देते हैं।]

चिदानन्द मय देह तुम्हारी।
बिगत बिकार जान अधिकारी॥२८८॥

आपका शरीर चैतन्यमय और आनन्दमय है, जिसको विकार-रहित (शुद्ध अन्तःकरणवाले) अधिकारी जानते हैं।

[इस चौ० से यह प्रकट होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश, जो राम के चिदानन्दमय शरीर वा आत्म-स्वरूप को नहीं जानते हैं, विकार-हीन अधिकारी नहीं हैं।]

नर तन धरेउ सन्त सुर काजा।
कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥२८९॥

(आपने) सन्तों और देवताओं के काम के लिए मनुष्य-देह धारण की है और इसी से साधारण राजा (नर राजा) की तरह आप कहते और करते हैं।

दोहा-पूँछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ ॥४३॥

वाल्मीकिजी कहते हैं-हे राम ! आप मुझे पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ ? किन्तु मैं पूछने में सकुचाता हूँ कि जहाँ आप नहीं हैं, वह स्थान कह दीजिए, तो मैं आपको रहने का स्थान दिखाऊँ।

[तात्पर्य यह कि राम अपने स्वरूप से सर्वव्यापक हैं।]

फिर वाल्मीकिजी प्रेम-भरी मधुर वाणी से बोले कि हे रामजी ! अब मैं आपका निवास-स्थान बतलाता हूँ, आप सुनिए-

जिन्हके स्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥२९०॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिनके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे ॥२९१॥

जिनके कान समुद्र के समान हैं, जिसे आपकी कथा-रूप अनेक नदियाँ भरती हैं, पर वे (कान-रूपी समुद्र) पूरे नहीं होते, उनका हृदय आपके लिए सुन्दर घर है।

[चौ० सं० २९० और २९१ का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र को अपनी अभंग धारा से भरती रहती हैं, उसी तरह जो भक्तजन राम की कथा की अभंग धारा को सुनते रहें, सुनने से कभी न अघावें, उनका हृदय राम का सुन्दर घर है। कोई वक्ता वा श्रोता कथा की अभंग धारा कह वा सुन नहीं सकता है; क्योंकि स्नान, खान-पान आदि नित्य कर्म, अनेकों गृह-कार्य, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं और शब्दों तथा वाक्यों के जोड़-तोड़ आदि के कारण वक्ता-श्रोता को इस काम में बाधाएँ होंगी। इसलिए कहना पड़ता है कि केवल ईश्वर-स्वरूप-निरूपण या ब्रह्म-विचार वा त्रिदेव आदि देवताओं

का यश वा भगवान के अवतारों की लीला और भक्तों के सदाचरणों आदि की कथाओं के सुनने की ओर इन दोनों चौपाइयों के द्वारा कवि संकेत नहीं करते हैं, बल्कि उस शब्द को सुनने की ओर संकेत करते हैं, जिसका वर्णन चौ० सं० ७९ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में ध्वन्यात्मक रामनाम वा सारशब्द आदि कहकर किया गया है। भजन-अभ्यास के द्वारा तुरीय अवस्था को प्राप्त कर ब्रह्माण्ड के भीतर इस सारशब्द, ध्वन्यात्मक राम-नाम की अभंग धार को अभ्यासी सुरत की कान से सुन सकता है, जो अभ्यासी तुरीय अवस्था को पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकता है, उसको स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्था-भेद वा नित्य कर्म वा गृह-कर्म आदि कोई भी व्यवहार उस अभंग धार को अभंग रूप से सुनने में कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। 'सोवत जागत ऊठत बैठत टुक बिहीन नहिं तारा। झिन झिन जंतर निस दिन बाजे, जम जालिम पचिहारा।' (सन्त दरिया साहब, बिहार-वाले)।

जीव जब जाग्रत से स्वप्न-अवस्था में आता है, तो उसकी जाग्रत अवस्थावाली चेतन-वृत्ति बदलकर दूसरी दशा में हो जाती है। फिर जब वह स्वप्नावस्था से छूटकर सुषुप्ति-अवस्था में आता है, तो उसकी चेतन-वृत्ति जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं की वृत्ति से बदलकर तीसरी दशा में प्राप्त होती है। ये स्वभाव से ही सबको नित्य प्राप्त होती रहती हैं। सब-के-सब इनके विषय में जानते हैं। इन तीनों अवस्थाओं को टपकर 'तुरीय' नाम की चौथी अवस्था है, जो भक्तिमान अभ्यासी को प्राप्त होती है, जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की भिन्न-भिन्न दशाएँ बदलकर चौथी एक विलक्षण दशा प्राप्त होती है। जैसे जो कोई स्वप्न-अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह उस अवस्था में प्राप्त होनेवाली दशा का कुछ ज्ञान नहीं रखता है, उसी तरह जो तुरीय अवस्था को कभी प्राप्त नहीं कर सका है, उसे उस अवस्था में प्राप्त होनेवाली दशा का कुछ ज्ञान नहीं हो सकता है। वह तुरीय अवस्था ही है, जिसमें योगी भक्तजन निद्रा छोड़कर सो जाते हैं अर्थात् निद्रा की अवस्था को त्यागकर स्थूल बाहरी जगत से बेसुध हो जाते हैं और सूक्ष्म अन्तर्जगत में सचेत रहते हैं। इसी दशा का वर्णन गो० तुलसीदासजी

अपनी 'विनय-पत्रिका' में इस तरह करते हैं–'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी। सोइ हरि-पद अनुभवइ परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी ॥' परम भक्त योगीजन भगवत्-भजन के तार को कभी टूटने नहीं देते। चाहे वे जाग्रत वा स्वप्न-अवस्था में किसी आवश्यक तथा स्वाभाविक काम को करते हों, फिर भी सारशब्द की अभंग धार को पकड़े रहते हैं अर्थात् सुरत वा चेतन-वृत्ति से सुनते रहते हैं। जिस तरह कोई संगीत-प्रेमी किसी गानेवाले के स्वर को भली भाँति पहचानता हो, तो वह उसके स्वर को उस दशा में भी पहचानता और सुनता रहेगा, जबकि वह गायक अन्य बहुत-से गानेवालों के साथ मिलकर गाता रहेगा। ऐसे परम भक्त योगीजन अपनी सुरत को सुषुप्ति-अवस्था में कभी नहीं करते, बल्कि इस अवस्था में केवल मस्तिष्क आदि स्थूल भागों को आराम में छोड़कर और चेतन-वृत्ति को उससे आगे बढ़ाकर तुरीय अवस्था में रखते और ध्वन्यात्मक राम-नाम को अभंग रूप से सुरत की कान से सुनते रहते हैं। यहाँ पर ऐसा समझना भूल है कि सुरत को निरन्तर काम में लगाए रखने से वह निर्बल होकर रोगी हो जाएगी; क्योंकि सुरत जितने ऊँचे चढ़ती है, उतनी ही विशेष बलवती और निर्मल होती है। काम में लगे रहने से स्नायु-सम्बन्धी मस्तिष्क आदि रोगी हो सकता है, पर सुषुप्ति-अवस्था में उसको आराम मिलने में कोई बाधा नहीं होने पाती। इस तरह सुरत-शब्द-योग (नादानुसन्धान)-अभ्यास निर्विघ्नता-पूर्वक निरन्तर कर सकना सम्भव है।

'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना' से प्रकट होता है कि बहुत तरह की कथाओं को निरन्तर सुनना चाहिए। सुरत-शब्द-योग के अभ्यासी को साधन के आरम्भ में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ सुनने में आती हैं, पर सद्गुरु के कृपापात्र सद्गुरु के बताए संकेत से उन ध्वनियों में से ध्वन्यात्मक राम-नाम की अभंग धार को परखकर चुन लेते हैं और अन्य सब ध्वनियों को सुनते हुए भी उस (ध्वन्यात्मक राम-नाम की अभंग धार) में सुरत को उसी तरह लगाए रख सकते हैं, जिस तरह ऊपर के दिए दृष्टान्त में परिचित गायक के स्वर को पहचाननेवाला उसके स्वर को अन्य बहुत-से

गायकों के मिले हुए स्वरों में से चुनकर उसमें अपनी सुरत को लगाकर रख सकता है।]

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिँ दरस जलधर अभिलाखे ॥२९२॥

जो अपनी आँखों को चातक बनाकर दर्शन की अभिलाषा से मेघ में लगाये रखते हैं।

निदरहिँ सरित सिन्धु सर भारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी ॥२९३॥

(और) भारी तालाब, नदी तथा समुद्र का निरादर करके विन्दु-रूप जल से सुखी रहते हैं।

तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक ॥२९४॥

हे रघुनायक! उनके सुख देनेवाले हृदय-मन्दिर में आप भाई और सीताजी के सहित रहिए।

[इन तीनों (चौ० सं० २९२, २९३ और २९४) में दृष्टि-साधन का भेद खोलकर बतलाया गया है। पपीहा स्वाति-जल के लिए बड़ी-बड़ी नदियों, तालाबों और समुद्रों का निरादर कर मेघ को एकटक से (टकटकी लगाकर) देखता रहता है और उसे (स्वाति-जल को) देख लेने पर परम प्रसन्नता से ग्रहण करता है। उसी तरह भक्ति-योग का साधक अपने हृदय-आकाश के अन्धकार-रूप बादल में एकटक से टकटकी लगाकर देखता रहता है अर्थात् दृष्टि-साधन करता रहता है और नदी आदि बड़े-बड़े जलाशय-रूपी बड़े-बड़े दृश्यों (रूपों) को निरादर करके, उन्हें नहीं देखता है, पर विन्दु-रूप को देखकर परम प्रसन्नता से दृढ़तापूर्वक धारण करता है; ऐसे साधक का हृदय राम के लिए सुखदायक घर है। वाल्मीकिजी रामजी को इसी घर में रहने कहते हैं। इसी विन्दु-ध्यान को मनुस्मृति के अध्याय १२, श्लोक १२२*, में अणु-से-अणु स्वरूप परमात्मा का ध्यान कहा गया है। इन बातों का विशेष वर्णन चौ० सं० ५ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में दिया गया है।]

* यह श्लोक चौ० सं० ७०७ के नीचे कोष्ठान्तर्गत उद्धृत है।

दोहा—**जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।**
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥४४॥

हे रामजी ! आपके निर्मल यश-रूपी मान-सरोवर में जिसकी जिह्वा रूपिणी हंसिनी गुणरूपी मोतियों को चुनती है, उसके हृदय में आप निवास कीजिए।

[तात्पर्य यह कि जो राम के गुणों को चुन-चुनकर अपनी जिह्वा से वर्णन करते हैं, उनके हृदय में राम का घर है।]

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।
सादर जासु लहइ नित नासा॥२९५॥

पवित्र, सुन्दर और सुवास-युक्त आपके प्रसाद को जिसकी नासिका सदा आदर-पूर्वक ग्रहण करती है,

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥२९६॥

जो आपको अर्पण करके भोजन करते हैं और प्रभु के प्रसाद-रूप वस्त्र और भूषण पहनते हैं,

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।
प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी॥२९७॥

जो देवता, गुरु और द्विज को देखकर प्रीति के सहित विशेष विनय करके प्रणाम करते हैं,

कर नित करहिं राम पद पूजा।
राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥२९८॥

जिनके हाथ नित्य राम के चरणों की पूजा करते हैं और हृदय में राम को छोड़कर दूसरे का भरोसा नहीं रखते हैं,

चरन राम तीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिनके मन माहीं॥२९९॥

जिसके चरण चलकर राम-तीर्थों में जाते हैं, हे रामजी ! आप उनके मन में बसिए।

तरपन होम करहिं बिधि नाना।
बिप्र जेवाइ देहिं बहु दाना॥३००॥

जो बहुत तरह से तर्पण और होम करते हैं और विप्र को भोजन कराकर बहुत दान देते हैं,

तुम्हतें अधिक गुरुहिं जिय जानी ।
सकल भाय सेवहिं सनमानी ।। ३०१।।

जो अपने मन में गरु को आपसे विशेष जानकर सब तरह से सम्मान कर सेवा करते हैं,

***दोहा*–सब करि माँगहि एक फल, राम चरन रति होउ ।**
तिन्ह के मन-मन्दिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ ।। ४५।।

जो सब करके एक ही फल माँगते हैं कि राम के चरणों में प्रीति हो, हे रामजी ! उनके मन-रूपी मन्दिर में सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ बसिए।

काम कोह मद मान न मोहा ।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ।। ३०२।।

जिसको काम, क्रोध, मद, अभिमान और मोह नहीं है, न तो लोभ, न घबड़ाहट, न प्रीति और न शत्रुता है,

जिन कहँ कपट दम्भ नहिं माया ।
तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ।। ३०३।।

जिनको कपट, धूर्तता और छल नहीं है, हे रामजी ! आप उनके हृदय में निवास कीजिए।

सब के प्रिय सब के हितकारी ।
दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ।। ३०४।।

जो सबके प्यारे, सबके हितकारी हैं, जिनको दुःख-सुख, बड़ाई और गाली बराबर है,

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी ।
जागत सोवत सरन तुम्हारी ।। ३०५।।

जो सत्य और प्रिय वचन विचारकर कहते हैं, जागते-सोते आपकी शरण में रहते हैं,

तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं ।
राम बसहु तिन्हके मन माहीं ।। ३०६।।

जिनको आपको छोड़कर दूसरा सहारा नहीं है, हे रामजी ! आप उनके मन में बसिए।

जननी सम जानहिँ पर नारी।
धन पराव बिष तें बिष भारी ।।३०७।।

जो पर-स्त्री को माता के समान जानते हैं, दूसरे के धन को विष से भी बड़ा विष जानते हैं,

जो हरषहिँ पर सम्पति देखी।
दुखित होहिँ पर बिपति बिसेखी ।।३०८।।

जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होते हैं, दूसरे की विपत्ति देखकर विशेष दुःखी होते हैं,

जिन्हहिँ राम तुम प्रान पियारे।
तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ।।३०९।।

और हे राम ! जिनको आप प्राण के तुल्य प्रिय हैं, उनका मन आपके लिए योग्य घर है।

***दोहा*–स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम तात।**
मन मन्दिर तिन्ह के बसहु, सिय सहित दोउ भ्रात ।। ४६।।

हे तात ! जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु; सब आप ही हैं; उनके मन-रूपी मन्दिर में सीता-सहित आप दोनों भाई निवास कीजिए।

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।
बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ।।३१०।।

जो अवगुण छोड़कर सबके गुणों को ग्रहण करते हैं, विप्र और गऊ के लिए संकट सहते हैं,

नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका ।।३११।।

नीति में निपुण होने के लिए जिनकी संसार में मर्यादा है, उनका मन आपका सुन्दर घर है।

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ।।३१२।।

जो गुणों को आपका और दोषों को अपना समझते हैं, जिनको सब तरह से आप ही का भरोसा है,

राम भगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥३१३॥

राम के भक्त जिनको प्रिय लगते हैं, उनके हृदय में आप सीताजी के सहित बसिए।

जाति पाँति धन धरम बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदायी॥३१४॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लउ लाई।
तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥३१५॥

जो जाति-पाँति, धन और धर्म की बड़ाई, प्रिय-परिवार और सुखदायी घर; सबको छोड़कर आप ही में मन लगाए रहते हैं, हे रघुराज ! उनके हृदय में बसिए।

सरग नरक अपवरग समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥३१६॥

जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मोक्ष बराबर है और जो जहाँ-तहाँ (प्रत्येक स्थान में) धनुष-वाण लिए देखते हैं।

[चौ० सं० ३१६ में जीवन्मुक्त पुरुष—जो समता प्राप्त करके विज्ञान तथा शम, यम और नियम को धारण किए रहते हैं, का वर्णन है, समता प्राप्त हो जाने पर जीवन्मुक्त पुरुष को सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष, स्वर्ग-नरक और अपवर्ग आदि का भेद-ज्ञान कुछ नहीं रहता है। उनको सब प्रपंच सहज निर्गुण, असीम रूप—राम-स्वरूप ही हो जाता है। ऐसे पुरुष जहाँ कहीं देखते हैं, वर-विज्ञान-रूप धनुष और शम-यम-नियम-रूप वाणों को धारण किए ही देखते हैं। ऐसे धनुष और वाणों का वर्णन षष्ट सोपान—लंकाकाण्ड में इस भाँति किया गया है—'बर बिज्ञान कठिन कोदण्डा' और 'सम यम नियम सिलीमुख नाना'। 'सरग नरक अपवर्ग समाना' में अभेद ज्ञान अथवा समता-ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट होता है। फिर उत्तरकाण्ड में 'बिनु बिज्ञान कि समता आवै' कहकर कवि ने साफ प्रकट कर दिया है कि विज्ञान के बिना समता प्राप्त हो नहीं सकती है।

इसलिए यहाँ पर विज्ञान-रूप धनुष माने बिना काम नहीं चल सकता है, फिर जहाँ पर ऐसा धनुष होगा, वहाँ उसके योग्य शम-यम-नियम को तीर मानना योग्य ही है। चौ० सं० ३१६ का अर्थ यदि इस भाँति किया जाए कि–जिनको स्वर्ग, नरक और मोक्ष बराबर हैं, वे जहाँ-तहाँ (सब स्थानों में) (श्री राम को) धनुष-वाण धारण किए देखते रहें, तो इस पर विचार होता है कि समता प्राप्त हुए बिना स्वर्ग, नरक और मोक्ष बराबर जानने में नहीं आ सकता और ऐसी समता प्राप्त किए हुए को धनुष, वाण और इनको धारण करनेवाला आदि द्वैत दृश्य (मोक्ष-पद में) दरस नहीं सकते। यदि ये द्वैत दृश्य उन्हें मोक्ष-पद में भी दरसते ही रहेंगे, तो इनके स्वर्ग, नरक और मोक्ष के द्वैत-भेद क्यों मिट जाएँगे ? और 'तजि जोग पावक-देह हरि पद लीन भइ जहँ नहीं फिरै।' (रामचरितमानस) तथा 'सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवइ निद्रा तजि योगी। सोइ हरि पद अनुभवइ परम सुख, अतिसय द्वैत वियोगी ' (विनय-पत्रिका)। इन कड़ियों से यह प्रकट होता है कि मोक्ष-पद द्वैत से अतिशय रहित है और अतिशय द्वैत-वियोगी ही राम पद को पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकेगा। द्वैत-हीनता को ही समता कहते हैं। मोक्ष-पद प्राप्त किए बिना स्वर्ग, नरक और मोक्ष को समान जानना असम्भव है। फिर इस नियम से यह भी असम्भव है कि समता-प्राप्त, जीवन्मुक्त पुरुष को मोक्ष में भगवान का धनुषधारी द्वैत रूप–माया-रूप दरसता रहे। इसलिए मेरे विचार में यह दूसरा अर्थ ठीक नहीं जँचता।]

करम बचन मन राउर चेरा।
राम करहु तिनके उर डेरा॥३१७॥

हे राम ! जो कर्म, वचन और मन से आपके सेवक हैं, उनके हृदय में आप निवास कीजिए।

***दोहा*–जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।**
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज गेह॥४७॥

जिनको कभी कुछ न चाहिए, केवल आपसे स्वाभाविक प्रेम है, उनके मन में सदा बसिए, वह आपका अपना घर है।

मुनि-श्रेष्ठ वाल्मीकिजी श्रीरामजी को इस प्रकार वास-स्थान

बतलाकर बोले कि आप चित्रकूट पर्वत पर जाकर निवास कीजिए। श्रीरामजी वाल्मीकिजी से विदा लेकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ चित्रकूट पहुँचे और कुटी बनाकर रहने लगे। इस सूचना को पाकर चित्रकूट के पास के कोल, किरात-गण बड़े प्रेम से कन्द-मूल और फल ला-लाकर श्रीरामजी को देने और अपनी टूटी-फूटी बोलियों में यथाशक्ति उनका गुण-गान करने लगे। जिनका गुण-गान करना वेदों और मुनियों के लिए भी अगम है, वे ही राम कोल-किरातों की भद्दी भाषा और ओछी उक्तियों में अपना गुण-गान बड़ी प्रसन्नता से सुनते हैं, ऐसा क्यों न हो; क्योंकि-

रामहिं केवल प्रेम पियारा।
जानि लेउ जो जाननिहारा॥३१८॥✡

श्रीरामजी को केवल प्रेम ही प्यारा है, जो जाननेवाले हों, वे जान लें।

जब श्रीरामजी चित्रकूट पर रहने लगे, तब से वहाँ की शोभा अत्यन्त चित्ताकर्षक हो गई, जो कही नहीं जा सकती है।

पय पयोधि तजि अवध बिहाई।
जहँ सिय लखन राम रहे छाई॥३१९॥

क्षीर समुद्र को त्याग, अयोध्या को छोड़कर श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी जहाँ आकर ठहरे हैं (वहाँ की शोभा का वर्णन नहीं हो सकता है)।

[चौ० सं० ३१९ अत्यन्त निश्चय-पूर्वक बतला रही है कि जिन भगवान राम की कथा का वर्णन गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में आदि से अन्त तक किया है, वे क्षीर समुद्र में रहनेवाले भगवान विष्णु थे, न कि निर्गुण राम निर्गुण पद को छोड़कर आए थे। क्षीर समुद्र में रहनेवाले भगवान विष्णु सगुण ब्रह्म हैं। सगुण ब्रह्म ही अवतार लेकर दाशरथि राम कहलाए थे।]

श्रीराम का वन-गमन और चित्रकूट में जाकर वास करने की कथा कहकर गो० तुलसीदासजी अब सुमन्त सारथी के राम से बिछुड़कर दुःखी हो अवधपुर जाने तथा तब वहाँ जो कुछ हुआ,

सो कथा वे इस तरह कहते हैं कि श्रीराम के नहीं लौट आने की कथा उन्होंने राजा दशरथ को कह सुनायी। सुनकर राजा दशरथ बहुत विलाप करने लगे और सुमन्तजी से बोले कि हे मंत्री ! मुझे राम, सीता और लक्ष्मण को दिखाओ। मंत्री राजा को धीरज देते हुए बोले–

जनम मरन सब दुख सुख भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा ॥३२०॥
काल करम बस होहिँ गोसाईं।
बरबस राति दिवस की नाईं ॥३२१॥

जन्म-मरण, दुःख-सुख के भोग, हानि-लाभ, प्रिय जनों का मिलना और बिछुड़ना; ये सब हे देव ! काल और कर्म के अधीन बल-पूर्वक (जबरदस्ती) दिन और रात की तरह होते हैं।

सुख हरषहिँ जड़ दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥३२२॥

अज्ञानी सुख से प्रसन्न और दुःख से दुःखी होते हैं, पर धीर दोनों (दुःख-सुख) में समान (भाव से) रहते हैं।

इतना कह मन्त्री राजा को तमसा और गंगा के किनारों पर वास करने की कथा सुनाने लगे, पर राजा को कुछ भी धीरज न रहा। राजा ने कौशल्याजी से श्रवण की मृत्यु और अन्ध तापस-द्वारा पाए हुए शाप की कथा कहते हुए अपने प्राण छोड़ दिए। राजमहल और सम्पूर्ण नगर करुणा और शोक का भवन बन गया। गुरु वशिष्ठ ने राजा का मृत शरीर तेल में यत्न से रखवा भरतजी को ननिहाल से बुलाकर लाने के लिए दूत भेजा। भरतजी बहुत शीघ्र अवध में आए और सब समाचार जान अत्यन्त दुःखित हुए। फिर कौशल्या माता से हाथ जोड़कर कहने लगे–

जे अघ मातु पिता सुत मारे।
गाइ गोठ महि सुर पुर जारे ॥३२३॥

जो पाप माता, पिता और पुत्र को मारने से, गोशाला और ब्राह्मणों का गाँव जलाने से होता है,

जे अघ तिय बालक बध कीन्हे।
मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥३२४॥

जो पाप स्त्री और बालक के वध करने, मित्र और राजा को विष देने से होता है,

जे पातक उपपातक अहहीं।
करम बचन मन भव कबि कहहीं ॥३२५॥

जितने पाप और पापांग (छोटे पाप) हैं, कर्म, वचन और मन से जिनका उत्पन्न होना कवि कहते हैं,

ते पातक मोहि होउ बिधाता।
जौं यह होइ मोर मत माता ॥ ३२६॥

हे माता ! यदि यह मेरा मत हो (कि रामजी वन जावें) तो मैं विधाता से कहता हूँ कि मुझे वे सब पाप लगें।

***दोहा*–जे परिहरि हरि हर चरन, भजहिं भूत गन घोर ।**
तिन्हकर गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर ॥ ४८॥

जो विष्णु और शिव के चरणों को छोड़कर भयानक जीवों वा पिशाचों को सेवते हैं, हे माता ! यदि इसमें मेरा मत हो, तो विधाता मुझे उनकी गति दें।

बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥ ३२७॥

जो वेद को बेचते हैं (वेद पढ़ाने के बदले कोई वस्तु लेते हैं) और धर्म को दुह लेते हैं (धर्म-कार्य में उसके बदले कोई वस्तु लेते हैं-जैसे कन्या-विक्रय), चुगली करते हैं और दूसरे के पाप का बखान करते हैं,

कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी।
बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ॥ ३२८॥

(जो) कपटी, कुटिल, कलह को प्यार करनेवाले, क्रोधी, वेद की निन्दा करनेवाले, संसार-भर से विरोध करनेवाले,

लोभी लम्पट लोलुप चारा।
जो ताकहिँ परधन परदारा ॥ ३२९॥

जो लोभी, लम्पट (व्यभिचारी), बड़े लालची हैं, पर-धन और पर-स्त्री को निहारते हैं,

पावउँ मैं तिन्हके गति घोरा।
जौं जननी यह सम्मत मोरा॥३३०॥

हे माता ! यदि यह मेरी सम्मति हो, तो मैं उनकी भयानक गति को पाऊँ।

जे नहिँ साधु-संग अनुरागे।
परमारथ पथ बिमुख अभागे॥३३१॥

जिनको सत्संग में प्रेम नहीं है, जो अभागे परमार्थ के मार्ग से विमुख हैं,

जे न भजहिँ हरि नर तन पाई।
जिन्हहिँ न हरिहर सुजस सुहाई॥३३२॥

जो मनुष्य-शरीर पाकर हरि-भजन नहीं करते, जिनको हरि और हर का सुयश नहीं सुहाता है,

तजि स्त्रुति पंथ बाम पथ चलहीँ।
बंचक बिरचि बेष जग छलहीँ॥३३३॥

जो वेद-मार्ग को छोड़कर वाम-मार्ग में चलते हैं और सुन्दर वेश बनाकर संसार को धोखा देकर ठगते हैं,

तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ।
जननी जौं यहु जानउँ भेऊ॥३३४॥

हे जननी ! यदि यह भेद मैं जानता होऊँ, तो शंकरजी मुझे उनकी गति दें।

इस प्रकार भरतजी कौशल्याजी से कहकर बहुत शोक किया। माता कौशल्या ने उन्हें निर्दोष कहकर धीरज दिया। भरतजी ने गुरु वशिष्ठजी की आज्ञा से मृत पिता के शरीर का दाह-कर्म करके श्राद्ध-क्रिया की। फिर एक सुदिन पाकर गुरु वशिष्ठजी शोकित भरतजी के पास आए और कहने लगे।

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।
तजि निज धरम बिषय लयलीना॥३३५॥

वह ब्राह्मण सोचने-योग्य है, जो वेद नहीं जानता है और अपने धर्म को छोड़कर विषय में लवलीन रहता है।

सोचिय नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥ ३३६॥

वह राजा सोचने योग्य है, जो राजनीति नहीं जानता है और जिसको प्रजा प्राण के समान प्यारी नहीं है।

सोचिय बयस कृपन धनवानू।
जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥ ३३७॥

वह वैश्य सोचने-योग्य है, जो धनी होकर कृपण हो और अतिथि के सत्कार और शिव-भक्ति में सुचतुर नहीं हो।

सोचिय सुद्र बिप्र अपमानी।
मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी ॥ ३३८॥

वह शूद्र सोचने-योग्य है, जो ब्राह्मणों का अपमान करनेवाला, मुँह-जोर (बकवादी), प्रतिष्ठा का इच्छुक और ज्ञान का घमण्डी हो।

सोचिय पुनि पति बंचक नारी।
कुटिल कलह प्रिय इच्छा चारी ॥ ३३९॥

वह स्त्री सोचने-योग्य है, जो पति को ठगनेवाली, कुटिला, कलह को प्यार करनेवाली और अपनी इच्छा के अनुसार चलनेवाली हो।

सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई।
जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥ ३४०॥

वह ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) सोचने योग्य है, जो अपना व्रत त्यागकर गुरु की आज्ञा के अनुसार न चले।

***दोहा*—सोचिय गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग।**
सोचिय जती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग ॥ ४९॥

वह गृहस्थ सोचने योग्य है, जो अज्ञान-वश कर्म-मार्ग का त्याग कर दे और वह संन्यासी सोचने योग्य है, जो संसार की झंझटों में लगा हुआ ज्ञान और वैराग्य से हीन हो।

बैखानस सोइ सोचन जोगू।
तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥ ३४१॥

वह तपस्वी सोचने-योग्य है, जिसको तप छोड़कर विषय-भोग अच्छा लगे।

सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी।
जननि जनक गुरु बन्धु बिरोधी ।। ३४२।।

चुगलखोर, बिना कारण क्रोध करनेवाला, माता, पिता, गुरु और भाई का विरोधी सोचने योग्य है।

सब बिधि सोचिय पर अपकारी।
निज तनु पोषक निरदय भारी ।। ३४३।।

दूसरे का अपकार करनेवाला, अपने ही शरीर को पोसनेवाला और भारी निर्दय सब प्रकार से सोचने-योग्य है।

सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाड़ि छल हरि जन होई ।। ३४४।।

वही सब तरह से सोचने-योग्य है, जो छल छोड़कर हरि-भक्त न हो। इतना कह गुरु वशिष्ठ ने फिर कहा कि राजा दशरथ सब तरह से पाप-रहित, यशस्वी तथा प्रतापी थे, वे सोचने-योग्य नहीं हैं। हे भरत ! तुमको पिता ने राज्य दिया है। तुम राज्य करो। गुरु की यह आज्ञा सुनकर भरतजी कहने लगे-

बादि बसन बिनु भूषन भारू।
बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू ।। ३४५।।

बिना वस्त्र के भूषण व्यर्थ बोझ है, वैराग्य-बिना ब्रह्म का विचार व्यर्थ है।

सरुज सरीर बादि बहु भोगा।
बिनु हरि भगति जाय जप जोगा ।। ३४६।।

रोगी शरीर के लिए बहुत भोग-विलास व्यर्थ है, बिना हरि-भक्ति के जप-योग व्यर्थ है।

इतना कह भरतजी गुरुजनों से बोले कि मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं रामजी को वन से लौटा लाने के लिए उनके पास कल चलूँगा। भरतजी के इस विचार को सब लोगों ने मान लिया। सब नगरवासी भरतजी के साथ जाने की तैयारी करने लगे। रखवाली के लिए घर में रहना कोई भी पसन्द नहीं करने लगा। लोगों ने कहा-

***दोहा*-जरउ सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।**
सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहज सहाइ ।।५०।।

वह धन, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई (सब) जल जावें, जो श्रीरामजी के चरणों के सम्मुख होने में स्वाभाविक सहायता न करें।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही भरतजी ने गुरु और माताओं को संग ले नगरवासियों के सहित वन के लिए यात्रा कर दी। भरतजी तमसा और गंगा को पारकर पैदल चलने लगे। लोग सवारी पर चढ़ने के लिए उन्हें बारम्बार कहने लगे। उन्होंने उत्तर दिया कि–

राम पयादेहिँ पाय सिधाये।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ॥ ३४७॥✡

श्रीरामजी तो पाँव-पैदल ही गए और मेरे लिए रथ, हाथी और घोड़े सजाए गए हैं।

सिरभर जाउँ उचित अस मोरा।
सबतें सेवक धरम कठोरा ॥ ३४८॥✡

मैं सिर के बल चलकर जाऊँ, यही मेरे लिए उचित है, क्योंकि सेवक का धर्म सबसे कठिन होता है।

भरतजी सदल-बल चलते हुए प्रयाग भारद्वाजजी के आश्रम में पहुँचे। जब वहाँ से आगे बढ़े, तब देवराज इन्द्र को डर हुआ कि अब भरतजी रामजी को वन से अवश्य लौटा ले जाएँगे। इसलिए उन्होंने अपने गुरु से कहा कि कुछ ऐसा छल किया जाए कि जिसमें भरतजी को रामजी से भेंट न हो। गुरु बृहस्पति ने कहा कि तुम्हारा यह विचार उत्तम नहीं है। भरतजी रामजी के परम भक्त हैं। इनसे छल करके तुम बड़े लज्जित होओगे और दुःख उलटकर तुम पर आ पड़ेगा; क्योंकि–

माया पति सेवक सन माया।
करइ त उलटि परइ सुर राया ॥ ३४९॥✡

हे इन्द्र ! माया पति (श्रीरामजी) के दास के साथ कोई माया (छल) करता है, तो वह उलटकर उसी के ऊपर आ पड़ती है।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।
निज अपराध रिसाहिँ न काऊ ॥ ३५०॥✡

हे सुरपति ! श्रीरघुनाथजी का स्वभाव सुनो–वे अपने प्रति किए गए अपराध से कभी अप्रसन्न नहीं होते है।

जो अपराध भगत कर करई।
राम रोष पावक सो जरई ॥ ३५१॥✡

पर जो कोई उनके भक्तों का अपराध करता है, तो वह श्रीराम की क्रोधाग्नि में जल जाता हैं।

लोकहु बेद बिदित इतिहासा।
यह महिमा जानहि दुरवासा ॥ ३५२॥✡

लोक, वेद और इतिहास से यह ज्ञात होता है। इस महिमा को दुर्वासाजी जानते हैं।

[विष्णुजी ने दुर्वासा से अम्बरीष की रक्षा अपने सुदर्शन चक्र-द्वारा की है। इस कथा से भी यही सिद्ध होता है कि विष्णु भगवान ही ने राम-अवतार लिया था।]

***दोहा*–मनहुँ न आनिय अमर पति, रघुबर भगत अकाज।**
अजस लोक परलोक दुख, दिन दिन सोक समाज ॥ ५१॥✡

हे देवराज ! श्रीरामजी के भक्तों का काम बिगाड़ने की बात मन में भी न लाइए। ऐसा करने से लोक में अपयश और परलोक में दुःख होगा और शोकादि दिनों-दिन बढ़ता ही चला जाएगा।

सुनु सुरेस उपदेस हमारा।
द रामहिँ सेवक परम पियारा ॥ ३५३॥✡

हे सुरपति ! हमारा उपदेश सुनो। श्रीरामजी को अपना सेवक परम प्रिय है।

मानत सुख सेवक सेवकाई।
सेवक बैर बैर अधिकाई ॥ ३५४॥✡

वे अपने भक्तों की सेवा में सुख मानते हैं और उनके साथ वैर करने से बड़ा भारी वैर मानते हैं।

जद्यपि सम नहिँ राग न रोषू।
गहहिँ न पाप पुन्य गुन दोषू ॥ ३५५॥✡

यद्यपि वे समत्व भाव में हैं–उनमें राग-रोष नहीं हैं और न वे

किसी का पाप-पुण्य या गुण-दोष ही ग्रहण करते हैं।

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ ३५६॥*

उन्होंने विश्व को कर्म-प्रधान बना रखा है। जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल भोगता है।

तदपि करहिँ सम विषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ ३५७॥

तो भी भक्तों और अभक्तों के हृदय के अनुसार (राम) सम और विषम भाव से व्यवहार करते हैं।

अगुन अलेप अमान एक रस।
राम सगुन भये भगत प्रेम बस॥ ३५८॥

जो राम अगुण, निर्लेप, मान-रहित और एक-रस हैं, वे ही भक्तों के प्रेम के वश होकर सगुण (शरीरधारी) हुए हैं।

[यह चौ० भी बतलाती है कि राम का सनातन मूल स्वरूप निर्गुण है और सगुण रूप असनातन है।]

राम सदा सेवक रुचि राखी।
बेद पुरान साधु सुर साखी॥ ३५९॥

राम ने सदा सेवक की रुचि रखी है; वेद, पुराण, साधु और देवता इनके साक्षी हैं।

गुरु के इन उपदेशों को सुन इन्द्र को बोध हो गया। भरतजी आगे बढ़ते गये। अन्त में श्रीरामजी को मालूम हो गया कि भरत दल-बल-समेत आ रहे हैं। भाई और स्त्री के सहित राम विचारने लगे कि भरत क्यों आ रहे हैं ? लक्ष्मण ने कहा कि जब भरतजी सदल-बल आ रहे हैं, तब जान पड़ता है कि वे राज्य पाकर मस्त हो गए हैं, अब युद्ध कर हमलोगों को मारकर अकण्टक राज्य करना चाहते हैं; क्योंकि ऐसा कौन है, जो राज्य पाकर बौरा नहीं जाता है ? देखिए-

***दोहा*-ससि गुरु तिय गामी, नहुष चढ़ेउ भूमि सुर जान।**
लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेन समान॥ ५२॥

चन्द्रमा ने गुरु-पत्नी से गमन किया। नहुष ब्राह्मणों को कहार बनाकर पालकी पर चढ़े। बेनु के समान अधम, लोक-वेद से विमुख कोई नहीं हुआ।

सहस बाहु सुर नाथ त्रिसंकू।
केहि न राज मद दीन्ह कलंकू ।। ३६०।।✡

सहस्त्रबाहु, सुरराज इन्द्र और त्रिशंकु आदि में किसको राजमद ने कलंकित नहीं किया ? (अर्थात् सबको कलंकित किया।)

इतना कह लक्ष्मणजी भरतजी से युद्ध करने को जाने के लिए श्रीरामजी से आज्ञा माँगने लगे। इसी समय आकाश-वाणी हुई–

अनुचित उचित काज कछु होऊ।
समुझि करिय भल कह सब कोऊ ।। ३६१।।✡

कोई भी काम हो, उचित-अनुचित सोच-समझकर किया जाए तो सब कोई अच्छा कहते हैं।

सहसा करि पाछे पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं ।। ३६२।।

जो जल्दबाजी करके पछताते हैं, वेद और पंडित कहते हैं कि वे बुद्धिमान नहीं हैं।

देव-वाणी सुन लक्ष्मणजी सकुचा गए। श्रीसीता-राम ने उनको आदर से बिठा लिया। श्रीरामजी ने भरतजी के सदाचरण और सद्गुणों का वर्णन करके लक्ष्मणजी को समझा दिया कि भरतजी को राज-मद नहीं हो सकता है।

भरतजी नदी-किनारे पहुँच, सबों को वहाँ ठहरा, शत्रुघ्न और निषादनाथ गुह को संग ले बड़े व्यग्र चित्त से रामजी के आश्रम में प्रवेश कर, उनके सम्मुख जा गिरे। श्रीरामजी ने उन्हें उठा छाती से लगा लिया। जब भरत, शत्रुघ्न और गुहनिषाद अत्यन्त प्रेम से राम, सीता और लक्ष्मण से मिल चुके, तब गुहनिषाद ने राम की विनती कर कहा कि हे प्रभो ! सब माताएँ, गुरु, ससैन्य सेनापति और सब अवधवासी भी आए हैं। श्रीरामजी सीताजी के पास शत्रुघ्न को रख झटपट गुरु वशिष्ठ के पास जा पहुँचे और

उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने लगे। गुरु ने दौड़कर उन्हें उठा हृदय से लगा लिया। केवट गुह ने भी अपना नाम बतलाकर वशिष्ठजी को दण्डवत् प्रणाम किया। राम-भक्त जानकर वशिष्ठजी बरबस गुहनिषाद से मिले।

राम सखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुटत सनेह समेटा॥ ३६३॥✡

ऋषि वशिष्ठजी राम-सखा जानकर गुह निषाद से बलपूर्वक मिले। मानो जमीन पर लोटते हुए प्रेम को समेट लिया हो।

रघुपति भगति सुमंगल मूला।
नभ सराहि सुर बरषहिं फूला॥ ३६४॥✡

श्रीरामजी की भक्ति श्रेष्ठ कल्याणों की जड़ है, देवगण इसकी प्रशंसा करते हुए देवगण आकाश से फूल बरसाने लगे।

यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥ ३६५॥✡

वे कहने लगे—इसके (गुहनिषाद के) समान सर्वथा अधम कोई नहीं और वशिष्ठ के समान महान कौन है? (कोई नहीं।)

***दोहा*—जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक, मिले मुदित मुनि राउ।**
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ॥ ५३॥

जिसको देखकर वशिष्ठजी लक्ष्मणजी से बढ़कर प्रसन्नता के साथ मिले। वह राम के भजन की महिमा का प्रताप प्रत्यक्ष है।

फिर श्रीराम-लक्ष्मण माताओं और पुरजनों से मिल उन्हें अपने आश्रम में ले आए और यथायोग्य सबको वासा दिया। राजा दशरथ का मरण श्रीराम को जनाया गया। श्रीराम ने अत्यन्त शोक किया, फिर गुरु की बताई रीति से पिता का श्राद्धादि कर्म किया। कई दिनों के पीछे श्रीराम के पास सब लोग एकत्रित हुए। उस सभा में वशिष्ठजी ने श्रीराम से कहा कि मेरी बुद्धि भरत की भक्ति के वश में हो गई है, इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि भरत की रुचि रखकर जो किया जायगा, वह शुभ होगा।

श्रीरामजी गुरुजी का प्रेम भरत पर देख प्रसन्न हो भरत की बड़ाई करते हुए बोले—

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहु वेदहु बड़ भागी ।। ३६६।।

जो गुरु के चरण-कमल के प्रेमी हैं, वे लोक में भी और वेद में भी बड़े भाग्यवान माने जाते हैं।

फिर बोले—हे गुरो ! आपकी आज्ञा के अनुसार मैं भी कहता हूँ कि भरत जो कहेंगे, वही करने में भलाई है। इतना कह राम चुप हो गए। तब गुरु वशिष्ठ भरत से बोले कि हे तात ! अब तुमको जो कुछ कहना हो, जी खोलकर अपने प्यारे जेठे भाई से कहो। गुरु-आज्ञा और राम का रुख देख भरत सभा में उठ खड़े हुए और नम्रता से करुणा और ग्लानि-भरी बातें कहने लगे। वे विशेष कर बोले कि मैं अत्यन्त अभागा हूँ। मेरे ही अभाग्य से सबको दुःख हुआ है। भरत की दुःखपूर्ण बातें सुन वशिष्ठजी ने अनेक बोध-दायक इतिहासों को कहकर उनका प्रबोध किया। फिर श्रीराम भरत से कहने लगे—

तात जीय जनि करहु गलानी।
ईस अधीन जीव गति जानी ।। ३६७।।

हे तात ! मन में ग्लानि मत करो, जीव की गति ईश्वर के अधीन समझनी चाहिए।

तात कुतरक करहु जनि जाये।
बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये ।। ३६८।।

हे भाई ! व्यर्थ की कुतर्कणा मत करो, वैर और प्रेम छिपाने से नहीं छिपता है।

मुनि गन निकट बिहँग मृग जाहीं।
बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ।। ३६९।।

पक्षी और पशु मुनियों के निकट जाते हैं, किन्तु बाधा डालनेवाले और वधिक (बहेलिए) को देखकर भाग जाते हैं।

हित अनहित पसु पच्छिउ जाना।
मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना ।। ३७०।।

शत्रु और मित्र को पशु-पक्षी भी जानते हैं, मनुष्य-शरीर तो गुण और ज्ञान का भण्डार है।

फिर राम भरत से कहने लगे-हे भाई ! मैं तुमको अच्छी तरह जानता हूँ। पर क्या करूँ, जिस पिताजी ने मेरे प्रेम में अपना शरीर छोड़ दिया, उनका वचन मेटते मुझे बड़ा सोच होता है। उससे अधिक तुम्हारा संकोच है, तिस पर गुरु महाराज ने आज्ञा दी है कि भरत की रुचि के अनुसार करने में भलाई है। इसलिए अब तुम सब संकोच छोड़कर कहो। तुम जो कहोगे, मैं वही करूँगा।

राम का वचन सुन भरत अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और हाथ जोड़कर बोले-हे नाथ ! आपका स्वभाव तो सकल-सुखदायक है। हे प्रभो ! अब ऐसा कीजिए, जिसमें आपके चित्त में क्षोभ न हो और भक्त जनों की भलाई भी हो; क्योंकि-

जो सेवक साहिबहिँ सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची ।। ३७१।।

जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपनी भलाई चाहता है, उसकी बुद्धि नीच है।

सेवक हित साहिबहिँ सेवकाई।
करइ सकल सुख लोभ बिहाई ।। ३७२।।

सेवक की भलाई तो सब सुख और लोभ छोड़कर स्वामी की सेवा करने में है।

फिर विशेष प्रार्थनापूर्वक बोले कि हे स्वामी ! या तो लक्ष्मण और शत्रुघ्न को घर भेजकर मुझे आप अपने साथ रखिए या मैं दोनों छोटे भाइयों के साथ वन में रहता हूँ, आप सीताजी-सहित घर लौट जाइए या प्रभु (आप) जिसमें आनन्द मानें, वह आज्ञा दें, मैं उसके अनुसार चलूँगा। राम इन बातों का उत्तर देने नहीं पाए थे कि उसी समय राजा जनक का दूत आ पहुँचा और बोला कि तिरहुत-राज चले आ रहे हैं। राम भाइयों के साथ राजा जनक की अगवानी को आगे बढ़े। राजा जनक के पहुँचने पर सब कोई उनसे यथा-योग्य भाव से मिले। फिर राजा जनक और उनके साथ आए हुए आदमियों को यथा-योग्य वासा दिया गया। राम की दशा देख जनक विह्वल हो गए। मुनियों ने उनको बहुत उपदेश दिया। गुरु वशिष्ठ ने धीरज धराया।

महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! जिन राजा जनक के ज्ञान-रूपी सूर्य से संसार (माया-रूपी) रात्रि का नाश हो जाता है और जिनके वचन-रूपी किरणों से मुनि-रूपी कमल खिलते हैं, क्या उनके पास मोह आ सकता है ? उनकी यह दशा तो केवल राम के प्रेम की बड़ाई है; क्योंकि–

बिषयी साधक सिद्ध सयाने ।
त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ।। ३७३।।

वेद ने वर्णन किया है कि संसार में विषयी, साधक और सिद्ध; तीन प्रकार के सयाने जीव हैं।

राम सनेह सरस मन जासू ।
साधु सभा बड़ आदर तासू ।। ३७४।।

जिसका मन राम के प्रेम-रस से युक्त है, साधु-सभा में उसका बड़ा आदर है।

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू ।
करनधार बिनु जिमि जलयानू ।। ३७५।।

राम के प्रेम-बिना ज्ञान शोभा नहीं पाता है, जैसे बिना मल्लाह के जहाज (शोभा नहीं पाता है)।

जब अवध और मिथिला के निवासियों को चित्रकूट में रहते अधिक दिन हो गए, तब एक दिन श्रीराम गुरु वशिष्ठ के पास जाकर बोले कि हे गुरुदेव ! सब लोगों को यहाँ रहते बहुत काल बीत गए। अब जैसा उचित हो, सबको आज्ञा दें। गुरु बोले कि हे राम ! तुम्हारे बिना सब सुख-साज और दोनों राज-समाज नरक के तुल्य हैं। और–

सो सुख करम धरम जरि जाऊ ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ ।। ३७६।।✡

वे सुख, कर्म, धर्म जल जाएँ, जहाँ श्रीराम के चरण-कमलों में प्रेम नहीं है।

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू ।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ।। ३७७।।✡

वह योग कुयोग (आडंबर) और वह ज्ञान अज्ञान है, जिसमें श्रीराम-प्रेम की प्रधानता नहीं है।

इतना कह गुरु ने राम को अपने आश्रम में लौट जाने को कहा। पीछे वशिष्ठजी भरत को संग ले राम के पास आए। सभा में भरतजी अनुनय, विनय और क्षमा-प्रार्थना के साथ बोले-

सहज सनेह स्वामि सेवकाई।
स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥३७८॥

स्वार्थ, छल और चारो फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को छोड़कर प्रभु की सेवा में स्वाभाविक प्रेम करूँ।

आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।
सो प्रसाद जन पावइ देवा॥३७९॥

आज्ञा पालन के समान अच्छे प्रभु की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव! यह सेवक वही प्रसाद पाए।

फिर विह्वल हो भरत ने राम के चरण पकड़ लिए। राम ने हाथ पकड़ भरत को अपने पास बिठा लिया। भरत का व्यवहार देखकर करुणा तथा विनय-पूर्ण बातों को सुन-सुनकर राम-सहित सम्पूर्ण समाज स्नेह से शिथिल हो रहा था।

***सोरठा*-देखि दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर नारि सब।**
मघवा महा मलीन, मुये मारि मंगल चहत॥५४॥✡

दोनों समाजों के सभी नर-नारियों को दीन और दुःखी देखकर अपवित्र मन वाला इन्द्र मरे हुए को मारकर अपना मंगल चाहता है। (मघवा = इन्द्र)।

कपट कुचालि सींव सुरराजू।
पर अकाज प्रिय आपन काजू॥३८०॥

इन्द्र कपट और कुचाल की सीमा है, उसको दूसरे का अकाज और अपना काज प्यारा है।

काक समान पाक रिपु रीती।
छली मलीन न कतहुँ प्रतीती॥३८१॥

इन्द्र की रीति कौए के समान छली, मलिन और कहीं विश्वास न करने की है।

हे पार्वती ! इन्द्र (आदि देवताओं) ने दोनों समाज में उच्चाटन डाल दिया। उसके प्रभाव से भरत, जनक और मुनि जन आदि साधु पुरुषों को छोड़कर सब दुःखी हो गए।

लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू।
सरिस स्वान मघवान जुबानू॥३८२॥

लोगों को देव-माया से दुःखित जान रामजी मन में हँसकर बोले—कुत्ता, इन्द्र और युवा पुरुष की प्रकृति एक समान है।

फिर बोले—हे भाई ! सुनो, तुम सूर्य-वंश की रीति, पिताजी के यश और प्रेम को जानते हो। जो माता, पिता और गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह सब धर्मों का धारण करनेवाला होता है। तुम स्वयं उस धर्म का पालन करो और मुझसे पालन कराकर सूर्य-वंश के रक्षक बनो। विपत्ति को बाँट लो। तुमको चौदह वर्ष की अवधि-पर्यन्त बड़ी कठिनाई है। कोमल जानकर भी तुमको कठोर वचन कहता हूँ। हे भाई ! क्या करूँ ? यह कुसमय कहलाता है, मेरा कोई दोष नहीं। सुनो—

होहिं कुठाँय सुबन्धु सहाये।
ओड़ियहि हाथ असनि के घाये॥३८३॥

अच्छे भाई कुठाम में सहायक होते हैं, (जैसे) वज्र की चोट से रक्षा करने के लिए हाथ ही ओट देता है।

***दोहा*—सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिब होइ।**
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकबि सराहहिँ सोइ॥५५॥

सेवक को हाथ, पैर और आँख के समान और स्वामी को मुख के समान होना चाहिए। तुलसीदास कहते हैं कि इनकी प्रीति की रीति सुनकर अच्छे कवि बड़ाई करते हैं।

रामजी का वचन सुन सभा शिथिल थी। भरतजी सन्तुष्ट हो बोले—हे प्रभु ! मुझको वनवास की अवधि तक अवध की सेवा करने की राजाज्ञा दीजिए और कुछ ऐसा अवलम्ब दीजिए, जिसकी सेवा कर मैं चौदह वर्ष का समय काट सकूँ। रामजी बोले—हे भाई ! हम, तुम—दोनों की भलाई पिता की आज्ञा पालन करने में है; क्योंकि—

गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले ।
चलेहु कुमग पग परइ न खाले ॥ ३८४॥

गुरु, पिता, माता और स्वामी का उपदेश मानकर कुमार्ग में भी चलने से पैर गढ़े में नहीं पड़ता है।

अस बिचारि सब सोच बिहाई ।
पालहु अवध अवधि भरि जाई ॥ ३८५॥✡

ऐसा विचारकर सब सोच छोड़कर अयोध्या जाकर (निर्धारित चौदह वर्ष की) अवधि तक प्रजा-पालन करो।

देश कोस पुरजन परिवारू ।
गुरु पद रजहिं लाग छर भारू ॥ ३८६॥

देश, भण्डार, पुरवासी और परिवार का बुरा बोझ (भारी बोझ) गुरु की चरण-रज में लगा है।

तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी ।
पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी ॥ ३८७॥

तुम मुनि, माता और मंत्रियों की शिक्षा मान पृथ्वी, प्रजा और राजधानी का पालन करना। और सुनो–

***दोहा*–मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहँ एक ।**
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित बिबेक ॥ ५६॥✡

परिवार के मुखिया को मुँह के समान होना चाहिए, जो खाने-पीने को तो एक (अकेला ही) है; परन्तु विवेक सहित वह सब अंगों का पालन-पोषण करता है।

इस तरह उत्तम उपदेश देकर रामजी ने भरतजी को अपनी खड़ाऊँ दे दी। भरतजी ने उसे बड़े आदर और स्नेह से ग्रहण किया। फिर भरतजी रामजी को दण्डवत् प्रणाम कर उनसे विदा माँग अवध-वासियों को, जो उनके साथ आए थे, संग ले अवध को लौट गए। अवध पहुँच वहाँ का सब प्रबन्ध कर नन्दि ग्राम में अपनी कुटी बना, नित्य नियम से रह, राम की खड़ाऊँ को सिंहासन पर रखकर उसका पूजन करने लगे।

रामचरितमानस-सार सटीक
द्वितीय सोपान-अयोध्याकाण्ड समाप्त

रामचरितमानस-सार सटीक

तृतीय सोपान-अरण्यकाण्ड

इधर चित्रकूट में एक दिन सीता, राम और लक्ष्मण बैठे थे कि राजा इन्द्र के पुत्र जयन्त ने राम का बल थाहने के लिए कौए का रूप धर सीताजी के पैर में चोंच से मारा। घाव से रुधिर चल पड़ा। राम ने उस पर मन्त्र पढ़ ब्रह्मास्त्र छोड़ा। काग-रूप जयन्त ब्रह्मास्त्र के डर से भाग चला। वह निज रूप धरकर एक-एक कर अपने पिता, शिवजी और ब्रह्माजी के पास रक्षा पाने के लिए गया; परन्तु उसे किसी ने बैठने तक नहीं कहा; क्योंकि राम के शत्रु की रक्षा कोई भी नहीं कर सकता है।

मातु मृत्यु पितु समन समाना।
सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥३८८॥

कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि हे गरुड़! सुनिये, उस (राम-द्रोह) के लिए माता मृत्यु और पिता यमराज के समान हैं और अमृत भी विष के समान हो जाता है।

मित्र करइ सत रिपु कै करनी।
ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥३८९॥

उसके लिए मित्र सैकड़ों शत्रु के समान करनी करता है और गंगा नदी वैतरणी हो जाती है।

सब जग तेहि अनलहु ते ताता।
जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥३९०॥

सुनो भाई! जो राम से विमुख है, उसके लिए सारा संसार अग्नि से भी विशेष तप्त है।

अन्त में नारदजी के उपदेश से जयन्त राम ही की शरण में गया। राम ने एक आँख नष्ट करके उसे काना बना छोड़ दिया। फिर रामजी चित्रकूट से आगे बढ़ अत्रि मुनि के आश्रम में आए। मुनि ने अत्यन्त हर्षित हो प्रेम-सहित रामजी की पूजा की। फिर

उनको आसान पर बिठा स्तुति करने लगे–

छन्द–नमामि इन्दिरा पतिं। सुखाकरं सतां गतिं ।।
भजे सशक्ति सानुजं, शची पति प्रियानुजं ।। ३।।

हे लक्ष्मीपति, सुख की खानि, सज्जनों के गति-रूप ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप इन्द्र के छोटे प्रिय बन्धु हैं, मैं शक्ति (सीता) और अनुज (लक्ष्मण) के सहित आपको भजता हूँ।

[अत्रि मुनि श्रीराम को इन्द्र का छोटा भाई कह रहे हैं। इसका कारण यह है कि इन्द्र की माता अदिति और पिता कश्यप मुनि हैं। इन्द्र के जन्म के बहुत काल पीछे राजा बलि को छलने के लिए अर्थात् राजा बलि के यज्ञ करते समय उनसे पृथ्वी लेकर इन्द्र को देने के लिए अदिति के व्रत से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान ने उसकी (अदिति की) कोख से वामन अवतार लिया था। इसलिए विष्णु भगवान इन्द्र के छोटे भाई या उपेन्द्र कहलाते हैं। इससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि श्रीराम विष्णु भगवान के ही अवतार थे। सहज निर्गुण स्वरूप परम प्रभु शचीपति इन्द्र के छोटे भाई नहीं कहला सकते।]

अत्रि मुनि की स्त्री अनसूया देवी सीताजी को अपने पास आदर से बिठाकर पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देने लगीं–

मातु पिता भ्राता हितकारी।
मित प्रद सब सुनु राजकुमारी ।। ३९१।।

हे राजकुमारी सीताजी ! सुनो, माता, पिता और भाई की हितकारिता तौली हुई (परिमित) है।

अमित दानि भर्त्ता बैदेही।
अधम सो नारि जो सेव न तेही ।। ३९२।।

परन्तु हे सीताजी ! पति अपरिमित सुख देनेवाले हैं। वह स्त्री अधम है, जो उनकी (पति की) सेवा नहीं करती है।

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परखियहिं चारी ।। ३९३।।

धीरज, धर्म, मित्र और स्त्री की परीक्षा विपत्ति-काल में होती है।

बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना।
अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना॥३९४॥

बूढ़ा, रोगी, अज्ञानी, निर्धन, अन्धा, बहरा, क्रोधी और बहुत दुःखी,

ऐसेहु पति कर किय अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥३९५॥

ऐसे भी पति का अपमान करने से स्त्री यमपुर में अनेक दुःख पाती है।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा।
काय बचन मन पति पद प्रेमा॥३९५क॥✡

स्त्रियों के लिए एक ही धर्म और एक ही व्रत का नियम है–शरीर, वाणी और मन से पति के चरणों में प्रेम करना।

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं।
बेद पुरान सन्त सब कहहीं॥३९६॥✡

वेद पुराण और संत सभी ऐसा कहते हैं कि जगत में चार प्रकार की पतिव्रता नारियाँ होती हैं।

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥३९७॥✡

उत्तम श्रेणी की पतिव्रता नारी का मन उसके वश में इस प्रकार रहता है कि उसको जगत में (स्व–पति को छोड़कर) पर–पुरुष स्वप्न में भी नहीं दीखता है।

मध्यम पर पति देखहिं कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥३९८॥✡

मध्यम श्रेणी की पतिव्रता नारी पराए पति को कैसे देखती है–जैसे कि वह अपना सगा भाई, पिता या पुत्र हो। (अर्थात् अपनी उम्र के पुरुष को भाई, अधिक उम्र वाले को पिता और कम उम्र वाले को पुत्र–सम देखती है।)।

धरम बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट तिय स्त्रुति अस कहई॥३९९॥

जो धर्म को विचार और कुल को (कुल की प्रतिष्ठा को) समझकर रह जाती है, वेद कहता है कि वह तुच्छ स्त्री है।

बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानहु अधम नारि जग सोई॥४००॥

जो अवसर न मिलने के कारण और गुरुजनों के डर से रह जाती है, जगत में उसको अधम पतिव्रता स्त्री जानो।

पति बंचक पर पति रति करई।
रौरव नरक कलप सत परई॥४०१॥

जो स्त्री अपने पति को ठगकर दूसरे पुरुष से प्रेम करती है, वह सौ कल्प तक रौरव नरक में पड़ती है।

छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समझ तेहि सम को खोटी॥४०२॥

जो क्षण भर के सुख के लिए सौ करोड़ जन्मों के दुःख को नहीं समझती, उसके समान खोटी कौन है?

बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥४०२क॥

जो स्त्री कपट छोड़कर पातिव्रत्य धर्म को धारण करती है, वह बिना परिश्रम के परम गति पाती है।

[पति-सेवा सगुण-उपासना के तुल्य है। इस उपासना से वह परमपद प्राप्त नहीं होता है, जो 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' है। हाँ, उसको स्वर्गादि लाभ होते हैं और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। चौ० सं० ४०२ में जो 'परम गति' कहा है, सो स्वर्ग आदि अणिमादि लाभ को ही कहा गया है। कैवल्य पद की गति वह है, जो महाभक्तिन श्रीशवरीजी को हुई थी, जिनके लिए लिखा है कि 'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिँ फिरै।' शवरीजी से श्रीराम ने कहा था कि 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥' और 'जोगिवृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आज सुलभ भइ सोई॥' योगियों की दुर्लभ गति निज सहज स्वरूप की प्राप्ति ही है और निज सहज स्वरूप के विषय में गोस्वामी तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं–

'अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छण देखिए। संतोष सम सीतल सदा दम देहवन्त न लेखिये ॥ निर्मल निरामय एक रस तेहि हरष सोक न व्यापई । त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥' यह निज सहज स्वरूप निर्गुण आत्म-स्वरूप है, जो योगतत्त्वोपनिषद् में लिखा है-'सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादि गुण प्रदम् । निर्गुण ध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥ १०५॥' अर्थात् सगुण का ध्यान अणिमा आदि गुणों का देनेवाला है और निर्गुण-ध्यान से युक्त को समाधि होती है। शवरीजी से श्रीराम ने जो नवधा भक्ति का वर्णन किया था, उसमें नवधा भक्ति के अतिरिक्त केवल पातिव्रत्य धर्म के पालन से भी 'जोगिवृन्द दुर्लभ गति' और 'सहज स्वरूप की प्राप्ति' होती है, सो नहीं लिखा है। स्वर्ग और अणिमादि सिद्धियों के लिए रामचरितमानस में यह लिखा है कि रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई । बुद्धिहि लोभ दिखावइ आई ॥ होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितब न अनहित जानी ॥' और 'एहि तन कर फल विषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥' ईश्वर के सगुण और निर्गुण, रूप और स्वरूप की भक्ति के बिना परम गति वा मुक्ति नहीं होती। 'बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल । बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥' (रा० च० मा०)

चौ० सं० ३९५ (क) और ४०२ (क) विदित करती है कि स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पातिव्रत्य धर्म ही एक धर्म है, जिसे वे छल छोड़कर करें। बालकाण्ड में श्रीसीताजी का विवाह श्रीरामजी से हो जाने पर श्रीसीताजी की माता उन्हें श्रीराम के साथ सासुर जाने के लिए विदा करने के समय सिखावन देती है। 'सासु-ससुर गुरु सेवा करेहू । पति रुख लखि आयसु अनुसरेहु ॥' इस चौ० से विदित होता है कि स्त्रियों को चाहिए कि वे सास, ससुर और गुरु की सेवा करें तथा पति के मनोभाव को उनके चेहरे वा संकेत द्वारा जानकर उनकी सेवा का आचरण करें। उत्तरकाण्ड में दोहा है-'पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥'

अरण्यकाण्ड में नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए भगवान श्रीराम श्रीशवरीजी से कहते हैं-

नव महँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनी मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥

नवधा भक्ति में श्रीराम ने श्रीशवरीजी से पति-सेवा के विषय में कुछ नहीं कहा; किन्तु 'गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।' और 'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥' तो कहा ही है। शवरीजी की जो परम गति हुई है, सो इस प्रकार लिखित है-'तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरै।' इन सब उद्धरणों से जानना चाहिए कि स्त्रियों के लिए मोक्ष के हेतु उनके घरों के सास, ससुर, गुरु और पति की सेवा में यथायोग्य बरतते हुए साथ-ही-साथ ईश्वर-भक्ति में अनुरक्ति रहनी चाहिए। चौ० सं० ३९५ (क) में 'एकहि धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥' कहा गया है, सो पति-सेवा की ओर बहुत जोर दिया गया है और इसी से परम गति प्राप्त करने को भी कहा गया है। इससे 'बारि मथे घृत होय बरु, सिकता तें बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥' यह अपेल सिद्धान्त कट जाता है और 'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥' भी गौण हो जाता है। फिर यह भी 'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥' का महत्त्व भी मटियामेट हो जाता है। जो 'परम गति' पति-सेवा से मिलती है और जो 'मोक्ष-सुख' ईश्वर-भक्ति से मिलता है; दोनों एक ही है, यह मानने योग्य नहीं है। पति-सेवा की परम गति में पत्नी पुण्य लोकों में जाकर पति के साथ उस लोक के सुख में रहेगी, जिसके लिए 'एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥' रामचरितमानस में लिखा है। परन्तु ईश्वर-भक्ति से शवरीवाली गति को पहुँचेगी। शवरी योग-युक्त होकर भक्ति करती थी। इसीलिए 'तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिँ फिरै।' यह परम गति शवरी

की हुई। और गोस्वामी तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं-'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि जोगी। सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी ॥ सोक मोह भय हरष दिवस निसि देश काल तहँ नाहिं । तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहिं ॥' यह 'देश कालातीत हरि पद' 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' है। यह 'अतिशय द्वैत वियोगी' को ही प्राप्त होने योग्य है। अतएव स्त्रियों को पति-भक्ति के सहित ईश्वर-भक्ति भी श्रीशवरीजी की भाँति योग-युक्त होकर अवश्य करनी चाहिए।]

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई ।
बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥ ४०३॥

जो पति के प्रतिकूल होती है, वह जहाँ जाकर जन्म लेती है, जवानी पाकर विधवा हो जाती है।

फिर राम अत्रि मुनि के से विदा हो रास्ते में कबन्ध राक्षस को मारकर शरभंग मुनि के पास पहुँचे। शरभंग मुनि श्रीराम से भक्ति का वर माँग उनके सामने चिता रचकर उसपर बैठ अग्नि से युक्त होकर अपना शरीर जला वैकुण्ठ चले गए। वहाँ से चलकर श्रीरामजी सुतीक्ष्ण मुनि को दर्शन दे, उनका संग कर अगस्त्य मुनि के आश्रम पहुँचे। अगस्त्य मुनि ने उनका बड़ा सत्कार किया और पंचवटी में कुटी बनाकर उनको रहने की सम्मति दी। रामजी पंचवटी में कुटी बनाकर रहने लगे। एकबार नम्रतापूर्वक लक्ष्मणजी ने रामजी से पूछा कि हे प्रभु ! कृपा करके कहिए कि ज्ञान क्या है, विराग क्या है, भक्ति क्या है तथा ईश्वर और जीव के भेद को भी समझाकर कहिए। राम ने कहा हे भाई ! मैं थोड़े में सब समझाकर कहता हूँ, तुम चित्त देकर सुनो।

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥ ४०४॥

मैं और मेरा, तैं और तेरा माया है, जिसने सब जीवों को अपने वश में कर रखा है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ॥४०५॥

हे भाई ! इन्द्रियों को जो कुछ प्रत्यक्ष है और जहाँ तक मन जाता है, वह सब माया ही जानो।

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥४०६॥

उसके जो भेद हैं, उसे भी तुम सुनो; एक विद्या माया और दूसरी अविद्या माया है।

एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा ॥ ४०७॥

एक अविद्या माया, अत्यन्त दुःख-रूपा है कि जिसके वश में पड़कर जीव संसार-रूपी कुएँ में पड़ा रहता है।

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥४०८॥

दूसरी वह विद्या माया, जो संसार की रचना करती है। उसके वश में सब गुण हैं। उसको अपना बल नहीं है। वह सब कुछ प्रभु की प्रेरणा से करती है।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥४०९॥

ज्ञान वह है, जहाँ एक भी मान न हो; सबमें समान ब्रह्म देखे।

कहिय तात सो परम बिरागी।
तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥४१०॥

हे तात ! उसको परम विरागी कहना चाहिए, जिसने तीन गुणों की सिद्धि को तृण-समान जानकर त्याग दिया है।

[तीन गुणों की सिद्धियों के त्याग से तात्पर्य अणिमा आदि सिद्धियों का, रजोगुण या ब्रह्मा के पद का, सतोगुण या विष्णु-पद का तथा तमोगुण या शिव-पद का त्यागना है अर्थात् त्रयगुणातीत होना वा निर्गुण तत्त्व में लीन होना है।]

दोहा—माया ईस न आप कहँ, जान कहिय सो जीव ।
बन्ध मोच्छ-प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव ॥५७॥

जो माया, ईश्वर और अपनी आत्मा को नहीं जानता है, उसे जीव कहते हैं। बन्धन और मुक्ति को देनेवाले, सबके परे और माया के प्रेरक को ईश्वर कहते हैं।

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना ।
ज्ञान मोच्छ-प्रद बेद बखाना ॥४११॥

धर्म से वैराग्य, वैराग्य से योग और योग से ज्ञान होता है। वेद कहते हैं कि ज्ञान मोक्ष का देनेवाला है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई ।
सो मम भगति भगत सुखदाई ॥४१२॥

हे भाई ! जिससे मैं शीघ्र दया करता हूँ, वह मेरी भक्ति भक्तों को सुख देनेवाली है।

सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना ।
तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥४१३॥

वह (भक्ति) स्वतन्त्र है, उसे दूसरे का अवलम्ब नहीं है, ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं।

भगति तात अनुपम सुख मूला ।
मिलइ जो सन्त होहिं अनुकूला ॥४१४॥

हे भाई! भक्ति उपमा-रहित, सुख की जड़ है, यदि सन्त दया करें, तो वह मिलती है।

भगति के साधन कहउँ बखानी ।
सुगम पन्थ मोहि पावहिँ प्रानी ॥४१५॥

मैं भक्ति का साधन वर्णन करता हूँ। इस सुगम मार्ग से प्राणी मुझे पाते हैं।

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।
निज निज धरम निरत स्त्रुति रीती ॥४१६॥

पहले विप्र (वेद-ज्ञाता) के चरण में अत्यन्त प्रेम हो और वेद

की रीति से अपने-अपने धर्म में लगा रहे।

[विप्र, वेद-विद्या में निपुण को कहते हैं। प्रेम से विप्र की सेवा और सत्संग करनेवाले को वेद-रीति और सत् धर्म में लगने का ज्ञान होगा, और उसे वेद का सार तत्त्व वेदान्त—आत्म-ज्ञान का श्रवण और मनन-ज्ञान होगा। इस भाँति ज्ञान प्राप्त करनेवाले को ही चौ० सं० ४१७ में वर्णित फल मिल सकेगा]

एहि कर फल मन बिषय बिरागा।
तब मम धरम उपज अनुरागा॥४१७॥

इसके फल से मन में विषय से विरक्ति होगी, तब मेरे ध र्म में प्रेम उपजेगा।

[यहाँ 'मम धरम' से तात्पर्य राम-भक्ति से है। चौ० सं० ४१६ में वर्णित साधन का फल विषय से विरक्ति है और विषय-विरक्ति का फल राम-भक्ति है। ४१७ सं० की चौ० का यही तात्पर्य झलकता है। रामचरितमानस के अनुसार राम-भक्ति प्राप्त करने के अधिकारी ब्राह्मण से डोम-चाण्डाल-यवन-पर्यन्त सब-के-सब हैं। इसका वर्णन रामचरितमानस के अनेक स्थलों पर है। वेदान्त का श्रवण-मनन-ज्ञान प्राप्त किए बिना विषय से विराग होना असम्भव है और जबकि रामचरितमानस बतलाता है कि विप्र की सेवा करके विषय से वैराग्य प्राप्त करके राम-भक्ति में प्रेम होगा, वही भक्ति के साधन का सुगम पन्थ है, तब इससे साफ-साफ प्रकट होता है कि वेदान्त-ज्ञान (चाहे किसी भाषा में हो) प्राप्त करने का अधिकार रामचरितमानस अत्यन्त उदारता से संसार के सब वर्णों, सब जातियों—बल्कि मनुष्य-मात्र को देता है।]

स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मन माहिं॥४१८॥

श्रवण आदि नौ प्रकार की भक्ति दृढ़ होगी और मेरी लीला की अत्यन्त प्रीति मन में होगी।

सन्त चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥४१९॥

सन्तों के चरण–कमलों में अत्यन्त प्रेम हो; मन, कर्म और वचन से भजन का दृढ़ नियम हो।

गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥४२०॥

गुरु, पिता, माता, भाई, पति–देवता सब कुछ मुझको ही जानकर दृढ़ता से सेवा करे।

मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गद गद गिरा नयन बह नीरा॥४२१॥

मेरा गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय और वाणी गद्‌गद होकर नेत्रों से जल बहे।

काम आदि मद दम्भ न जाके।
तात निरन्तर बस मैं ताके॥४२२॥

हे भाई ! जिसको काम आदि (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य या ईर्ष्या) मद और पाखण्ड नहीं है, मैं सदा उसके वश में रहता हूँ।

***दोहा*–बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम।**
तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा बिश्राम॥५८॥

जिनको वचन, कर्म और मन से मेरा ही अवलम्ब है, जो सब इच्छाओं को त्यागकर भजन करते हैं, उनके हृदय–कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ।

भक्ति–योग का वर्णन सुनकर लक्ष्मणजी को बड़ा सुख हुआ। रामजी पंचवटी में सुख से रहते थे, एक दिन रावण की बहन शूर्पणखा वहाँ आई। राम–लक्ष्मण के अपूर्व रूप को देखते ही वह उन पर आसक्त हो गई; क्योंकि–

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥४२३॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥४२४॥

(चौ० ४२३ का) हे गरुड़जी ! भाई, पिता, पुत्र (आदि कोई हो), सुन्दर पुरुष को देखते ही स्त्रियाँ (चौ० ४२४ का) विकल होकर मन को नहीं रोक सकती हैं। (वे काम-भाव से आसक्त हो जाती हैं)। जैसे सूर्यकान्तमणि सूर्य को देखकर पसीजने लगता है।

शूर्पणखा माया से अपना रूप सुन्दर बनाकर राम के पास गई और उनसे विवाह करने को चाहा। प्रभु ने उसे लक्ष्मणजी के पास भेज दिया। लक्ष्मणजी ने उससे विवाह करना अस्वीकार कर कहा-

सुन्दरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिँ तोर सुपासा ।।४२५।।

हे सुन्दरी ! सुन, मैं तो उनका (रामजी का) दास हूँ, पराधीनता में तेरे लिए सुभीता नहीं होगा।

प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।
जो कुछ करहिँ उनहिँ सब छाजा ।।४२६।।*

प्रभु श्रीराम समर्थ हैं, कोसलपुर के राजा हैं, वे जो कुछ करें, उन्हें सब शोभता है।

सेवक सुख चह मान भिखारी।
व्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी ।।४२७।।
लोभी जस चह चार गुमानी।
नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी ।।४२८।।

सेवक सुख, भिखारी मान, शौकीन (दुर्वृत्तिवाला) धन और पर-स्त्री-गामी अच्छी गति चाहे, लोभी यश चाहे, दूत घमण्डी हो, तो (जानो) ये सब आकाश को दुहकर दूध चाहते हैं।

शूर्पणखा रामजी के पास फिर आई। रामजी ने उसे फिर लक्ष्मणजी के पास भेज दिया। लक्ष्मणजी ने उसे कहा कि तुझे वही ब्याहेगा, जो सब लज्जा छोड़ बैठेगा। यह सुन शूर्पणखा क्रोधित हो गई। वह भयंकर रूप बनाकर रामजी के पास गई। जब सीताजी उसे देखकर डरने लगीं, तब रामजी का संकेत पाकर

लक्ष्मणजी ने उसकी नाक और कान काट लिए। शूर्पणखा रोती हुई अपने भाई खर और दूषण के पास गई। उसकी दशा देख और बातें सुन खर और दूषण सेना साज राम पर चढ़ दौड़े। रामजी ने उन्हें संग्राम में सेना-सहित मार डाला। तब शूर्पणखा रावण के पास लंका में जा रो-रोकर रावण को कहने और उत्तेजित करने लगी–हे रावण ! तू केवल मद्यपान करता और सोता है, तुझे खबर नहीं कि तेरे सिर पर शत्रु आ गया है। सुन–

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा ।
हरिहि समर्पे बिनु सत कर्मा ।।४२९।।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाये ।
स्त्रम फल पढ़े किये अरु पाये ।।४३०।।

बिना नीति के राज्य करने में, धर्म के बिना धन उपार्जन करने में, हरि को समर्पण किए बिना सत् कर्म करने में और बिना विवेक उत्पन्न किए विद्या पढ़ने में केवल परिश्रम भर ही लाभ होता है।

संग तें जती कुमन्त्र तें राजा ।
मान तें ज्ञान पान तें लाजा ।।४३१।।
प्रीति प्रनय बिनु मद तें गुनी ।
नासहिं बेगि नीति अस सुनी ।।४३२।।

संग से संन्यासी, कुविचार से राजा, अहंकार से ज्ञान, मद्य-पान से लज्जा, बिना नम्रता के प्रीति और घमण्ड से गुणी शीघ्र ही नाश हो जाते हैं, हमने ऐसी नीति सुनी है।

***सोरठा*–रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि ।**
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन ।। ५९।।

शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, स्वामी और साँप को छोटा करके न जानना चाहिए। ऐसा कह बहुत तरह से विलाप करके रोने लगी।

रावण ने पूछा कि किसने तुम्हारी यह दशा की है ? शूर्पणखा ने सब बातें कह सुनाईं। रावण अकेले रथ पर चढ़ समुद्र-किनारे मामा मारीच के पास आया और सिर नवाकर

उसे प्रणाम किया। शिवजी कहते हैं-हे पार्वती !

नवनि नीच कै अति दुखदाई।
जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥४३३॥

नीचों की नम्रता अत्यन्त दुःखदायी होती है, जैसे अंकुश, धनुष, साँप और बिल्ली का नवना।

भयदायक खल कै प्रिय बानी।
जिमि अकाल के कुसम भवानी ॥४३४॥

हे पार्वतीजी ! दुष्ट की प्रिय वाणी भय देनेवाली होती है, जैसे बिना समय का फूल का फूलना।

रावण ने मारीच से कहा-'हे मामा ! तुम कपट-मृग बनकर राम के आश्रम के पास जाओ। जब राम शिकार के लिए तुम्हारे पीछे पड़ें, तुम छलकर उन्हें आश्रम से बहुत दूर ले जाना। उस समय मैं उनकी स्त्री सीता को हर लूँगा।' मारीच मृग बनकर वहाँ गया। सीताजी ने पवित्र जानकर उस मृग की खाल रामजी से माँगी। रामजी शिकार के लिए उस मृग के पीछे चले। वह कभी छिपकर और कभी प्रकट होकर बहुत तेजी से भागता हुआ रामजी को बहुत दूर ले गया। अन्त में रामजी ने उसे एक तीक्ष्ण तीर से मार डाला। मारीच ने मरते समय मृग-रूप छोड़ अपने राक्षसी रूप में आ लक्ष्मण को जोर से पुकारा। सीताजी ने मारीच का चिल्लाना सुना। वे लक्ष्मण से बोलीं-'तुम तुरत जाओ, तुम्हारे भाई संकट में पड़े हैं।' लक्ष्मणजी रामजी की आज्ञा से सीताजी की रखवाली में थे, इसलिए उन्हें अकेली छोड़ जाने में आगा-पीछा करने लगे। परन्तु सीताजी के अत्यन्त हठ से वे रामजी के पास उधर चले जिधर से पुकारने का शब्द आया था। इधर सीताजी को अकेली जान, उन्हें हर लेने के लिए रावण डरता हुआ आश्रम की ओर चला-

इमि कुपंथ पग देत खगेसा।
रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥४३५॥

हे गरुड़ ! कुमार्ग में पैर देने से इसी तरह (जैसे रावण को) शरीर में तेज, बुद्धि और बल कुछ नहीं रहता है।

रावण सीताजी को चुराकर भागता जाता था और सीताजी रोती जाती थीं। गिद्धराज राजा दशरथ के मित्र थे। उन्होंने सीताजी का विलाप सुना और पहचान कर उनको ढाढ़स दिया। फिर उनको रावण से छुड़ाने के लिए युद्ध करने लगे। रावण ने गिद्धराज को घायल कर असमर्थ कर दिया और सीताजी को ले लंका की ओर चला। सीता अति विलाप करती जाती थीं। उन्होंने पहाड़ पर सुग्रीव आदि वानरों को देख अपने कुछ वस्त्र गिरा दिए। लंका पहुँच रावण ने सीताजी को अशोक–वाटिका में पहरे के अन्दर रख दिया। इधर रामजी मरीच को मारकर लौटे, तो रास्ते में उनको लक्ष्मणजी अपनी ओर आते हुए मिले। सीताजी को अकेली छोड़, इस तरह लक्ष्मण का आना उनको पसन्द न आया। दोनों भाई लौटकर आश्रम आए, वहाँ सीताजी को न पा, बड़े व्याकुल हो इधर–उधर ढूँढ़ने लगे। दानों भाई ढूँढ़ते हुए वहाँ जा पहुँचे, जहाँ गिद्धराज रावण से लड़ घायल होकर पड़े थे। गिद्धराज ने उन्हें रावण–द्वारा सीताजी के हरण होने और अपनी दुर्दशा का समाचार कह सुनाया। जब गिद्धराज अपने प्राण छोड़ने लगे, तब–

राम कहा तनु राखहु ताता।
मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता ॥ ४३६॥✡

श्रीरामजी ने कहा–हे तात ! शरीर को बनाए रखिए। तब गिद्धराज जटायु ने मुस्कुराते हुए मुँह से ये बातें कहीं।

जाकर नाम मरत मुख आवा।
अधमउ मुकुत होइ स्रुति गावा ॥ ४३७॥✡

मरते समय जिनका नाम मुँह में आ जाने से नीच व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है, ऐसा वेद गाते हैं,

सो मम लोचन गोचर आगे।
राखउँ देह नाथ केहि खाँगे ॥ ४३८॥✡

वही (श्रीराम) मेरे नेत्रों के सामने प्रकट हैं। हे नाथ ! अब मैं किस अभाव की पूर्ति हेतु शरीर को रखूँ ?

जल भरि नयन कहत रघुराई।
तात करम निज तें गति पाई ॥ ४३९॥✡

नेत्रों में अश्रु भरकर श्रीरामजी कहने लगे—हे तात ! अपने शुभ कर्मों से ही आपने शुभ गति पाई है।

पर हित बस जिनके मन माहीं ।
तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।। ४४० ।।

जिनके मन में परोपकार का भाव बसता है, उनके लिए जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

तनु तजि तात जाहु मम धामा ।
देउँ काह तुम्ह पूरन कामा ।। ४४१ ।।

हे तात ! शरीर छोड़कर आप मेरे परम धाम में जाइए। मैं आपको क्या दूँ ? आप तो पूर्णकाम हैं।

***दोहा*—सीता हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाइ ।**
जौं मैं राम त कुल सहित, कहिहिं दसानन आइ ।। ६० ।।

हे तात ! सीता-हरण की बात आप जाकर पिताजी से नहीं कहिएगा। यदि मैं राम हूँ तो दशमुख रावण सपरिवार वहाँ आकर स्वयं ही कहेगा।

गीध देह तजि धरि हरि रूपा ।
भूषन बहु पट पीत अनूपा ।। ४४२ ।।

(जटायु ने) गीद्ध-शरीर त्यागकर विष्णु-रूप धारण किया और बहुत-से दिव्य आभूषण और पीताम्बर पहन लिए।

स्याम गात बिसाल भुज-चारी ।
अस्तुति करत नयन भरि बारी ।। ४४३ ।।

साँवला शरीर और विशाल चार भुजाएँ हैं। नेत्रों में अश्रु भरकर वे स्तुति कर रहे हैं।

छन्द—जय राम रूप अनूप निर्गुन, सगुन गुन प्रेरक सही ।
दस सीस बाहु प्रचंड खंडन, चंड सर मंडन मही ।। ४ ।।

हे राम ! आपकी जय हो। आपका रूप उपमा-रहित है। आप निर्गुण-सगुण रूप और गुणों के प्रेरक (प्रेरणा प्रदान करनेवाले) हैं। आप अपने प्रचण्ड वाणों से रावण की प्रचण्ड (भयानक)

भुजाओं को काटनेवाले और धरती को शोभा देनेवाले हैं।

हरि–रूपधारी गिद्धराज और भी बहुत–सी स्तुतियाँ करके हरिधाम चले गए।

***दोहा*–अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयउ हरि धाम।**
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम॥ ६१॥✡

सदा एक समान रहनेवाली भक्ति का वर माँगकर गिद्धराज जटायु बैकुण्ठ चले गए। श्रीरामजी ने अपने हाथों से उनकी यथोचित (दाह, श्राद्ध आदि) क्रियाएँ कीं।

कोमल चित्त अति दीन दयाला।
कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ ४४४॥

कृपालु रघुनाथजी अत्यन्त कोमल हृदय और बिना कारण ही दीनों पर दया करनेवाले हैं।

गीध अधम खग आमिष भोगी।
गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥ ४४५॥✡

पक्षियों में अधम और मांसाहारी–गिद्धराज को भी वह गति दी, जिसे योगीजन माँगते हैं।

[चौ० सं० ४३६ से ४४५ तक में वर्णन है कि मांस–भक्षी पक्षियों में अधम गिद्ध ने रामजी की स्थूल सेवा करने में अपना शरीर अर्पित कर अत्यन्त प्रेम से उनका दर्शन करते हुए प्राण छोड़ दिए। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की भक्ति करने का फल गिद्ध को यह हुआ कि सगुण ब्रह्म राम भगवान ने उसको अपना–सा रूप (हरि–रूप–सा श्यामला चतुर्भुजी रूप) देकर अर्थात् अपना पार्षद बनाकर अपने धाम को भेज दिया। उन्होंने उसको कह दिया कि तुम सीता–हरण की बात मेरे पिता (स्वर्गीय राजा दशरथ) से जाकर नहीं कहना। यदि मैं राम हूँ, तो रावण कुल–सहित वहाँ जाकर उनसे सीता–हरण की बात कहेगा। चौ० सं० २६४, २६६, २६७ और ४०५ के अनुसार गिद्ध को प्राप्त हरि–रूप और राम का धाम (जिसमें वह भेजा गया); दोनों मायावी थे, परमार्थ–रूप

नहीं थे। इस कारण कहना पड़ता है कि ब्रह्म के केवल सगुण रूप को प्रत्यक्ष पाकर भी भक्त माया में ही रह जाता है, परम मोक्ष नहीं पाता है। चौ० सं० ४४५ में यह भी कहा गया है कि गिद्धराज को रामजी ने वह गति दी, जिसकी याचना योगीजन करते हैं। पर जानना चाहिए कि सब योगी एक तरह के नहीं होते हैं। चौ० सं० ९२, ९३ और २७० में जिस प्रकार के योगी का वर्णन है, वैसे योगी माया के सर्वोत्कृष्ट पद–गिद्धराज जटायु और राजा दशरथ आदि को प्राप्त हरि-धाम और साम्यावस्थाधारणी अव्यक्त प्रकृति पद तक की भी याचना नहीं करते हैं। बल्कि ऐसे योगी तो उस पद तक को त्यागनेवाले होते हैं, जहाँ लेश-मात्र भी द्वैत और देश-कालादि माया है; क्योंकि देश-काल आदि से परे जिसकी गति नहीं है, उसका संशय निर्मूल होकर नाश नहीं होता है और संशय-युक्त पुरुष मोक्ष कदापि नहीं पा सकता है। (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित 'विनय-पत्रिका' की पद-सं० १६७ पढ़िए।)]

सुनहु उमा ते लोग अभागी ।
हरि तजि होहिँ बिषय अनुरागी ।। ४४६।।

(महादेवजी कहते हैं) हे पार्वती ! सुनो, वे लोग भाग्य-हीन हैं, जो हरि की भक्ति में मन न लगाकर विषय की चिन्ता करते रहते हैं।

राम और लक्ष्मण दोनों भाई गिद्ध की यथोचित क्रिया करके सीताजी को ढूँढ़ते हुए आगे बढ़े। रास्ते में कबन्ध नामी राक्षस मिला। वह दुर्वासा के शाप से राक्षस हुआ था। श्रीराम ने उसे मार डाला। उसकी राक्षसी देह छूट गई और पूर्व की गन्धर्व-देह उसे पुनः मिली, तब उसने रामजी से अपना सब वृत्तान्त कहा। रामजी ने कहा–

सुनु गन्धर्व कहउँ मैं तोही ।
मोहि न सुहाइ ब्रह्म कुल द्रोही ।। ४४७।।

हे गन्धर्व ! सुनो, मुझे ब्राह्मण-कुल से द्रोह करनेवाला नहीं सुहाता है।

[मनुस्मृति, तृतीय अध्याय के श्लोक १५० से १६७ तक में चोर, जुआरी, वेद नहीं पढ़े हुए, बहुत-से यजमानों को एक साथ बिठाकर यज्ञ करानेवाले, वैद्य, धन ठहराकर पूजा करनेवाले पुजारी, ब्याज खानेवाले, चरवाहे, आजीविका के लिए नाचने-गाने-बजानेवाले, पर-स्त्री से ब्रह्मचर्य नष्ट करनेवाले, मजदूरी ठहराकर वेद-शास्त्र पढ़ानेवाले, मजदूरी देकर वेद-शास्त्र पढ़े हुए, कटुवादी, घर जलानेवाले, विष देनेवाले, समुद्र-यात्री, झूठी गवाही देनेवाले, दूध-दही आदि रस बेचनेवाले, चुगलखोर, नक्षत्र बताकर आजीवका करनेवाले (जोशी), भूत-पिशाच आदि को पूजनेवाले, आचार-भ्रष्ट, धन रहते हुए नित्य भीख माँगनेवाले, खेती पर जीनेवाले और भैंसा पालनेवाले आदि ब्राह्मणों को ब्राह्मण-पंक्ति से बाहर माना गया है।

फिर अध्याय ३, श्लोक १६९ से १७२ तक में कहा गया है कि वेदाध्ययन के लिए कहे हुए व्रतों को न करनेवाले तथा परिवेत्ता आदि और पंक्ति से बाहर के ब्राह्मणों को देव वा पितृकर्म में जो भोजन कराया जाता है, उस भोजन को निस्सन्देह राक्षस खाते हैं। इन वर्णनों से प्रकट है कि केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से कोई यथार्थ ब्राह्मण नहीं होता है। यदि वह कुल (ब्राह्मण कुल) के कर्त्तव्यों के विपरीत चलता है, तो वह राक्षस तक कहलाता है। रामचरितमानस के लंकाकाण्ड में रावण के लिए कहा गया है–'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजहु बहु भाँती ॥' देवों के देव ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य मुनि, उनके पुत्र विश्वश्रवा और उनके पुत्र रावण-कुम्भकर्ण हुए। रावण-कुम्भकर्ण पवित्र ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने पर भी अपने आचरणों से राक्षस कहलाए। अतएव स्वयं श्रीराम भगवान ने उन्हें मार डाला। ऐसा कर्म करने पर भी रामजी ब्रह्मकुल-द्रोही नहीं, वरन् ब्रह्म-कुल-पालक कहलाते हैं। रावण-कुम्भकर्ण ही ब्रह्मकुल-द्रोही थे; क्योंकि वे ब्राह्मण-कुल के कर्त्तव्यों के विपरीत कर्म करते थे। इसीलिए वे श्रीराम भगवान को न सुहाये और इसीलिए उन्होंने उनको मार डाला।

कृष्णावतार में भी स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत के मैदान में ब्राह्मण और गुरु-हत्या के पाप से डरनेवाले पाण्डवों के द्वारा पवित्र ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न द्रोणाचार्य को युक्ति से मरवा डाला। द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा की भी रक्षा श्रीकृष्ण भगवान ने नहीं की।

अश्वत्थामा का प्राण केवल महारानी द्रौपदी की दया से ही बचने पाया। यद्यपि प्राण बच गया, तथापि उसकी अत्यन्त दुर्दशा श्रीकृष्ण भगवान के सामने ही-बल्कि उनकी सहायता पाकर पाण्डवों द्वारा की गई। यद्यपि रावण, द्रोण और अश्वत्थामा वेद-विद्या के बहुत बड़े ज्ञाता थे, तथापि कर्त्तव्यभ्रष्ट होने के कारण इनको मारने-मरवाने में ही भगवान को अच्छा लगा। 'शूद्रेचैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥' जो ब्राह्मण के गुण शूद्र में दृष्टि पड़ें और ब्राह्मण में वर्त्तमान न हों, तो ऐसी दशा में शूद्र शूद्र नहीं और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं गिना जाएगा। (महाभारत, शान्तिपर्व पूर्वार्द्ध, मोक्षधर्म, अध्याय १६) फिर उस गन्धर्व से, जो दुर्वासा के शाप से राक्षस हुआ था, भगवान ने दुर्वासा का पक्ष लेकर कहा था कि 'मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल-द्रोही' और जब दुर्वासा भक्त राजा अम्बरीष को सताने लगे, तो स्वयं भगवान ने ही दुर्वासा के नाश के लिए अपना सुदर्शन चक्र छोड़ा था। इस चक्र से दुर्वासा तभी बचने पाये, जब वे भक्त अम्बरीष की शरण में गए। इन कथाओं से यही प्रकट होता है कि भगवान ब्राह्मण-कुल के पालक अवश्य हैं, परन्तु रावणादि के समान ब्राह्मणों के कुल की रक्षा करने को ब्रह्मकुल-रक्षण वे नहीं मानते और नहीं करते हैं; क्योंकि ऐसे पुरुष उनको नहीं सुहाते हैं।

यथार्थ तो यह है कि भगवान देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल इत्यादि किसी भी कुल के नाशक नहीं हैं। वे सभी कुल के पालक हैं। हाँ, जिन-जिन कुलों के जो-जो पुरुष दुराचारी और अभक्त होते हैं, उनके लिए वे अवश्य ही नाशक हैं।

कौन प्राणी भगवान को प्यारे-विशेष प्यारे हैं, उनका वर्णन रामचरितमानस के अनुसार नीचे लिखे पद्यों में है।भगवान श्रीराम

शवरी से कहते हैं–

‘कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥’

और कागभुशुण्डिजी से भी कहते हैं–

मम माया सम्भव संसारा।
जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सब तें अधिक मनुज मोहि भाये॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज मह स्त्रुतिधारी।
तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त मुनि ज्ञानी।
ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय बिज्ञानी॥
तिन्ह तैं पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं।
मोहि सेबक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥

दोहा–पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥]

***दोहा*–मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव।**
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव॥ ६२॥

जो मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर ब्राह्मणों की सेवा करता है, उसके वश में मेरे सहित ब्रह्मा, शिव और सब देवता रहते हैं।

[चौ० सं० ११ के अर्थ के नीचे कोष्ठ-वर्णित विचारों से मानना पड़ेगा कि भगवान के प्यारे ब्राह्मण भक्ति और ज्ञान के गुण से सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार के ब्राह्मणों की सेवा करने से दो० सं० ६२ में वर्णित फल अवश्य ही मिल सकता है। मेरे जानते तो ऐसे ब्राह्मणों की सेवा से मुक्ति तक मिल सकती है।

रीति है कि विशेष स्थान और अवसर पर मुख्य-मुख्य पुरुषों के ही नाम विशेष कर कहे या गिनाए जाते हैं। वैदिक संसार में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सर्व-पूज्य मुख्य देव हैं। दो० सं० ६२ में भगवान श्रीराम ने अपनी, ब्रह्मा और शिव की गिनती तो कराई, पर विष्णु भगवान का नाम नहीं कहा और मोट में 'सब देव' कह दिया। श्रीराम को विष्णु भगवान से कोई परे पुरुष कहा जाय और यह कहा जाय कि मोट में जो 'सब देव' कहा गया है, उसी में विष्णु भगवान भी आ गए, तो यह ठीक नहीं जँचता। जबकि ब्रह्मा और शिव का नाम पृथक्-पृथक् करके लिया गया, तो यह परम उचित था कि विष्णु भगवान का नाम भी उसी प्रकार पृथक् लिया जाता और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अधीनस्थ देवताओं के साथ नहीं मिला दिया जाता। ऐसे अवसर पर विष्णु भगवान का नाम पृथक् न लेना और उनको साधारण देवताओं के साथ मिला देना, उनका अनादर करना है। रामचरितमानस को विष्णु भगवान का अनादर मान्य है, ऐसा कदापि कहा नहीं जा सकता है। ऐसी दशा में या तो यह कहा जाएगा कि ब्राह्मणों की सेवा से वे वश में होते हैं, जो विष्णु भगवान से पर पुरुष हैं; पर स्वयं विष्णु नहीं। या यह कहना पड़ेगा कि स्वयं राम ही विष्णु भगवान के अवतार हैं और उन्होंने अपने सम्बन्ध में वश होने की बात कह ही दी है। मेरे विचार से दूसरी बात ठीक है; क्योंकि पूर्व में कई स्थलों पर सिद्ध कर दिया गया है कि श्रीराम, विष्णु भगवान के अवतार छोड़ कोई दूसरे नहीं हैं।]

सापत ताड़त परुष कहन्ता।
बिप्र पूज्य अस गावहिँ सन्ता ॥४४८॥

ब्राह्मण शाप देनेवाला, मारनेवाला और कटुवादी होने पर भी पूज्य हैं, ऐसा सन्त लोग कहते हैं।

[मनुस्मृति की तरह धर्म-शास्त्र की आज्ञा के अनुसार शिक्षित यथार्थ ब्राह्मण यदि शाप देंगे वा कटु वचन कहेंगे, तो जिसके प्रति ऐसा बर्त्ताव होगा, उसका अहित न होगा।

'गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़-गढ़ काढ़े खोंट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर बाहै चोट ॥'

(कबीर साहब)

इस वचन में शिष्य के लिए जो लाभ प्रकट होता है, वही लाभ उसको होगा, जिसको सच्चा ब्राह्मण शाप देंगे–मारेंगे वा कटु वचन कहेंगे। इसीलिए सुशिक्षित यथार्थ ब्राह्मण शाप-दाता होने पर भी पूज्य कहे जाते हैं।]

पूजिय बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना ॥४४९॥

शील-गुण से रहित ब्राह्मण को पूजना चाहिए; (क्योंकि) ज्ञान के गुणों में निपुण छोटा नहीं होता है।

[सील गुन = सचाई और नर्मी से बर्त्ताव करने का गुण। सूद्र = क्षुद्र = छोटा = नीच।

इस चौ० का तात्पर्य यह है कि यदि ब्राह्मण शिक्षित है, उसमें ज्ञान का गुण अर्थात् जानकारी या विद्या है, परन्तु शीलता का गुण नहीं है, तो भी वह पूज्य है; क्योंकि विद्यारूपी रत्न उस (ब्राह्मण) से प्राप्त किया जा सकता है। जिनका आदर नहीं किया जाएगा, अपूज्य मानकर जिनकी सेवा न की जाएगी, उनसे विद्या नहीं प्राप्त हो सकती है। इसलिए शील-गुण से हीन विद्वान की भी सेवा करनी चाहिए, उनको पूज्य जानना चाहिए।

पर यदि ऐसा अर्थ किया जाय कि चौथा वर्ण शूद्र यदि ज्ञान-गुण में निपुण हो, तो भी उसे नहीं पूजना चाहिए, तो यह

रामचरितमानस और धर्मशास्त्र; दोनों के विरुद्ध होगा; क्योंकि रामचरितमानस के सप्तम सोपान–उत्तरकाण्ड में लिखा है कि–

'सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुवीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत॥'

यह दोहा साफ तरह से कहता है कि जिस कुल में (चाहे वह कुल चाण्डाल ही का क्यों न हो) भक्त पुरुष उपजते हैं, वह (कुल) संसार भर में पूजे जाने योग्य और अत्यन्त पवित्र है। और चौ० सं० ४१३ में लिखा है कि ज्ञान और विज्ञान भक्ति के अधीन है। इसलिए रामचरितमानस के अनुसार भक्त ज्ञान-गुण में निपुण अवश्य ही होगा। फिर भक्त होने का अधिकार ब्राह्मण से चाण्डाल तक, मनुष्य-मात्र को है और अध्याय २, श्लोक २३८ और २४० में मनुस्मृति आज्ञा देती है कि उत्तम विद्या, उत्तम धर्म शूद्र और चाण्डाल से भी सीखे। 'श्रद्दधानः शुभां विद्या-माददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि॥']

श्रीरामजी का उपदेश सुन, अपनी गति पाकर वह गंधर्व आकाश-मार्ग में चला गया। रामजी वहाँ से चल शवरी के आश्रम में आए। शवरी अपने आश्रम में राम-लक्ष्मण को आए हुए देख हर्ष-प्रेम में मग्न हो गई। उसने दोनों भाइयों को खूब आदर-सत्कार और पूजन कर उत्तम-उत्तम कन्द-मूल-फल लाकर भोजन कराया और सम्मुख हो हाथ जोड़कर कहने लगी–

केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥४५०॥

मैं आपकी स्तुति किस तरह करूँ? मैं नीच जाति की (भीलनी) और भारी जड़ बुद्धिवाली हूँ।

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति मन्द अघारी॥४५१॥

हे पाप के शत्रु! स्त्रियों में जो नीच-से-नीच अत्यन्त नीच होती हैं, तिनमें मैं मन्द बुद्धि की हूँ।

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता ।
मानउँ एक भगति कर नाता ॥ ४५२॥

श्रीरामजी ने कहा—हे भामिनी (स्त्री)! मेरी बात सुन, मैं केवल भक्ति का नाता मानता हूँ।

[भामिनी = सुन्दरी स्त्री, क्रोध करनेवाली स्त्री। शवरी न तो क्रोध करनेवाली थी और न वह सुन्दरी ही थी; परन्तु उसके अन्दर जो सब प्रकार की भक्ति पूरी थी, इसी कारण भक्तिमति जानकर शवरी को श्रीराम ने 'भामिनी' कहा है। भगवान की दृष्टि में भक्ति से बढ़कर दूसरी सुन्दरता नहीं है; क्योंकि उनको केवल भक्ति से ही नाता है।]

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई ।
धन बल परिजन गुन चतुराई ॥ ४५३॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा ।
बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥ ४५४ ॥

मनुष्य में जाति-पाँति, कुल-धर्म का बड़प्पन, धन-बल, कुटुम्ब-बल, गुण और चतुरता; ये सब हों, पर भक्ति न हो तो वह किस तरह शोभता है, जैसे बिना पानी का मेघ देखने में (शोभा-हीन) लगता है।

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं ।
सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥ ४५५॥

मैं तुझसे नौ प्रकार की भक्ति कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन और मन में धर।

प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा ।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥ ४५६॥

प्रथम भक्ति सन्तों का संग है और दूसरी भक्ति है—मेरी कथा की चर्चा में प्रेम।

***दोहा*—गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।**
चौथी भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान ॥ ६३॥

घमण्ड छोड़कर गुरु के चरण-कमलों की सेवा करना तीसरी भक्ति और कपट छोड़ मेरे गुणों का गान करना चौथी भक्ति है।

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥४५७॥

दृढ़ विश्वास से मेरे मन्त्र का जो जप करना है, वही तो पाँचवीं भक्ति वेद में प्रसिद्ध है।

छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥४५८॥

इन्द्रियों को रोकने का स्वभाव बनाना, बहुत-से कर्मों को करने से विरक्त होना (कर्मकाण्डात्मक कर्म के फलों से मन में हँटाव रखना) और सदा सज्जनों के धर्म में लगा रहना अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों से बचते रहना छठी भक्ति है।

[इन्द्रियों को रोकना 'दम' कहलाता है। योगाभ्यास में यह अति आवश्यक साधना है। दृष्टियोग के द्वारा यह सरलता से होने योग्य है। जैसे किसी वस्तु को अपना पूरा बल लगाकर दोनों हाथों से पकड़ा जाय तो शरीर का सारा बल उसी पकड़ की ओर फिर जाता है-वहीं एकत्र हो जाता है, इसी तरह गुरु-युक्ति के द्वारा अपने अन्दर में गुरु-इंगित स्थान पर नेत्रों की युगल दृष्टि-धारों को दृढ़ रखने से इन्द्रियों की सभी चेतन धारें वहाँ खिंचकर आ जाती हैं। इन्द्रियों की बाह्य विषयों की ओर की गति रुक जाती है और इसकी परिपक्वता में 'दम' का साधन बन जाता है। इस साधन के बिना योगाभ्यास का आरम्भ होकर उसमें आगे बढ़ना नहीं हो सकता है।

ऊपर कथित छठी भक्ति ही दृष्टि-योग है। इस (दृष्टि-योग) से अभ्यासी ब्रह्म-ज्योति के केन्द्र (ब्रह्म-ज्योति के अन्तिम पद) सहस्त्र दल कमल के परे त्रिकुटी तक पहुँचता है, जहाँ मन और इन्द्रियाँ लय हो जाते हैं-'मन बुधि चित अहंकार की, है त्रिकुटी

लग दौड़। जन दरिया इनके परे, ररंकार की ठौर ॥']

सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा ॥ ४५९॥

सातवीं भक्ति–समता प्राप्त करनी, संसार को मेरा रूप (जानकर) देखना और सन्त को मुझसे भी अधिक करके मानना है।

['शम' के साधन बिना 'सम'–समता की प्राप्ति नहीं होती। 'शम' मनोनिरोध को कहते हैं। 'दम' के साधन में भी 'शम' का साधन होता ही रहता है, परन्तु इन्द्रियों का संग छोड़कर केवल मन का ही साधन हो, यही असली 'शम' का साधन है। दृष्टि–योग के बाद इसका साधन होने योग्य है। इस साधन में पूर्णता प्राप्त किए बिना योगाभ्यास पूर्ण नहीं होता है। नादानुसन्धान वा सुरत–शब्द–योग इसका निज साधन है।

'सबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि ।
सत्त शब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि ॥' (कबीर साहब)

मनोनिरोध के लिए नाद–विन्दूपनिषद् में नादानुसन्धान की इस भाँति विशेषता बताई गई है–

'मकरन्दं पिबन्भृंगो गन्धान्नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं नहि कांक्षति ।
बद्धः सुनाद गन्धेन सद्यः संत्यक्त चापलः ॥ ४२॥'

जिस प्रकार भौंरा फूल के केसर वा रस को पान करता हुआ उसकी सुगन्ध की चिन्ता नहीं करता है, उसी प्रकार चित्त जो नाद में सर्वदा लीन रहता है, विषय–चाहना नहीं करता है; क्योंकि वह नाद की मिठास के वशीभूत है तथा अपनी चंचल प्रकृति को त्याग चुका है ॥ ४२॥

'नाद ग्रहणतश्चित्तमंतरंग भुजंगमः ।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्र चिन्नहि धावति ॥ ४३॥'

नाग–रूप चित्त नाद का अभ्यास करते-करते पूर्णरूप से उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयों को भूलकर कर नाद में अपने को एकाग्र करता है और उससे बाहर कहीं भी नहीं जाता है ॥ ४३॥

'मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियामन समर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः ॥ ४४॥'

नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को, जो विषयों की आनन्द-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है ॥ ४४॥

'नादोऽन्तरंग सारंग बन्धने वागुरायते ।
अन्तरंग समुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा ॥ ४५॥'

मृग-रूपी चित्त को बाँधने के लिए यह (नाद) जाल का काम करता है। समुद्र-तरंग-रूपी चित्त के लिए (नाद) तट का काम करता है॥ ४५॥

जबतक मन पूर्णरूपेण काबू में नहीं होता, तबतक 'शम' का फल 'सम' नहीं होता। इसके लिए सातवीं भक्ति नादानुसन्धान वा सुरत-शब्द-योग असली साधन है।

मनोनिग्रह या मन की रोक के बिना कोई इन्द्रिय नहीं रुक सकती है। इसलिए सातवीं भक्ति में मनोनिग्रह अर्थात् चित्त की वृत्ति का निरोध करना है। इसका साधन किस तरह होगा, सो यहाँ खोलकर नहीं लिखा गया है। मनोनिग्रह को ही योग कहते हैं। रामचरितमानस चौ० सं० ५, ७९ और २९० से लगातार २९४ तक में योगाभ्यास करने की युक्ति बतलाई गई है। इसलिए अर्थ-सहित इन चौपाइयों को और उनके नीचे के कोष्ठ की व्याख्याओं को पढ़कर देखिए। उनको पढ़ने से मालूम होगा कि रामचरितमानस दृष्टि-योग और सुरत-शब्द-योग के साधन से योगाभ्यास करना सिखाता है। सुरत-शब्द-योग का अभ्यास करके ध्वन्यात्मक राम-नाम में चेतन-वृत्ति को जोड़ना सातवीं भक्ति है। सारी सृष्टि में ध्वन्यात्मक रामनाम एक रस व्यापक है। जिसमें जैसा गुण है, उसके संग से संग करनेवाले को वैसा ही गुण प्राप्त होता है। ध्वन्यात्मक राम-नाम समता-स्वरूप है। जिस अभ्यासी की चेतन-वृत्ति इस नाम तक पहुँचेगी, उसे अवश्य ही समता प्राप्त हो जाएगी। राम-नाम का वर्णन चौ० सं० ७९ के अर्थ-सहित कोष्ठ में दी गई व्याख्या को पढ़कर जानिए।]

आठवँ जथा लाभ सन्तोषा।
सपनहु नहिँ देखइ पर दोषा ॥ ४६०॥

जो लाभ हो, उसी में सन्तोष करना और स्वप्न में भी दूसरे के दोषों को न देखना, आठवीं भक्ति है।

नवम सरल सब सन छल हीना।
मम भरोस हिय हरष न दीना ॥ ४६१ ॥

नौवीं भक्ति सबसे सीधा तथा अकपट रहना और हृदय में न हर्ष और न दीनता लाकर मेरा भरोसा रखना है।

नव महँ एकउ जिन्हके होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई ॥ ४६२॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥ ४६३॥

नवो भक्ति में जिनको एक भी हो–(वह चाहे) स्त्री, पुरुष, जड़ और चेतन में से कोई हो, हे भामिनी ! वह मुझे अतिशय प्यारा है, तुझमें तो सब प्रकार की अटल भक्ति है।

[भागवत पुराण में नवधा भक्ति इस प्रकार है–

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं साख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

इस नवधा भक्ति से रामचरितमानस की नवधा भक्ति में कुछ अन्तर और विलक्षणता है, इसे बुद्धिमान विचार सकते हैं। रामचरितमानस की नवधा भक्ति में भगवान ने यह नहीं बताया है कि मेरे देव वा मानव-रूप की उपासना भी कोई एक भक्ति है; पर इससे यह नहीं जानना चाहिए कि इसमें (रामचरितमानस की नवधा भक्ति में) रूप की उपासना नहीं है। रामचरितमानस के आदि में ही मंगलाचरण करते हुए गो० तुलसीदासजी गुरु को 'कृपा सिन्धु नर रूप हरि' कहते हैं और भगवान ने नवधा भक्ति में से एक भक्ति 'गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान' कह ही दिया है। इसलिए नवधा भक्ति की तीसरी भक्ति में जब भगवान ने प्रत्यक्ष गुरु की सेवा-उपासना बतला दी और

रामचरितमानस को जब यह मान्य है कि गुरु-रूप ही भगवान का रूप है, तो 'भगवान के रूप की उपासना' तीसरी भक्ति में ही जान लेनी चाहिए।]

जोगी बृन्द दुर्लभ गति जोई।
तो कहँ आज सुलभ भइ सोई ॥४६४॥

जो गति योगियों को कष्ट से प्राप्त होने योग्य है, वही तुझे आज सुलभ हो गई।

[शवरी मातंग ऋषि की चेली थी। मातंग योगिराज थे। उनकी कृपा से शवरी की गति योगविद्या के शिखर तक पहुँची थी। इसी कारण से शवरी को आज योगियों की दुर्लभ गति सुलभ है। भ्रमवश ऐसा ख्याल नहीं करना चाहिए कि शवरी योग-विद्या में पहले से निपुण नहीं थी, केवल श्रीराम का दर्शन प्राप्त करके ही उसे ऐसी गति मिल गई थी। चौ० सं० ४४५ में वर्णन किया गया है कि गिद्धराज जटायु को भगवान ने वह गति दी, जो योगिजन माँगते हैं। जटायु को वही गति मिली है, जिसका वर्णन चौ० सं० ४४२ और ४४३ तथा दोहा सं० ६०-६१ में किया गया है। जटायु गिद्ध-शरीर त्याग हरि-रूप (श्यामला चतुर्भुजी रूप) को प्राप्त हुआ और उस हरि-धाम में गया, जहाँ राजा दशरथ गए थे और जहाँ (आगे चलकर वर्णन होगा कि) सपरिवार रावण पहुँचकर राजा दशरथ से सीता-हरण का समाचार कहेगा। भगवान ने जटायु से कह दिया कि तुम सीता-हरण का समाचार हमारे पिता से नहीं कहना। जटायु को प्राप्त 'योगी वांछित गति' और शवरी को प्राप्त 'योगियों की दुर्लभ गति' की सुलभता में बड़ा अन्तर है। चौ० सं० ४४५ के अर्थ के नीचे कोष्ठ के लेख को पढ़कर देखिए, उससे मालूम होगा कि जटायु को 'परम मोक्ष' न हो सका। पर आगे चलकर वर्णन होगा कि शवरी को 'परम मोक्ष' प्राप्त हो गया। भगवान के दसों अवतारों के दर्शन उन अवतारों के समकालीन बहुतों को हुए, पर सबों को 'योगी-वांछित गति' वा वह 'गति जो योगियों को दुर्लभ है', प्राप्त न हो सकी। जिन लोगों ने साधन-भजन के द्वारा अपने को जिस पद को प्राप्त

होने योग्य बना लिया था, उन्हें वही पद भगवान ने दे दिया था। इसलिए यह उचित नहीं है कि कोई भ्रम और आलस्यवश योगाभ्यास आदि साधन और संयम न करे और केवल मोटी उपासना में ही अपना जीवन बिता दे। रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म; सभी उपासनाओं का अत्यन्त उचित क्रम से वर्णन है। अर्थात् जिस क्रम से पूर्ण साधना बना सकता है, वही क्रम बाँधकर नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है। इन नवो में से किसी एक को अनावश्यक जान त्यागने वा क्रम को उलट-पलट कर देने से वह गति जो योगियों के लिए दुर्लभ है, जिसे शवरी ने पाई थी, किसी को नहीं मिल सकती है। चौ० सं० ४६३ में स्पष्ट कहा गया है कि शवरी को नवो प्रकार की भक्ति अटल रूप से थी और तभी उसे योगियों की 'दुर्लभ गति' सुलभ हो गई थी। उसकी भक्ति के सब साधन समाप्त हो चुके थे, इसलिए उसने सम्पूर्ण वरदानों के सहित अविरल भक्ति भी नहीं माँगी। पर जटायु अविरल भक्ति का वरदान माँग कर हरिधाम गया (देखो दोहा सं० ६१) इससे विदित होता है कि जटायु भक्ति के साधन में पारंगत न था, इसी कारण परम मोक्ष न पा सका। इस मत को काटने के लिए यदि यह कहा जाय–'ताते हरिपद लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भक्ति वर लयऊ॥' तो इसका उत्तर यह है कि गो० तुलसीदासजी भेद-पद में परम मोक्ष नहीं मानते हैं। (चौ० सं० ४४५ के अर्थ के नीचे के कोष्ठ में के वर्णन को पढ़िए)। दूसरी बात यह है कि नवधा भक्ति की सातवीं भक्ति तो स्वतन्त्र रूप से समता प्राप्त करने के लिए ही है। यदि भेद-पद–असम-पद–द्वैत-पद ही परम मोक्ष-पद होता, तो इस सातवीं भक्ति के साधन से समता प्राप्त करके क्या करना था? यथार्थ में यह अत्युक्ति (अलंकार) रोचकता के लिए है। ऐसा (अत्युक्ति अलंकारयुक्त) वर्णन गो० तुलसीदासजी ने कई स्थलों पर किया है। चौ० सं० ४६२ और ४६३ में भगवान की यह उक्ति कि 'नवधा भक्ति में से एक भी जिसको है, वह मुझे अतिशय प्यारा है' जानकर किसी को यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि

नवधा भक्ति में से एक भी प्राप्त कर लो और बस काम समाप्त है। यदि यह विचार गो० तुलसीदासजी और स्वयं भगवान का रहता, तो छठी और सातवीं योगाभ्यास-साध्य भक्तियों का वर्णन वे क्यों करते ? फिर देखिए कि १ली से ५वीं तक में किसी एक ही भक्ति के साधन से इन्द्रिय-दमन नहीं होता और न समता मिलती है। और दम-शीलता तथा समता-प्राप्ति के बिना भक्ति का साधन समाप्त नहीं होता है। यदि ऐसा होता, तो दम-शीलता और समता प्राप्त करने के लिए छठी और सातवीं भक्तियों का स्वतंत्र रूप से निष्प्रयोजन ही क्यों वर्णन किया गया ? इन बातों को विचारने से स्पष्ट प्रकट होता है कि नवधा भक्ति का जिस क्रम से वर्णन किया गया है, उसी के अनुसार नवो भक्तियों को समाप्त करके ही कोई भक्ति के साधन में पारंगत हो, पूर्ण भक्त बन, योगियों की दुर्लभ गति-परम मोक्ष को शवरी की तरह पा सकेगा।

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा ॥४६५॥

मेरे दर्शन का अतिशय अनुपम फल है कि जीव अपने आत्म-स्वरूप को पाता है।

[शवरी को अपना सहज स्वरूप वा आत्म-स्वरूप अवश्य ही प्राप्त हुआ, पर जटायु को नहीं। चतुर्भुजी, दोभुजी, अनन्तभुजी, श्यामल वा गौर आदि कोई रूप जीव का निज सहज स्वरूप नहीं है। निज सहज स्वरूप सगुण नहीं, निर्गुण है। वह मायिक नहीं, अमायिक है। जटायु भी जब भक्ति के उस अंग तक का साधन कर लेगा, जहाँ तक साधन पूर्ण करके जीव भगवान के दर्शन का फल, निज सहज स्वरूप की प्राप्ति को पा लेता है, तो उसको भी निज सहज स्वरूप प्राप्त हो जाएगा। चौ० सं० ४६५ में कथित भगवान का वाक्य कदापि मिथ्या नहीं होगा।]

रामजी ने ऐसा उपदेश कर शवरी से सीताजी की खोज के विषय में पूछा। शवरी बोली कि आप तो सब कुछ स्वयं जानते ही हैं। आप पम्पा नाम के तालाब पर जाइये, वहाँ आपको सुग्रीव सब बातें कहेंगे। और-

छन्द—कहि कथा सकल बिलोकि हरि, मुख हृदय पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरि पद, लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत, सोक-प्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी, राम-पद अनुरागहू॥५॥

सब कथाओं को कह, श्रीराम का मुख देख, उनके चरण-कमलों को हृदय में रख, योगाग्नि में अपने शरीर को छोड़कर वह (शवरी) हरि के (उस) पद में लीन हो गई, जहाँ से (कोई) नहीं लौटता है। तुलसीदासजी कहते हैं—हे मनुष्यो! बहुत प्रकार के कर्म, अधर्म और बहुत मत; ये सब शोक देनेवाले हैं, इन्हें छोड़ दो और विश्वास-पूर्वक राम के चरणों में प्रेम करो।

[योग-पावक = योगाग्नि। योगाभ्यास से प्राप्त होने योग्य परम कल्याणकारी उन तत्त्वों को योगाग्नि कहते हैं, जिनके प्राप्त होने से अभ्यासी के शरीर आदि माया-रचित बन्धन भस्म हो जाते हैं। ये (तत्त्व) दो प्रकार के हैं—ब्रह्म-ज्योति अर्थात् ब्रह्म का ज्योति-रूप और ब्रह्म-शब्द अर्थात् ब्रह्म का शब्द-रूप वा ध्वन्यात्मक राम-नाम, जिसका वर्णन चौ० सं० ७९, ८० और ८५ आदि में है। जबतक शरीर के बारम्बार प्राप्त होने और छूटने का कारण बना रहता है, यथार्थ में तबतक शरीर पूर्ण रूप से नहीं छूटता है। साधारणतः शरीर के तीन प्रकार हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। गुदा-चक्र से ले छठे (आज्ञा) चक्र को पार कर सहस्त्र दल कमल में पहुँच ब्रह्म-ज्योति को प्राप्त करने पर स्थूल शरीर छूट जाता है। सहस्त्रदल कमल को पार कर अभ्यासी त्रिकुटी ओ३म् ब्रह्म-पद तक पहुँचता है, तो उसका सूक्ष्म शरीर छूट जाता है। (बहुत लोग दोनों भोंओं के मध्य स्थान को त्रिकुटी कहते हैं, पर यह वह त्रिकुटी नहीं है। शरीर के ऊपर किसी चिह्न को वा उसके सामने अन्तर की ओर इस त्रिकुटी का स्थान बतलाया नहीं जा सकता है। जो अपने अन्दर में के सूक्ष्म मण्डल में प्रवेश कर सहस्त्र दल कमल को पार कर सकेगा, वही इस त्रिकुटी को जानेगा। त्रिकुटी ब्रह्म-ज्योति का केन्द्र है। यही केन्द्र चौ० सं० ६०९ से दो० सं० ९१ तक में वर्णित सूर्य है। इसके परे ज्योति नहीं—रूप नहीं है।) और जब अभ्यासी

त्रिकुटी को भी पार करके केवल ध्वन्यात्मक शब्द (ब्रह्म-शब्द) से व्याप्त तीनों शब्द-मण्डलों (शून्य, महाशून्य और भँवर गुफा) को पार कर जाता है, तो उसका कारण शरीर भी छूट जाता है। अभ्यासी के माया-सम्बन्धी सब बन्धन योगाग्नि में भस्म हो जाते हैं और वह राम के परम पद में लीन हो जाता है, जहाँ से इस संसार में फिर नहीं लौटता है। शवरी ने इसी प्रकार योग-पावक में अपना शरीर छोड़ा था। भक्ति-योग के साधन में वह पारंगत थी। (देखिए चौ० सं० ४६३) उपर्युक्त रीति से शरीर छोड़कर वह राम के परम पद में लीन हुई, इनमें कुछ भी संशय नहीं।

शरभंग मुनि के विषय में भी योग-अग्नि-द्वारा शरीर जलाने की चर्चा है। 'यहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा ॥ सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम। मम हिय बसहु निरन्तर, सगुन रूप श्रीराम ॥ अस कहि जोग अगिन तनु जारा। राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा ॥ तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥' महाभक्तिन शवरी की योग-अग्नि और शरभंग मुनि की योग-अग्नि, एक ही नहीं है। शवरीजी ने चिता रचकर तब योग-अग्नि से शरीर को जलाया, सो नहीं; परन्तु शरभंग मुनि ने चिता रच कर अपने शरीर को जलाया। शवरीजी की योग-अग्नि के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। शवरीजी की भक्ति की पूर्णता तक शरभंगजी की भक्ति पहुँची थी, सो नहीं कहा जा सकता है। शवरीजी ने श्रीराम से वरदान की याचना नहीं की और वह उस हरि-पद में लीन हुई, जहाँ से कोई लौटता नहीं है। शवरीजी से तो श्रीरामजी ने स्पष्ट कह ही दिया कि 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे', जो शरभंगजी से उन्होंने नहीं कहा।

***दोहा*–जाति हीन अघ जनम महि, मुकुत कीन्ह अस नारि।**
महा मन्द मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिँ बिसारि ॥६४॥

छोटी जाति की, पापों की जन्म-भूमि ऐसी स्त्री को जिन्होंने मुक्त कर दिया, अरे मन ! ऐसे प्रभु को भूलकर सुख चाहता है ? तू महामन्द है।

रामजी शवरी के आश्रम से आगे बढ़े और मार्ग में लक्ष्मणजी से वन की शोभा का बखान कर फिर कुछ सदुपदेश कहने लगे—

सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय ।
भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय ॥ ४६६॥

अच्छी तरह समझे-बूझे हुए शास्त्र को बार-बार देखना चाहिए और अच्छी सेवा करने पर भी राजा को अपने वश में नहीं समझना चाहिए।

राखिय नारि जदपि उर माहीं ।
जुबति सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥ ४६७॥

यद्यपि स्त्री को हृदय में रखिए, तो भी वह (युवावस्था वाली स्त्री), शास्त्र और राजा (की नाईं) किसी के वश में नहीं।

फिर रामजी लक्ष्मणजी से कामदेव की सेना का वर्णन करते हुए कहने लगे—

लछिमन देखत काम अनीका ।
रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ॥ ४६८॥

हे लक्ष्मण ! कामदेव की सेना को देखकर जिसके मन में धीरज बना रहे, संसार में उन्हीं की गिनती है (अर्थात् ऐसे पुरुष श्रेष्ठ हैं)।

एहि के एक परम बल नारी ।
तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ॥ ४६९॥

इसका एक ही बड़ा बल स्त्री है (और स्त्रियों की ओर से पुरुष है।), उससे जो बच जाय, वह भारी योद्धा है।

***दोहा*—तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ ।**
मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिँ निमिष महुँ छोभ ॥ ६५॥

हे भाई ! काम, क्रोध और लोभ; ये तीनों अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। ये विज्ञान के घर मुनियों के मन में भी क्षण-मात्र में खलबली कर देते हैं।

[यह बात केवल आधिभौतिक विज्ञान जाननेवाले मुनियों के लिए है।]

दोहा–लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि ।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनि बर कहहिं बिचारि ॥ ६६॥

लोभ का बल इच्छा और पाखण्ड है, काम का बल केवल स्त्री (स्त्रियों के लिए पुरुष) है। क्रोध का बल कठोर वचन है, मुनिवर ऐसा विचारकर कहते हैं।

पुनः शिवजी पार्वतीजी से कहने लगे–

क्रोध मनोज लोभ मद माया।
छूटहिं सकल राम की दाया॥ ४७०॥

क्रोध, काम, लोभ, अहंकार और माया राम की दया से छूटते हैं।

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला ।
जा पर होइ सो नट अनुकूला॥ ४७१॥

वह मनुष्य इन्द्रजाल (मदारी के खेल–माया) में नहीं भूलता है, जिस पर वह मदारी (राम) प्रसन्न होता है।

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना॥ ४७२॥

हे उमा ! मैं अपना अनुभव (परीक्षा–द्वारा प्राप्त ज्ञान) कहता हूँ कि हरि–भजन सत्य है और सब संसार सपना (असत्य) है।

फिर रामजी सुन्दर पम्पा सरोवर पर गए, जिसका वर्णन इस भाँति है–

सन्त हृदय जस निर्मल बारी।
बाँधे घाट मनोहर चारी॥ ४७३॥

(उस सरोवर में) ऐसा निर्मल जल है, जैसा सन्तों का हृदय स्वच्छ होता है। चारो घाट सुन्दर बँधे हुए हैं।

[सन्त का हृदय कैसा होना चाहिए, वह इसमें बताया गया है।]

जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा।
जनु उदार घर जाँचक भीरा॥ ४७४॥

जहाँ–तहाँ बहुत प्रकार के पशु पानी पीते हैं, वह ऐसा जान पड़ता है, मानो उदार (दाता) के घर मँगतों की भीड़ लगी हो।

[इसमें उदार पुरुष का लक्षण बताया गया है कि जिस प्रकार झुण्ड-के-झुण्ड पशु सरोवर में बेरोक पानी पीते हैं, सरोवर कभी नहीं घबड़ाता, सबको सहर्ष अपना पानी पीने देता है, उसी तरह उदार पुरुष अपने घर पर आए याचकों की भीड़ देखकर कभी नहीं घबड़ाता, सहर्ष सबको मनोवांछित दान देता है।]

***दोहा*—पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म ।**
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥६७॥

घनी पुरइन (कमल के पत्तों) की आड़ में शीघ्र जल का पता नहीं लगता, जैसे माया से ढँके हुए निर्गुण ब्रह्म को नहीं देख सकते।

[मूल माया (प्रकृति), ब्रह्माण्ड-रूप माया, पिण्ड-रूप माया, विश्व-रूपता की माया देवता-रूप की माया और सब अवतार-रूप माया से निर्गुण ब्रह्म आच्छादित है। इन सब रूपों की माया, पुरइन है। निर्मल जल-रूप निर्गुण ब्रह्म इसकी ओट में है।]

***दोहा*—सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिँ ।**
जथा धर्मसीलन्ह के, दिन सुख-संजुत जाहिँ ॥६८॥

अत्यन्त गहरे जल में मछलियाँ एक समान इस प्रकार सुखी हैं, जैसे धर्मात्मा पुरुषों के दिन सुख-पूर्वक जाते हैं।

सरोवर के समीप मुनियों की कुटियाँ बनी हुई हैं और चारो ओर वन-वृक्ष लगे हुए हैं।

***दोहा*—फल भारन्ह नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ ।**
पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिँ सुसम्पति पाइ ॥ ६९॥

फलों के बोझ से सब वृक्ष नवकर धरती के समीप हो रहे हैं, जैसे परोपकारी पुरुष अच्छी सम्पत्ति पाकर नवते हैं।

उस सरोवर में रामजी ने स्नान किया और एक छायादार वृक्ष के नीचे आनन्द से बैठ गए। नारदजी उनको विरहवन्त देख, मन में चिन्तित हो कहने लगे—

मोर साप करि अंगीकारा ।
सहत राम नाना दुख भारा ॥४७५॥✡

मेरे ही शाप को स्वीकार करके श्रीरामजी अनेक प्रकार के

दुःखों का भार सहन कर रहे हैं।

ऐसे प्रभुहिँ बिलोकउँ जाई।
पुनि न बनहिँ अस अवसर आई ।। ४७६।।☆

ऐसे प्रभु को जाकर देखूँ, फिर ऐसा शुभ अवसर आकर नहीं बनेगा।

ऐसा विचार हाथ में वीणा ले वे वहाँ गए, जहाँ रामजी सुख से बैठे थे। बहुत तरह से विनती करने पर उनको रामजी से यह वर मिला कि राम-नाम सब नामों से बड़ा हो। फिर उन्होंने रामजी से पूछा-

राम जबहिँ प्रेरेउ निज माया।
मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ।। ४७७।।☆

हे रघुनाथ ! सुनिए, जब आपने अपनी माया को प्रेरित करके मुझे मोहित किया था,

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा ।। ४७८।।☆

तब मैं विवाह करना चाहता था। हे प्रभु ! आपने किस कारण से मुझे विवाह नहीं करने दिया ?

भगवान श्रीराम ने कहा-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिँ जे मोहि तजि सकल भरोसा ।। ४७९।।
करउँ सदा तिन्हके रखवारी।
जिमि बालकहिँ राख महतारी ।। ४८०।।

हे मुनि! सुनिए, मैं आपको प्रसन्नतापूर्वक कहता हूँ कि जो (मनुष्य) सब आशाओं को छोड़कर मेरा भजन करता है, मैं सदा उसकी रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालक की रक्षा करती है।

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरु गाई ।। ४८१।।

अबोध बच्चा और बछड़ा (गाय का बच्चा-लेरू) आग और साँप को पकड़ने के लिए दौड़ते हैं, वहाँ माता और गाय

उनकी रक्षा करती हैं।

प्रौढ़ भये पर सुत तेहि माता।
प्रीति करइ नहिँ पाछिल बाता ॥४८२॥

वही पुत्र जब जवान होता है, तो उससे माता प्रीति करती है, पर पहले की तरह बर्ताव नहीं करती है।

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।
बालक सुत सम दास अमानी ॥४८३॥

ज्ञानी मेरे जवान पुत्र के समान और निरभिमानी भक्त छोटे बेटे के समान हैं।

जनहिँ मोर बल निज बल ताही।
दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥४८४॥

भक्त को मेरा बल और ज्ञानी को अपना बल है, परन्तु काम और क्रोध दोनों ही के शत्रु हैं।

अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पायहु ज्ञान भगति नहिँ तजहीं ॥४८५॥

यह विचारकर पण्डित लोग मुझे भजते हैं और ज्ञान पा लेने पर भी भक्ति को नहीं छोड़ते हैं।

***दोहा*—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।**
तिन महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि ॥७०॥

यद्यपि मोह (सेनापति) की सेना में काम, क्रोध, लोभ और मद आदि बड़े बलवान (दुःखदायी) हैं, तथापि उनमें अत्यन्त कठिन दुःखदायिनी माया-रूपिणी स्त्री है।

सुनु मुनि कह पुरान स्रुति संता।
मोह बिपिन कहँ नारि बसन्ता ॥४८६॥

हे मुनि ! सुनिए, पुराण, वेद और सन्त कहते हैं कि मोह-रूपी वन के लिए स्त्री वसन्त ऋतु है।

[तात्पर्य यह है कि स्त्री के संयोग से मोह बढ़ता है।]

जप तप नेम जलासय झारी।
होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी ॥४८७॥

जप, तप और नेम-रूप जलाशयों को स्त्री ग्रीष्म ऋतु होकर सोख लेती है।

[स्त्री के संयोग से जप, तप और नेम के साधन कम जाते हैं वा बिल्कुल ही घट जाते हैं।]

काम क्रोध मद मत्सर भेका।
इन्हहिँ हरष-प्रद बरषा एका॥४८८॥

काम, क्रोध, अहंकार और डाह-रूप मेढ़कों को अकेले वर्षा ऋतु-रूपिणी स्त्री आनन्द देनेवाली है।

[काम, क्रोध, अहंकार और डाह आदि की वृद्धि स्त्री के संयोग से होती है।]

दुर्बासना कुमुद समुदाई।
तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥४८९॥

बुरी इच्छा-रूप कुमुदों के समूह के लिए स्त्री शरद ऋतु-रूपिणी होकर सदा सुखदायिनी है।

[बुरी इच्छाएँ स्त्री के संयोग से विशेष होती हैं।]

धर्म सकल सरसीरुह वृन्दा।
होइ हिम तिन्हहिँ देति सुख मन्दा॥४९०॥

सम्पूर्ण धर्म कमलों के रूप हैं। स्त्री हिम ऋतु-रूपिणी होकर उनको निकम्मा सुख देती है (अर्थात् उनके सुख को मन्द कर देती है।)

पुनि ममता जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिर ऋतु पाई॥४९१॥

फिर ममता-रूपी जवासे की बहुतायत को स्त्री शिशिर ऋतु होकर हरा-भरा कर देती है।

[स्त्री के संयोग से ममता बढ़ती है।]

पाप उलूक निकर सुखकारी।
नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥४९२॥

पाप-रूपी उल्लुओं को स्त्री घोर अँधेरी रात के समान सुख देनेवाली है।

[स्त्री के संयोग से पाप की वृद्धि होती है।]

बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बनसी सम तिय कहहिँ प्रबीना ।। ४९३।।

बुद्धि, बल, शील और सत्य; सब मछली-रूप हैं। सुजान लोग कहते हैं कि इनको फँसाने के लिए स्त्री वंशी के समान है। [बुद्धि, बल, शील और सत्य; स्त्री के संयोग से नष्ट हो जाते हैं।]

***दोहा*–अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि।**
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि ।। ७१।।

स्त्री दोषों की जड़, पीड़ा देनेवाली और दुःखों की खानि है। हे मुनि! इसीलिए अपने जी में यह विचारकर आपको उससे (विवाह करने से) रोका।

[रामजी और नारदजी के प्रश्नोत्तर से साफ तरह से प्रकट होता है कि राम उन्हीं विष्णु भगवान के अवतार हैं, जिन्होंने नारदजी का मुख बन्दर के मुख के ऐसा और शरीर अपने शरीर के ऐसा बनाकर उनको स्त्री प्राप्त करने नहीं दिया था और इसी कारण उनसे (नारी-विरही नारद से) शाप पाया था।]

फिर नारदजी के पूछने पर रामजी सन्तों के लक्षण कहने लगे।

षट बिकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ।। ४९४।।

(सन्त) छहों विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य) को जीते हुए, निष्पाप, वासना-रहित, स्थिर, धनत्यागी, पवित्र और सुख के स्थान होते हैं।

अमित बोध अनीह मित भोगी।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी ।। ४९५।।

(वे) अति विशेष ज्ञानवान, इच्छा-रहित, अल्प भोगी, सत्य के सार-रूप, कवि, विद्वान और योगी होते हैं।

सावधान मानद मद हीना।
धीर भगति पथ परम प्रबीना ।। ४९६।।

(अपने कर्त्तव्य-पालन में) सचेत, दूसरों को मान देनेवाले, अहंकार-हीन, धीरजवान और भक्ति-मार्ग में बड़े निपुण होते हैं।

दोहा–गुनागार संसार दुख, रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय, जिन्ह कहँ देह न गेह ॥ ७२॥

(वे) गुणों के घर, संसार के दुःखों से रहित और सन्देह-रहित होते हैं, जिनको मेरे चरण-कमलों को छोड़कर (अपना) शरीर और घर प्यारा नहीं है।

निज गुन स्त्रवन सुनत सकुचाहीं।
पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥ ४९७॥*

अपने गुणों को सुनने में सकुचाते हैं और दूसरों के गुणों को सुनने से विशेष प्रसन्न होते हैं।

सम सीतल नहिँ त्यागहिँ नीती।
सरल सुभाव सबहि सन प्रीती ॥ ४९८॥

समान (समतायुक्त) और शान्त रहकर नीति नहीं छोड़ते हैं; सीधा स्वभाव, सबसे प्रेम करते हैं।

जप तप ब्रत दम संजम नेमा।
गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा ॥ ४९९॥

जप, तप, व्रत, इन्द्रिय-दमन, (विषयों में) संयम-नियम रखते, गुरु, ईश्वर और ब्राह्मणों के चरण में प्रेम करते हैं।

स्त्रद्धा छमा मइत्री दाया।
मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥ ५००॥

श्रद्धा (गुरु और शास्त्र में अडिग विश्वास), क्षमा, मित्रता और दया-युक्त होते, प्रसन्नता-पूर्वक मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम करते हैं।

बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना।
बोध जथारथ बेद पुराना ॥ ५०१॥

विराग, सारासार का विचार, नम्रता, परीक्षा-प्राप्त ज्ञान और वेद-पुराणों का यथार्थ ज्ञान रखते हैं।

दम्भ मान मद करहिँ न काऊ।
भूलि न देहिँ कुमारग पाऊ ॥ ५०२॥

पाखण्ड, अभिमान, मस्ती कभी नहीं करते, भूलकर भी

कुमार्ग में पाँव नहीं देते हैं।

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला।
हेतु रहित परहित रत सीला ॥५०३॥

सदा मेरी लीला गाते और सुनते हैं, स्वार्थ-रहित दूसरों की भलाई करने में लगे रहते हैं।

सुनु मुनि साधुन के गुन जेते।
कहि न सकहिँ सारद स्त्रुति तेते ॥५०४॥

हे मुनि ! सुनिए, साधुओं के जितने गुण होते हैं, उनको सरस्वती और वेद भी कहकर समाप्त नहीं कर सकते हैं।

नारदजी सन्तों के लक्षण सुन रामजी को प्रणाम कर ब्रह्म-लोक को चले गये। अब गो० तुलसीदासजी कहते हैं-

दोहा–**दीप सिखा सम जुबति तन, मन जनि होसि पतंग।**
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सत्संग ॥ ७३॥

स्त्री का शरीर दीपक की टेम (लौ) के समान है। हे मन ! तू उसका पतंग (पाँखी) मत हो। इच्छा और अहंकार छोड़कर सदा राम का भजन और सत्संग कर।

रामचरितमानस-सार सटीक
तृतीय सोपान-अरण्यकाण्ड समाप्त

रामचरितमानस-सार सटीक

चतुर्थ सोपान—किष्किन्धाकाण्ड

पम्पासर को त्याग रामजी आगे को चले। ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँच कपिराज सुग्रीव से उन्होंने मित्रता कर ली। सुग्रीव को उनके बड़े भाई बालि ने बिना किसी दोष के घर से बाहर निकाल उसकी स्त्री और सम्पत्ति हर ली थी। रामजी ने उससे कहा कि मैं तुम्हारी सहायता कर बाली को मार करके तुमको राजा बना दूँगा; क्योंकि—

जे न मित्र दुख होहिँ दुखारी।
तिन्हहिँ बिलोकत पातक भारी ॥५०५॥

जो मित्र के दुःख से दुःखी नहीं होते, उन्हें देखने से भारी पाप होता है।

निज दुख गिरि सम रज करि जाना ।
मित्र के दुख रज मेरु समाना ॥५०६॥

पहाड़ के समान अपने दुःख को धूल के बराबर और धूल के समान मित्र के दुःख को सुमेरु पर्वत के समान समझे।

जिन्हके असि मति सहज न आई ।
ते सठ कत हठि करत मिताई ॥५०७॥

जिनको सहज ही ऐसी बुद्धि नहीं आती, वे मूर्ख क्यों हठ करके मित्रता करते हैं।

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटइ अवगुनहिँ दुरावा ॥५०८॥

(उचित है कि मित्र को) बुरे रास्ते से छुड़ाकर अच्छे रास्ते पर चलावे। गुणों को प्रसिद्ध करे और अवगुणों को छिपावे ।

देत लेत मन सक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई ॥५०९॥

देने-लेने में मन में सन्देह न धरे, अपने बल के विचार से सदा हित करे।

बिपति काल कर सतगुन नेहा।
स्त्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा॥५१०॥

विपत्ति-काल में सौ गुणा स्नेह करे, वेदों और सन्तों ने मित्र के ये गुण कहे हैं।

आगे कह मृदु बचन बनाई।
पाछें अनहित मन कुटिलाई॥५११॥

जो सामने में मधुर वचन बनाकर कहता हो और मन में कुटिलता रखकर पीछे में अपकार करता हो,

जाकर चित अहि गति सम भाई।
अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥५१२॥

हे भाई! जिसका चित्त साँप की चाल के समान (टेढ़ा) है, ऐसे कुमित्र को त्यागने में ही भलाई है।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी।
कपटी मित्र सूल सम चारी॥५१३॥

मूर्ख सेवक, कृपण राजा, कपटी मित्र और कर्कशा स्त्री—ये चारो शूल (दुःख—काँटे) के समान हैं।

रामजी के बल की परीक्षा करके सुग्रीव को पूरा विश्वास हो गया कि अब बालि मारा जाएगा। फिर उसे ज्ञान हुआ, तो वह रामजी से कहने लगा—

सुख सम्पति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥५१४॥

सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई, सबको छोड़कर आप की सेवा करूँगा।

ये सब राम भगति के बाधक।
कहहिं सन्त तव पद अवराधक॥५१५॥

(क्योंकि) आपके चरणों की आराधना करनेवाले सन्त कहते हैं कि ये सब राम की भक्ति में विघ्न करनेवाले हैं।

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं॥५१६॥

शत्रु, मित्र, सुख और दुःख माया-रचित हैं, परमार्थ-स्वरूप

नहीं हैं। (अर्थात् इनसे मोक्ष नहीं मिलता।)

सपने जेहि सन होइ लराई।
जागे समुझत मन सकुचाई॥ ५१७॥

जिससे सपने में लड़ाई होती है, वह जब जगता है, तो समझकर (कि यह सपने की लड़ाई है) मन में सकुचाता है।

सुग्रीव का विरागमय वचन सुन रामजी ने कहा-'हे मित्र! तुमने जो कुछ कहा, सो सत्य है, परन्तु मेरा वचन झूठ नहीं हो सकता।' एक दिन रामजी सुग्रीव को संग लेकर गए और बालि को युक्ति से उन्होंने मार दिया। उसकी स्त्री तारा बहुत विलाप करने लगी। रामजी ने उससे कहा-

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥५१८॥

मिट्टी, जल, अग्नि, आकाश और वायु; इन्हीं पाँचों से (यह) अत्यन्त अधम शरीर बना है।

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा॥५१९॥

वह शरीर प्रकट ही तुम्हारे आगे सोया है और जीव तो अविनाशी है, (फिर) तुम किसलिए रोती हो?

तारा को इस तरह बोध देकर रामजी अपने वास-स्थान पर्वत पर चले गए। फिर रामजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने किष्किन्धा में जाकर सुग्रीव को राज-तिलक करा दिया। इतने में वर्षा ऋतु आ गई। राम और लक्ष्मण पहाड़ की एक कन्दरा में रहने लगे और सुग्रीव अपने घर में। एक दिन रामजी लक्ष्मणजी से कहने लगे-

***दोहा*-लछिमन देखहु मोर गन, नाचत बारिद पेखि।**
गृही बिरति रत हरष जस, बिष्णु भगत कहँ देखि॥७४॥

हे लक्ष्मण! देखो, मयूरगण बादलों को देखकर कैसे नाचते हैं, जैसे विष्णु-भक्त को देखकर वैराग्य में लीन गृहस्थाश्रमी जीव प्रसन्न होते हैं।

दामिनि दमकि रह न घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥५२०॥

बिजली चमककर बादलों में नहीं ठहरती, जैसे दुष्टों की प्रीति स्थिर नहीं रहती।[दुष्टों की प्रीति स्थिर नहीं रहती है।]

बरषहिं जलद भूमि नियराये।
जथा नवहिँ बुध विद्या पाये ॥५२१॥

बादल धरती के निकट होकर बरसते हैं, जैसे पण्डितजन विद्या को पाकर नम्र हो जाते हैं।

[विद्वान का लक्षण नम्र होना है।]

बुन्द अघात सहहिँ गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसे ॥५२२॥

बूँदों की चोट पर्वत कैसे सहते हैं, जैसे दुष्टों के वचन सन्त लोग सहते हैं। [दुष्टों का कटु-वचन सहना सन्तों का लक्षण है।]

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई ॥५२३॥

छोटी नदियाँ जल से भर बाँध (सीमा) तोड़कर बह चली हैं, जैसे दुष्ट लोग थोड़ा-सा भी धन पाकर मस्त (मदान्ध) हो जाते हैं।

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी ॥५२४॥

भूमि पर पड़ते ही पानी मटमैला हो गया, मानो जीव से माया लिपटी हो।

[जीव का स्वरूप निर्मल है, माया से मिलने पर मैला हो जाता है।]

समिटि समिटि जल भरहिँ तलाबा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिँ आवा ॥५२५॥

बटुर-बटुरकर पानी तालाब में भरता है, जैसे धीरे-धीरे सद्‌गुण सज्जनों के पास आते हैं।

[सज्जन थोड़ा-थोड़ा उत्तम गुण ग्रहण कर सद्‌गुणों से भर जाते हैं।]

सरिता जल जलनिधि महँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥५२६॥

नदियों का जल समुद्र में जाकर स्थिर हो जाता है, जैसे जीव हरि को पाकर स्थिर हो जाता है।

['निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥'
(रामचरितमानस-सप्तम सोपान)

भ्रमित मन में अचलता नहीं हो सकती है, सगुण रूप हरि को पाकर इस अचलता की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु उन्हीं के निर्गुण स्वरूप की प्राप्ति होने पर इस अचलता की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय नहीं।]

***दोहा*—हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पन्थ।**
जिमि पाखंड बिबाद तें, गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥५७॥

घासों से परिपूर्ण होने से धरती हरी हो गई है, इससे रास्ते जान नहीं पड़ते, जैसे पाखण्ड की बातों से सद्ग्रन्थ छिप जाते हैं।

नव पल्लव भये बिटप अनेका।
साधक मन जस मिले बिबेका॥५२७॥

अनेक प्रकार के वृक्षों में नए पत्ते हो गए हैं, इससे वे कैसे जान पड़ते हैं, जैसे साधक का मन सारासार का ज्ञान पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥५२८॥

आक और जवास बिना पत्तों के हो गए हैं, जैसे अच्छे राज्य में दुष्टों के धन्धे मिट जाते हैं।

[सुराज्य में दुष्टों के धन्धे नहीं हो पाते हैं।]

खोजत कतहुँ मिलइ नहिँ धूरी।
करइ क्रोध जिमि धर्महिँ दूरी॥५२९॥

खोजने पर भी कहीं धूल नहीं मिलती है, जैसे क्रोध धर्म को दूर कर देता है। [क्रोध धर्म को नष्ट कर देता है।]

ससि सम्पन्न सोह महि कैसी।
उपकारी कै सम्पति जैसी॥५३०॥

फसल से भरी हुई धरती कैसी सोहती है, जैसे उपकारी पुरुष की सम्पत्ति सोहती है।

[धरती की फसल धरती के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के

लिए है। उसी तरह परोपकारी की सम्पत्ति दूसरों के लिए होती है।]

निसि तम धन खद्योत बिराजा।
जनु दम्भिन्ह कर मिला समाजा॥५३१॥

रात की घनी अँधियारी में जुगनू इस तरह शोभा पाते हैं, मानो पाखण्डियों का समाज एकत्रित हो।

[जुगनुओं से अत्यल्प चमक होती है, उससे मार्ग नहीं सूझता। उसी तरह पाखण्डियों के उपदेश से कुछ ज्ञान-सा प्रतीत होता है, पर सन्मार्ग नहीं दरसता।]

महा वृष्टि चलि फूटि कियारीं।
जिमि सुतन्त्र भये बिगरहीं नारीं॥५३२॥

भारी वृष्टि से क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतंत्र होने पर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं।[स्वतन्त्रता पाकर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं।]

कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥५३३॥

चतुर किसान खेती को कमाते हैं (जंगलों से रहित कर देते हैं), जैसे बुद्धिमान मोह, मद और अभिमान को दूर कर देते हैं। [बुद्धिमान को चाहिए कि वह मोह, मद और अभिमान को छोड़ दे।]

देखिअत चक्रबाक खग नाहीं।
कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥५३४॥

चकवा पक्षी देख नहीं पड़ते, जैसे कलियुग को पाकर धर्म भाग जाते हैं।

ऊसर बरषइ तृन नहिं जामा।
जिमि हरि जन हिय उपज न कामा॥५३५॥

ऊसर में वर्षा होने पर भी तृण नहीं उगते हैं, जैसे हरि-भक्तों के हृदय में (काम-वासना का संयोग होने पर भी) काम-वासना उत्पन्न नहीं होती है।

[हरिभक्तों के हृदय में संयोग पाकर भी काम-वासना उत्पन्न नहीं होती।]

बिबिध जन्तु संकुल महि भ्राजा।
प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥५३६॥

अनेक प्रकार के जीवों से भरकर पृथ्वी ऐसी शोभित है, जैसे

अच्छे (धर्मात्मा-नीतिज्ञ) राजा को पाकर प्रजा बढ़ती है।

जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।
जिमि इन्द्रिय गन उपजें ग्याना॥५३७॥

जहाँ-तहाँ अनेक पथिक थककर टिके हैं, जैसे ज्ञान होने से इन्द्रियगण शिथिल (निश्चेष्ट) हो जाते हैं।

[ज्ञान से इन्द्रियों का दमन होता है और ज्ञान, योग से उत्पन्न होता है (देखो चौ० सं० ४११), अतएव योगाभ्यास के बिना इन्द्रियों का दमन नहीं होगा।]

***दोहा*–कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।**
जिमि कपूत के ऊपजें, कुल सद्धर्म नसाहिं॥ ७६॥

कभी प्रबल वायु के बहाने से मेघ जहाँ-तहाँ लुप्त हो जाते हैं, जैसे कुपुत्र के उत्पन्न होने से कुल के उत्तम धर्म नष्ट हो जाते हैं।

***दोहा*–कबहुँ दिवस महँ निविड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग।**
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥ ७७॥

कभी दिन में घनी अँधियारी छा जाती है और कभी सूर्य प्रगट हो जाते हैं। जैसे ज्ञान कुसंग पाकर नष्ट होता और सुसंग पाकर उत्पन्न होता है।

बरषा बिगत सरद रितु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई॥५३८॥

हे लक्ष्मण ! देखो वर्षा ऋतु बीत गई और शरद ऋतु आई, यह परम शोभायमान है।

फूले कास सकल महि छाई।
जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई॥५३९॥✡

फूले हुए कास पूरी धरती पर छा गई, मानो वर्षा ऋतु ने (कासरूपी सफेद बालों के रूप में) अपना बुढ़ापा प्रकट किया हो॥

उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोखा॥५४०॥

अगस्त्य तारे का उदय हुआ, रास्ते का जल सूखने लगा, जैसे लोभ को सन्तोष सोख लेता है।

[सन्तोष से लोभ का नाश हो जाता है।]

सरिता सर निर्मल जल सोहा।
सन्त हृदय जस गत मद मोहा॥५४१॥

नदी-सरोवर का जल निर्मल हो शोभित होता है, जैसे मद और मोह दूर होकर सन्तों का हृदय होता है।

[सन्तों का हृदय मद-मोह से रहित निर्मल होता है।]

रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिँ जिमि ज्ञानी॥५४२॥

नदी-तालाबों का पानी धीरे-धीरे सूखता है, जैसे ज्ञानी लोग धीरे-धीरे ममता का त्याग करते हैं।

[ज्ञानीजन धीरे-धीरे ममता त्याग देते हैं।]

जानि सरद रितु खंजन आये।
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये॥५४३॥

शरद ऋतु जान खंजन पक्षी आ गए, जैसे समय पाकर सुकर्म सुहावना लगता है।

[वृक्ष को लगाने, सींचने, निराने और विघ्नों से बचाने से उसका पालन होता है। समय पाकर उससेफल भी अवश्य मिलता है, इसी तरह सुकर्मों का फल भी अवश्य ही मिलता है।]

पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥५४४॥

कीचड़ और धूल के बिना पृथ्वी ऐसी शोभती है, जैसे नीति-निपुण राजा की करनी सुहावनी लगती है।

जल संकोच बिकल भइँ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥५४५॥

पानी घटने से मछलियाँ व्याकुल हो गई हैं, जैसे बुद्धिहीन कुटुम्बी (बड़े परिवारवाले) धन-हीन होने पर घबड़ाते हैं।

बिनु घन निर्मल सोह अकासा।
हरि जन इव परिहरि सब आसा॥५४६॥

बिना बादलों के निर्मल आकाश शोभायमान हो रहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर हरि-भक्त शोभायमान होते हैं।

[हरिभक्त सब आशाओं को छोड़ एक हरि की ही आशा रखते हैं।]

कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।
कोउ इक पाव भगति जिमि मोरी ॥५४७॥

कहीं-कहीं शरद ऋतु की थोड़ी वर्षा हो जाती है, जैसे कोई बिरला जीव मेरी भक्ति पाता है।

***दोहा*—चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।**
जिमि हरि भगति पाइ स्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥७८॥

राजा, तपस्वी, बनिये और भिखारी प्रसन्न हो नगर छोड़कर चले हैं, जैसे हरि-भक्ति पाकर चारो आश्रमवाले (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी) परिश्रम छोड़ देते हैं।

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा ॥५४८॥

जो मछलियाँ गहरे पानी में हैं, वे सुखी हैं, जैसे हरि की शरण में एक भी विघ्न नहीं होता है।

[हरि की शरण में हो जाने से सब विघ्न मिट जाते हैं।]

फूले कमल सोह सर कैसा।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा ॥५४९॥

कमल के फूलने से तालाब कैसा शोभित हो रहा है, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होने पर शोभित होते हैं।

[ब्रह्म का मूल स्वरूप निर्गुण है। जैसे उचित समयों पर तालाब में कमल बारम्बार उपजते, फूलते और मिटते हैं, उसी तरह सगुण बारम्बार प्रकट होते, चमत्कार-पूर्ण लीला करते और लय होते हैं। निर्गुण स्वरूप स्थिर है और सगुण अस्थिर।]

चक्रबाक मन दुख निसि पेखी।
जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी ॥५५०॥

रात को देखकर चकवा (पक्षी) के मन में दुःख है, जैसे दूसरों की सम्पत्ति देखकर दुष्टों को दुःख है।

[दुष्ट पर-धन देखकर जलते हैं।]

चातक रटत तृषा अति ओही।
जिमि सुख लहइ कि संकर द्रोही ॥५५१॥

पपीहा रटता है (बोली का तार बाँधकर बोलता है)। उसे बड़ी प्यास है (वर्षा होने पर भी उसकी प्यास नहीं गई), जैसे शंकर (कल्याण करनेवाले) से द्रोह करनेवाला सुख नहीं पाता है।

[शंकरजी के द्रोही को सुख नहीं मिलता है। किसी से भी द्रोह करनेवाले को सुख नहीं मिलता। 'पर द्रोही की होहि निसंका।' (सप्तम सोपान—उत्तरकाण्ड)]

सरदातप निसि ससि अपहरई।
सन्त दरस जिमि पातक टरई॥५५२॥

शरद ऋतु के ताप को रात में चन्द्रमा इस तरह हर लेता है, जैसे सन्त के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं।

[सन्त के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उनके शरीर का पवित्र सार (गर्मी—vitality) उनके दर्शन करनेवालों की देह में स्वभावतः आप-से-आप समाकर शुभ और निर्मल प्रभाव पहुँचाता है। उसी तरह उनके (सन्तों के) पवित्र उपदेशों के असर भी उनके समीप में जाकर सुननेवालों को निष्पाप कर देते हैं।]

देखि इन्दु चकोर समुदाई।
चितवहिँ जिमि हरिजन हरि पाई॥५५३॥

चकोरों का समूह चन्द्रमा को (प्रसन्नतापूर्वक एकटक से) देख रहा है, जैसे हरि को पाकर हरि-भक्त एकटक से देखते हैं।

[मानस-ध्यान स्थिर दृष्टि से करना चाहिए।]

मसक दंस बीते हिम त्रासा।
जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा॥५५४॥

मच्छड़ों का काटना जाड़े के डर से दूर हो गया, जैसे द्विजों से द्रोह करने से कुल का नाश हो जाता है।

[ब्राह्मणों को भी द्विज कहते हैं। ब्राह्मणों के विषय में कुछ विचार चौ० सं० ४४७ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़िए। आगे बताया जा चुका है कि द्रोह किसी से भी करना अच्छा नहीं है।]

***दोहा*—भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद रितु पाइ।**
सदगुरु मिले जाहिँ जिमि, संसय भ्रम समुदाइ॥७९॥

धरती पर जो बहुतेरे जीवों के झुण्ड वर्षा में पैदा हुए थे, वे नष्ट हो गए, जैसे सद्गुरु के मिलने पर सन्देह और भ्रम मिट जाते हैं।

[सद्गुरु मिले बिना संशय-भ्रम दूर नहीं होते।]

इस प्रकार वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन करके रामजी लक्ष्मणजी से बोले कि हे भाई ! देखो, अब तो शरद ऋतु आ गई; परन्तु सुग्रीव ने सीताजी की खोज अबतक नहीं करवाई। तुम उसके नगर में जाओ और भय दिखाकर उसे मेरे पास ले आओ। लक्ष्मणजी सुग्रीव के घर गए और क्रोधपूर्वक उसे धमकी देने लगे। वह नम्र होकर बोला–

नाथ बिषय सम मद कछु नाहीँ।
मुनि मन मोह करइ छन माहीँ ॥५५५॥

हे नाथ ! विषय के समान और कोई मद नहीं है, जो क्षण भर में मुनियों के मन में भी मोह उत्पन्न कर देता है।

फिर लक्ष्मणजी के साथ सुग्रीव आदि कपि रामजी के पास आए। सुग्रीव रामजी को प्रणाम करके बोले–

बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥५५६॥

हे स्वामी ! देवता, मनुष्य और मुनि विषय के वश में हैं, फिर मैं तो अत्यन्त कामी पशु वानर (बन्दर) हूँ।

नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥५५७॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया।
सो नर तुम समान रघुराया ॥५५८॥

स्त्रियों के नेत्र-वाण जिन्हें नहीं लगे, जो क्रोध-रूपी अँधेरी रात में जागते हैं (अर्थात् क्रोध के वश में नहीं होते हैं), हे रघुनाथजी ! लोभ की फाँस से जिसने अपना गला नहीं बँधाया, वह मनुष्य आपके समान है।

यह गुन साधन तें नहिँ होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ॥५५९॥

ये गुण साधन से नहीं होते, तुम्हारी कृपा से कोई-कोई पाते हैं। [भक्ति की साधना के बिना भगवान कृपा नहीं करते।]

रामजी ने सुग्रीव को बड़े प्यार से कहा कि तुम मुझे भरत की तरह प्यारे हो। यों बातें हो रही थीं कि उसी समय झुण्ड-के-झुण्ड वीर बन्दर आए। सुग्रीव ने उनसे कहा-तुमलोग सब दिशाओं में जाकर सीताजी को खोजो। और सुनो-

भानु पीठ सेइय उर आगी।
स्वामिहिँ सर्ब भाव छल त्यागी ॥५६०॥

सूर्य को पीठ से और अग्नि को छाती से सेवन करना चाहिए, परन्तु स्वामी की सेवा सब प्रकार के छल छोड़कर स्नेह से करनी चाहिए।

तजि माया सेइय परलोका।
मिटहिँ सकल भव सम्भव सोका ॥५६१॥

माया को छोड़कर परलोक की सेवा करनी चाहिए, जिससे संसार से उत्पन्न सम्पूर्ण शोक मिट जायँ।

देह धरे कर यह फलु भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई ॥५६२॥

भाइयो ! देह धारण करने का फल यह है कि सब इच्छाओं को छोड़कर रामजी की भक्ति करनी चाहिए।

सोइ गुनज्ञ सोई बड़ भागी।
जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥५६३॥✡

वही सद्गुणों को जाननेवाला (गुणग्राही) तथा बड़भागी है, जो श्रीरामजी के चरणों का प्रेमी है।

सुग्रीव की बातें सुनकर बन्दर सब दिशाओं में सीताजी की खोज में चले गए। अंगद और जाम्बवन्त आदि दक्षिण दिशा को गए। उन्होंने हनुमानजी को समुद्र लाँघकर लंका जाने की सलाह दी।

रामचरितमानस-सार सटीक
चतुर्थ सोपान-किष्किन्धाकाण्ड समाप्त

रामचरितमानस-सार सटीक

पंचम सोपान–सुन्दरकाण्ड

हनुमानजी समुद्र के किनारे के एक पहाड़ पर कूदकर चढ़ गए और वहाँ से एक अत्यन्त वेगवान छलाँग मार, समुद्र लाँघकर लंका में पहुँच गए। लंका नगर के चतुर्दिक नगर-रक्षिणी दीवार थी। उसके एक द्वार पर एक लंकिनी नाम की राक्षसी पहरेदार थी। जब हनुमानजी उस द्वार से पार होकर लंका में जाने लगे, तो वह बड़े जोर से बिगड़ी। उनको चोर कहकर अनादृत किया और मार्ग रोककर खड़ी हो गई। हनुमानजी ने ऐसा घूँसा मारा कि वह लुढ़ककर गिर पड़ी और रुधिर वमन करने लगी। फिर उठकर डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी कि हे हनुमान ! जब ब्रह्माजी रावण को वरदान देकर जाने लगे थे, तो उन्होंने मुझे कहा था कि जब तुम बन्दर की मार खाने पर विकल हो जाओगी, तब जानना कि अब निशिचर-कुल का नाश होगा। हे हनुमान ! मेरा बहुत पुण्य था कि मैंने रामजी के दूत को आखों से देखा। और–

***दोहा*–तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।**
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥ ८०॥

हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सुख को तराजू के एक पलड़े में और पलभर के सत्संग का सुख दूसरे पलड़े में रखकर तौला जाय, तो वे दोनों मिलकर इसके (लव-मात्र सत्संग के सुख के) बराबर नहीं हो सकते।

हनुमानजी गुप्त रूप से सीताजी को लंका में खोजने लगे। खोजते-ढूँढते वे विभीषण के घर पहुँचे। विभीषण से सीताजी के निवास स्थान का पता पाकर हनुमानजी अशोक-वाटिका में सीताजी के पास पहुँचे। उन्होंने सब समाचार कहा और अपने को राम-दूत होने का प्रमाण देकर सीताजी को विश्वास दिलाया। रामजी का समाचार पा, हनुमान को राम-दूत जानकर सीताजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं। भूख लगने पर हनुमानजी ने अशोक-वाटिका

के फल खाने की आज्ञा सीताजी से प्राप्त कर ली। वे फलों को खाने और वृक्षादिकों को तोड़ने लगे। रावण के बेटे अक्षयकुमार आदि जो हनुमानजी को रोकने-पकड़ने-मारने गए, सब-के-सब उनके हाथों मारे गए। इसके बाद रावण-पुत्र महाबलवान मेघनाद ने हनुमानजी को ब्रह्म-फाँस में बाँधकर रावण के सम्मुख उपस्थित किया। रावण ने पूछा कि तू किसका दूत है ? हनुमानजी ने उत्तर दिया–

जाके बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दस सीसा ॥५६४॥☆

हे रावण ! जिनके बल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश (क्रमशः) सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करते हैं।

जा बल सीस धरत सहसानन।
अंड कोस समेत गिरि कानन ॥५६५॥☆

जिनके बल से सहस्त्रमुख (शेषनाग) पर्वत और वन सहित समस्त ब्रह्माण्ड को सिर पर धारण करते हैं।

धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता।
तुम्ह से सठन सिखावन दाता ॥५६६॥☆

जो देवताओं की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के शरीर धारण करते हैं और जो तुम जैसे मूर्खों को शिक्षा देनेवाले हैं।

हर कोदंड कठिन जेहि भञ्जा।
तोहि समेत नृप खल दल गञ्जा ॥५६७॥☆

जिन्होंने शिवजी के कठोर धनुष को तोड़ डाला और तुम्हारे सहित दुष्ट राजाओं के समूह का घमण्ड चूर कर दिया।

खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली।
बधे सकल अतुलित बलसाली ॥५६८॥☆

खर, दूषण, त्रिशिरा और बालि, जो सभी अतुलनीय बलवान थे, का वध किया।

***दोहा*–जाके बल लवलेस तें, जितेहु चराचर झारि।**
तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि ॥८१॥☆

जिनके लेशमात्र बल से तुमने समस्त चराचर जगत को

जीत लिया है और जिनकी प्रिय स्त्री का तुमने अपहरण कर लिया है, मैं उन्हीं का दूत हूँ।

[चौ० सं० ५६४ में राम को हरि से भी बड़ा बतलाया गया है। रामचरितमानस में 'हरि' शब्द बारम्बार राम के लिए और उसके अधीनस्थ विष्णु भगवान के लिए भी लिखा गया है। प्रथम से चतुर्थ सोपान तक अनेक स्थानों पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि राम क्षीर-समुद्र-निवासी विष्णु भगवान ही थे। जहाँ-जहाँ यह बतलाया जाता है कि राम विष्णु के रूप हैं, वहाँ-वहाँ जानना चाहिए कि विष्णु भी एक के ऊपर एक बहुत हैं और 'हरि' शब्द सब विष्णुओं के लिए प्रयोग किया जाता है।]

और भी बहुत-सी उचित बातें कहकर हनुमानजी ने रावण से कहा कि-

रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका।
तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥५६९॥✡

ऋषि पुलस्त्यजी का यश चन्द्रमा के समान निर्मल है। उस चन्द्रमा में तुम दाग मत बनो।

[विमल ब्राह्मण-कुल-दीपक परम यशस्वी पुलस्त्य ऋषि का पौत्र और विश्वश्रवा मुनि का पुत्र रावण यदि हिंसा और पर-नारी-हरणादि दुष्ट कर्म करे, तो पुलस्त्य ऋषि के यश में कलंक लगेगा।]

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥५७०॥✡

राम-नाम के बिना वाणी शोभा नहीं पाती, अहंकार और मोह को छोड़ इसे विचारकर देखो।

बसन हीन नहिँ सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी॥५७१॥✡

हे देवताओं के शत्रु ! सब गहनों से सजी हुई श्रेष्ठ नारी भी वस्त्र-हीन होने से शोभा नहीं पाती है।

राम बिमुख सम्पति प्रभुताई।
जाइ रही पाई बिनु पाई॥५७२॥✡

राम से विमुख व्यक्ति की जो सम्पत्ति और वैभव है, वह चली जाती है और उसका पाना, न पाने के समान ही है।

सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं ।
बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं ।।५७३।।✡

जिन नदियों के उद्‌गम में कोई (स्थायी) जल का स्त्रोत नहीं है, वे वर्षा समाप्त होते ही फिर तुरंत सूख जाती हैं।

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी ।
बिमुख राम त्राता नहिँ कोपी ।।५७४।।✡

हे रावण ! सुनो मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि राम-विमुख का कोई भी रक्षक नहीं है।

संकर सहस बिस्नु अज तोही ।
सकहिँ न राखि राम कर द्रोही ।।५७५।।✡

तुम जैसे श्रीरामजी के विरोधी को हजारो शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं बचा सकते।

***दोहा*–मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान ।**
भजहु राम रघुनायक, कृपासिन्धु भगवान ।।८२।।

अज्ञान की जड़, बहुत दुःख देनेवाले अन्धकार-रूप अहंकार को छोड़ो और कृपासिन्धु रघुनायक राम को भजो।

हनुमानजी के इन उपदेशों को सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसने राक्षसों को आज्ञा दी कि इसे मार डालो। विभीषण प्रार्थनापूर्वक बोले कि दूत को मारना उचित नहीं, इसलिए इसे कोई दूसरा दण्ड दिया जाय। रावण ने कहा–'अच्छा, इसकी पूँछ में घी-तेल से बोरे हुए कपड़े लपेटकर आग लगा दो। जब यह पूँछ-हीन होकर लौट जाएगा और अपने मालिक को बुला लाएगा, तब हम देखेंगे कि यह जिसकी इतनी बड़ाई करता है, वह कैसा है ?' हनुमानजी की पूँछ में अग्नि लगा दी गई। अब क्या था ! हनुमानजी तो यह चाहते ही थे। वे कूद-कूदकर घरों पर चढ़ते गए, घर जलते गए। इस भाँति सारी लंका जलकर भस्म हो गई। राम की कृपा से उसकी पूँछ न जली। फिर सीताजी को प्रणाम कर समुद्र को लाँघ गए। वहाँ समुद्र के उत्तर किनारे पर अंगदादि से आ मिले। फिर सब मिलकर राजा सुग्रीव के पास आए। सुग्रीव बड़े

प्रसन्न हो सबों को साथ में लेकर रामजी के पास आए। रामजी ने हनुमानजी के मुख से सीता का समाचार और लंका-दाह सुन वानरी सेना सजा लंका पर चढ़ाई करने के लिए यात्रा कर दी। समुद्र किनारे पहुँचकर रामजी ने ससैन्य डेरा डाला। जब रावण को इसका पता लगा कि राम सेना-सहित समुद्र-किनारे आ गए हैं, तो उसने अपने मन्त्रियों से विचार पूछा। मन्त्री लोग हँस पड़े और बोले कि महाराज ! इसमें कुछ विचार की आवश्यकता नहीं है। जब आपने सब देव-दानवों को जीत लिया, तब तो कोई परिश्रम ही नहीं हुआ, तो ये नर-वानर किस गिनती में हैं ? यहाँ महादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं–

दोहा–सचिव बैद गुरु तीनि जौं, प्रिय बोलहिँ भय आस ।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगि ही नास ॥८३॥

मन्त्री, वैद्य और गुरु; ये तीनों यदि डरकर आशा (सहायता की आशा) से प्रिय वचन कहते हैं (उचित बात नहीं कहते हैं), तो राज, धर्म और शरीर (तीनों का शीघ्र ही नाश होता है।

रावण को ऐसे ही सहायकगण मिले हैं। समय पाकर विभीषण वहाँ आये और अपना विचार इस भाँति दिया–

जो आपन चाहइ कल्याना ।
सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना ।। ५७६ ।।
सो पर नारि लिलार गुसाईं ।
तजइ चौथि के चन्द कि नाईं ।। ५७७ ।।

जो अपना कल्याण, सुयश, सुबुद्धि, शुभ गति और बहुत प्रकार के सुखों को चाहे; हे गोसाईं ! वह परायी स्त्री का माथा चौथ के चन्द्रमा की तरह (कलंक लगानेवाला जानकर) त्याग दे।

चौदह भुवन एक पति होई ।
भूत द्रोह तिष्ठै नहिँ सोई ।। ५७८ ।।

(जो) चौदहो भुवनों का एक ही स्वामी हो, वह भी जीव-मात्र से वैर करने से नहीं ठहर सकता है।

गुनागार नागर नर जोऊ ।
अलप लोभ भल कहइ न कोऊ ।। ५७९ ।।

जो मनुष्य गुणों का भवन और चतुर हो, उसके थोड़े भी लोभ को कोई भला नहीं कहता है ।

***दोहा*–काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक कर पंथ ।**
सब परिहरि रघुवीर ही, भजहु भजहिँ जेहि सन्त ॥८४॥

हे नाथ ! काम, क्रोध, अहंकार और लोभ; ये सब-के-सब नरक के मार्ग हैं। इन सबों को छोड़कर राम का भजन कीजिए, जिनको सन्त लोग भजते हैं।

विभीषण की बातें सुनकर रावण क्रोधित हो विभीषण से बोला कि तुम मेरे शत्रु का गुण गाते हो। फिर सभा की ओर देखकर बोला–'है कोई ! इसे यहाँ से निकालो।' विभीषण फिर हाथ जोड़कर कहने लगे–

सुमति कुमति सबके उर रहहीँ ।
नाथ पुरान निगम अस कहहीँ ॥५८०॥✡

हे नाथ ! पुराण और वेद ऐसा कहते हैं कि सद्‌बुद्धि और कुबुद्धि सबके हृदय में रहती है।

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥५८१॥

जहाँ सुबुद्धि रहती है, वहाँ बहुत प्रकार की सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुबुद्धि होती है, वहाँ अन्त में विपत्ति आती है।

विभीषण ने बिना पूछे और भी अनेक हित-विचार रावण को दिए, पर उसका क्रोध बढ़ता ही गया। उसने कहा–'तू शत्रु का गुण गाता है, जा उसी को नीति सिखा' यह कह उसने विभीषण को लात मार दी। विभीषण इतने पर भी उसके चरण पकड़कर सविनय धर्मोपदेश करने लगे। यहाँ महादेवजी कहते हैं–

उमा सन्त कर इहइ बड़ाई ।
मन्द करत जो करइ भलाई ॥५८२॥

हे उमा ! सन्तों की यही बड़ाई है कि उनके साथ जो बुराई करते हैं, वे उनके साथ भी भलाई करते हैं।

विभीषण रावण से बोले कि हे भाई ! तुम मेरे पिता के तुल्य हो। तुमने भले ही मुझे मारा, परन्तु रामजी का भजन करने

में तुम्हारी भलाई है। लो, मैं राम के पास जाता हूँ। ऐसा कह अपने मन्त्रियों के सहित आकाश में गए और सबको सुनाकर बोले कि अब मैं राम के पास जाता हूँ, मुझे कोई दोष मत देना। यहाँ महादेवजी कहते हैं–

अस कहि चला विभीषण जबहीं।
आयू-हीन भये सब तबहीं॥५८३॥*

ऐसा कहकर विभीषणजी जैसे ही चले, सभी (राक्षस) आयुहीन हो गए।

साधु अवज्ञा तुरत भवानी।
कर कल्यान अखिल कै हानी॥५८४॥

हे भवानी! साधु पुरुषों का अनादर (करना) सम्पूर्ण कल्याण का नाश कर देता है।

विभीषण आकाश-मार्ग से लंका से चलकर रामजी की सेना में आ मिले। सुग्रीव ने उनको एक जगह ठहरा रामजी से कहा कि रावण का भाई विभीषण आपसे मिलने आया है, परन्तु मेरे मन में आता है कि वह हमलोगों का भेद लेने आया है। अतएव उसे बाँध रखना चाहिए। रामजी ने कहा–'शरणागत की रक्षा करना मेरा प्रण है।' और–

***दोहा*–सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।**
ते नर पामर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि॥ ८५॥

जो अपना अनभल अनुमान कर शरण में आए हुए को त्याग देते हैं, वे मनुष्य नीच और पापमय हैं। उपको देखने से हानि होती है।

रामजी की आज्ञा पाकर बन्दर लोग विभीषण को आदरपूर्वक रामजी के पास ले गए। विभीषण ने 'त्राहि शरणागत-रक्षक!' कहकर रामजी को प्रणाम किया। रामजी ने उठकर उनको हृदय से लगा लिया और पूछा–

कहु लंकेस सहित परिवारा।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥५८५॥*

हे लंकेश (विभीषण)! तुम्हारा निवास तो बुरी जगह पर है। परिवार सहित अपनी कुशलता कहो।

खल मंडली बसहु दिन राती।
सखा धरम निबहइ केहि भाँती ॥५८६॥✡

दिन-रात दुष्टों के समाज में रहते हो। हे मित्र! तुम्हारा धर्म किस प्रकार निभता है ?

मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती।
अति नय निपुन न भाव अनीती ॥५८७॥✡

मैं तुम्हारे सभी आचारों को जानता हूँ। तुम नीति में अत्यन्त निपुण हो, तुममें अनीति की भावना नहीं है।

बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥५८८॥✡

हे तात ! नरक में रहना भी अच्छा है, परन्तु ईश्वर दुष्टों का संग न दे।

उत्तर में विभीषण बोले–

अब पद देखि कुसल रघुराया।
जो तुम कीन्हि जानि जन दाया ॥५८९॥✡

हे रघुनाथजी ! आपके चरणों का दर्शन कर अब कुशल है, जो आपने अपना सेवक जानकर मुझपर दया की है।

***दोहा*–तब लगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहु मन बिस्राम।**
जब लगि भजत न राम कहँ, सोक धाम तजि काम ॥ ८६॥

जीव को तबतक कुशल नहीं और न स्वप्न में भी मन में चैन मिलता है, जबतक वह शोकों के घर मनोरथों को छोड़कर राम को नहीं भजता।

विभीषण की बातों से रामजी ने प्रसन्न होकर उनको अपने पास रख लिया। फिर समुद्र में मार्ग पाने के लिए व्रतधारी होकर रामजी समुद्र से विनती करने लगे। तीन दिन बीत गए, पर समुद्र ने विनती न मानी। तब क्रोधित होकर रामजी लक्ष्मणजी से बोले–'हे भाई ! धनुष-वाण लाओ, मैं वाणों के तेज से समुद्र को सुखा दूँगा।' क्योंकि–

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।
सहज कृपन सन सुन्दर नीती ॥५९०॥

दुष्ट से विनती, कपटी से प्रीति, स्वाभाविक कंजूस से सुन्दर नीति कहना,

ममता रत सन ज्ञान कहानी।
अति लोभी सन बिरति बखानी॥५९१॥

ममता में लीन पुरुष से ज्ञान की कथा, परम लोभी से वैराग्य का वर्णन करना,

क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा।
ऊसर बीज बये फल जथा॥५९२॥

क्रोधी से सौम्यता (शान्ति-शीतलता) और कामी से हरि-कथा कहना वैसे ही निष्फल है, जैसे ऊसर में बीज बोना।

इतना कहकर रामजी ने समुद्र सोखने के लिए धनुष पर वाण चढ़ाया, तब समुद्र डरकर ब्राह्मण के रूप में रामजी के सम्मुख आया। यहाँ कागभुशुण्डिजी कहते हैं–

***दोहा*–काटेहि पै कदली फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।**
बिनय न मान खगेस सुनु, डाँटेहि पै नव नीच॥ ८७॥

हे गरुड़जी ! सुनिए, केला काटने पर ही फलता है, चाहे कोई करोड़ों उपाय से सींचे। नीच विनती नहीं मानते, डाँटने पर ही नवते हैं।

समुद्र ने रामजी की बड़ी विनती की और उन्हें बतलाया कि नल और नील के छुए पत्थर जल में नहीं डूबते–तैरते रहते हैं। आप पत्थरों को मँगा उन दोनों से समुद्र-जल पर बाँध बनवा लीजिए। उस पर से आपकी सेना पार उतर जाएगी। फिर रामजी की आज्ञा पाकर समुद्र अपने घर गया।

रामचरितमानस-सार सटीक
पञ्चम सोपान–सुन्दरकाण्ड समाप्त।

रामचरितमानस-सार सटीक

षष्ठ सोपान-लंकाकाण्ड

_दोहा_–लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड ॥८८॥

तुलसीदासजी कहते हैं–'काल जिसका धनुष और लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प प्रचण्ड वाण हैं, उन रामजी का भजन हे मन ! तू क्यों नहीं करता ?

[आँख की पलक गिरने का नाम है लव। ६० लव = एक निमेष; ६० निमेष = १ परमाणु; ६० परमाणु = एक पल; ६० पल = १ घड़ी; ६० घड़ी = ८ पहर वा १ दिन-रात वा २४ घंटे; ३० दिन-रात = एक महीना; १२ महीना = १ वर्ष; इसी वर्ष से १७ लाख २८ हजार वर्ष सत्ययुग की आयु, १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेता की, ८ लाख ६४ हजार वर्ष द्वापर की और ४ लाख ३२ हजार वर्ष कलियुग की आयु है। इन चारो युगों के एक-एक बार बीतने का नाम १ चौकड़ी है। १ हजार चौकड़ी युग = १ कल्प = ब्रह्मा का १ दिन-रात। इस दिन से ३० दिनों का १ महीना, ऐसे १२ महीनों का १ वर्ष, ऐसे १०० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मा जीते हैं। ब्रह्मा की आयु के नाश होने पर महाप्रलय कहा जाता है। एक ब्रह्मा की आयु के समान समय को महाकल्प कहते हैं।]

समुद्र की बतलाई हुई युक्ति से श्रीरामजी की आज्ञा पा बन्दरों ने सुदृढ़ पुल बना दिया। रामजी ससैन्य उस पुल पर से समुद्र पार होकर लंका में सुबेल पर्वत पर जा बिराजे। जब यह खबर रावण को मिली, तब उसने अपने मन्त्रियों से पूछा कि अब क्या करना चाहिये ? मन्त्रियों ने कहा–'हे प्रभु ! आप बारम्बार क्या पूछते हैं? वानर और मनुष्य तो हमारे आहार हैं।' रावण का बेटा

प्रहस्त, जो उस सभा में बैठा था, बोला कि हे पिताजी ! मंत्रिगण आपको उचित विचार नहीं देते हैं। इनका विचार बहुत ही तुच्छ है। फिर वह मंत्रियों से बोला कि एक बन्दर आकर सम्पूर्ण लंका जला गया, उस समय उसे खा जाने को भूख तुम्हें नहीं थी ? अब भी अनुचित ठाकुर-सुहाती बातें करते हो ! फिर रावण से बोला कि हे पिताजी ! मुझे कायर न समझिए, मेरी बातें आदर से सुनिए-

प्रिय बानी जे सुनहिँ जे कहहीं।
ऐसे नर निकाय जग अहहीँ ॥५९३॥

ऐसे मनुष्य संसार में बहुत हैं, जो प्रिय वचन सुनते और कहते हैं।

बचन परम हित सुनत कठोरे ।
सुनहिँ जे कहहिँ ते नर प्रभु थोरे ॥ ५९४॥

हे प्रभु ! ऐसे नर थोड़े हैं, जो परम हितकारी, परन्तु कठोर वचनों को सुनते और कहते हैं।

फिर बोला-'हे पिताजी ! पहले तो रामजी के पास दूत भेजिए, पीछे सीताजी को उन्हें समर्पण कर दीजिए। यदि वे सीताजी को पाकर लौट जाएँ तो बड़ी अच्छी बात है और न लौटें-युद्ध ठानें, तो उनसे लड़ाई कीजिए।' रावण को यह बात न भायी, उसने प्रहस्त को डाँटा। प्रहस्त कटु वचन कहता हुआ घर चला गया। इधर रामजी ने पहले रावण को समझाने के लिए उसके पास युवराज अंगद को दूत बनाकर भेजा। अंगद ने उसे बहुत समझाया, पर उसने कुछ कान नहीं किया और घोर अहंकार से बहुत कड़क-कड़ककर बातें कहने लगा। अन्त में अंगदजी ने उसे कहा कि तू तो मरा हुआ ही है; क्योंकि-

कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा।
अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥५९५॥

१-वाममार्गी, २-कामातुर, ३-कंजूस, ४-महामूर्ख, ५-अत्यन्त दरिद्र, ६-कलंकी, ७-बहुत बूढ़ा,

सदा रोग बस सन्तत क्रोधी।
बिस्नु बिमुख स्रुति सन्त बिरोधी ॥ ५९६॥

८-सदा रोग के वश में रहनेवाला, ९-सदा क्रोध करने वाला, १०-भगवान विष्णु से विमुख रहनेवाला, ११-वेद और सन्तों से विरोध करनेवाला,

तनु पोषक निन्दक अघखानी।
जीवत सव* सम चौदह प्रानी॥५९७॥

१२-शरीर पालनेवाला, १३-सबकी निन्दा करनेवाला और १४-पापों की खान; ये चौदह प्राणी जीते हुए मृतक के तुल्य हैं।

ये बातें सुन रावण क्रोधित हो तर्जन-गर्जन करने लगा, पर अंगदजी कुछ न डरे। वे उसका (रावण का) मान-मर्दन कर रामजी के पास लौट आए। दूसरे दिन से लड़ाई ठन गई। निशाचर एक-एक कर मारे जाने लगे। जब कुम्भकर्ण और मेघनाद तक मारे गये, तब स्वयं रावण रथ पर चढ़ सेना ले लड़ने आया। रणभूमि जाते समय उसे बहुत-से भयानक अपशकुन होने लगे। यहाँ महादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं–

***दोहा*–ताहि कि सम्पति सगुन सुभ, सपनहुँ मन बिस्राम।**
भूत द्रोह रत मोह बस, राम बिमुख रत काम॥८९॥

क्या उसको स्वप्न में भी सम्पत्ति, शकुन, कल्याण और मन में चैन मिल सकता है, जो जीवों से द्रोह करने में तत्पर, अज्ञान के अधीन, वासनाओं में अनुरक्त और राम से विमुख है? (कदापि नहीं।)

युद्ध-भूमि में रावण रथ पर था और रामजी पैदल थे, यह देख विभीषण अधीर होकर रामजी से बोले कि हे नाथ! आप न तो रथ पर सवार हैं और न आपके पैरों में जूते हैं; इस बलवान शत्रु को कैसे मारिएगा? रामजी ने कहा–

सुनहु सखा कह कृपा निधाना।
जेहि जय होय सो स्यन्दन आना॥५९८॥

कृपानिधान रामजी ने कहा कि हे मित्र! सुनो, जिससे जीत होती है, वह दूसरा ही रथ है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥५९९॥

* शव

शूरता और धीरज उस रथ के पहिए हैं, सत्यता मजबूत ध्वजा और शीलता पताका है।

बल बिबेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे ॥६००॥

सारासार का ज्ञान-बल, इन्द्रियों की रोक और परोपकार घोड़े हैं; क्षमा, कृपा और समता की रस्सी से जुड़े (बँधे) रहते हैं।

ईस भजन सारथी सुजाना।
बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ॥६०१॥

ईश्वर का भजन अति चतुर सारथि है, वैराग्य ढाल और सन्तोष तलवार है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ॥६०२॥

दान फरसा, ज्ञान तेज बर्छी और श्रेष्ठ विज्ञान (अनुभव ज्ञान) कठिन धनुष है।

अमल अचल मन त्रोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥६०३॥

निर्मल और स्थिर मन तरकश के समान है; शम, यम और नियम नाना प्रकार के तीर हैं।

कवच अभेद विप्र गुरु पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥६०४॥

ब्राह्मण और गुरु की पूजा नहीं छिदने योग्य सनाह (जिरह-बख्तर) है, इसके समान विजय के लिए दूसरा उपाय नहीं है।

सखा धरममय अस रथ जाके।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥६०५॥

हे सखा ! जिसके पास ऐसा धर्ममय रथ है, उसको जीतने के लिए कहीं भी शत्रु नहीं है।

***दोहा*—महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।**
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर ॥९०॥

हे मतिधीर सखे ! सुनिए, जिसको ऐसा रथ हो, वह महा अजय संसार-रूप शत्रु को जीत सकता है।

भगवान राम की इन बातों की सुनकर विभीषण बड़े सन्तुष्ट हुए। फिर रावण से महाघोर संग्राम ठन गया। रावण और राम की वीरता और पुरुषार्थ का वर्णन इति करने की शक्ति किसी में न पहले थी और न अब है। सम्मुख समर में रामजी से पार न पाकर रावण ने माया-युद्ध (जादूगरी का युद्ध) आरम्भ कर दिया । वह आप तो गुप्त हो गया, पर अपनी माया से उसने अनेक राम, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव और विभीषणादि रचकर अपनी सेना बना ली। अब इस अद्भुत रावण-सेना को देखकर राम को छोड़ उनकी सेना के सब कोई चकित हो गए।

बहु राम लछिमन देख मर्कट भालु मन अति अप डरे।
छन्द– जनु चित्र लिखित समेत लछिमन, जहँ सो तहँ चितवहिं खरे ॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर, चाप सजि कोसल धनी।
माया हरी हरि निमिष महँ, हरषी सकल मरकट अनी ॥६॥✡

अनेक राम-लक्ष्मण को देखकर वानर-भालू मन में बहुत भयभीत हो गए। जो जहाँ थे, वहीं खड़े चित्र की भाँति लक्ष्मण सहित उसे देखने लगे। अपनी सेना को अचम्भित देखकर कोसलपति भगवान ने हँसते हुए धनुष पर वाण चढ़ाकर एक पल में इस माया को हर लिया, (जिससे) पूरी वानरी सेना प्रसन्न हो गईं।

[ऐसी माया करने में सिद्ध रावण कितना स्वार्थी और पापी था ! ऐसी सिद्धियों के पाने से ही कोई भक्त, ज्ञानी, योगी और महात्मा नहीं हो सकता।]

रावण की माया नष्ट होने पर वह प्रकट होकर रामजी को दुर्वचन कहने लगा। वह बोला कि तुमने जितने राक्षसों को मारा है, मैं उनका बदला आज तुमको काल के हवाले करके लूँगा। रामजी ने कहा–

छन्द ७ हरिगीतिका

जनि जल्पना करि सुजस नासहि, नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिविध, पाटल रसाल पनस समा ॥
एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक, फलइ केवल लागही।
एक कहहिँ कहहि करहि अपर एक, करहिं कहत न बागही॥

बकवाद करके अपना सुयश मत नष्ट कर, नीति सुन, सन्तोष कर। संसार में गुलाब, आम और कटहल के समान तीन प्रकार के पुरुष होते हैं। एक फूल देनेवाले, एक फूल और फल देनेवाले और एक में केवल फल ही लगते हैं (फूल नहीं)। उसी तरह एक केवल कहते हैं (पर करते नहीं), एक कहते और उसे करते भी हैं, अन्य तीसरे (प्रकार के पुरुष) करते हैं, पर वचनों से कहते नहीं।

[कहना, पर उसे नहीं करना अधमता है।

'कहता सो करता नहीं, मुख का बड़ा लबार।
आखिर धक्का खायगा, साहब के दरबार ॥'

(कबीर साहब)]

रावण रामजी के इन वचनों को सुन परवाह न करते हुए कठोर वचन कह उनसे संग्राम करने लगा। रामजी ने उसके सिरों और हाथों को अनेक बार काटकर धरती और आकाश को आच्छादित कर दिया, परन्तु वह मरा नहीं। उसके मस्तक और हाथ कटने पर फिर नए हो जाते थे। वह अपने कटे माथों और हाथों की बढ़ती देख महा क्रोध करके समर करने लगा; पर फिर भी उसने सम्मुख समर में पार न पाकर अपनी माया फैलायी। वह अपना अगणित रूप बनाकर लड़ने लगा।

देखे कपिन्ह अमित दस सीसा।
जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा ॥ ६०६ ॥✡

वानरों ने अनगिनत रावण देखे। भालू और वानर सब इँधर-उधर भाग चले।

दह दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन।
गर्जहिँ घोर कठोर भयावन ॥ ६०७ ॥✡

दसो दिशाओं में करोड़ों रावण घोर, कठोर और भयानक गर्जन करते हुए दौड़ते हैं।

परन्तु रामजी ने उसकी माया को एक ही वाण से नष्ट कर दिया। उसने कुछ काल सम्मुख समर करके फिर माया फैलाई—

छन्द—जब कीन्ह तेहि पाखंड । भये प्रगट जन्तु प्रचंड ॥
बेताल भूत पिसाच । कर धरे धनु नाराच ॥✡

जब उसने माया रची, तो भयंकर जीव प्रकट हुए। बैताल, भूत और पिशाच हाथों में धनुष-वाण लिए हुए थे।

जोगिनि गहे करवाल । एक हाथ मनुज कपाल ॥
करि सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहु गान ॥✡

योगिनियाँ एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में मनुष्य की खोपड़ी लिए ताजा रक्त पीते हुए नाचने और विविध गीत गाने लगीं।

धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर ॥
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान ॥✡

वे 'पकड़ो, मारो'कहकर शोर मचा रही हैं। यह कोलाहल चारो ओर फैल गया। वे मुख फैलाकर खाने दौड़ीं, तो वानरगण भागने लगे।

जहँ जाहिं मर्कट भागि। तहँ बरत देखहिं आग॥
भये बिकल बानर भालु । पुनि लाग बरषइ बालु॥✡

वानर जहाँ भी भागकर जाते, वहीं आग जलती हुई देखते। फिर बालू बरसने लगा। इस प्रकार वानर-भालू व्याकुल हो गए।

जहँ तहँ थकित करि कीस । गर्जेउ बहुरि दससीस ॥
लछिमन कपीस समेत। भये सकल बीर अचेत ॥✡

(अपने मायावी पराक्रम से) रावण वानरों को जहाँ-तहाँ शिथिल कर फिर गरजा। लक्ष्मणजी और सुग्रीव सहित सभी वीर अचेत हो गए।

हा राम हा रघुनाथ । कहि सुभट मीजहिं हाथ॥
यहि बिधि सकल बल तोरि । तेहि कीन्ह कपट बहोरि॥✡

हा राम ! हा रघुनाथ ! –चीत्कार करते हुए श्रेष्ठ योद्धा अपने हाथ मलते (पछताते) हैं। इस भाँति सबका बल क्षीण कर रावण ने फिर दूसरी माया रची।

प्रगटेसि बिपुल हनुमान । धाये गहे पाषान ॥
तिन्ह राम घेरे जाइ। चहुँ दिसि बरूथ बनाइ ॥✡

उसने बहुत-से हनुमान प्रकट किए, जो पत्थर लिए दौड़े। उन्होंने चारो ओर दल बनाकर श्रीरामजी को घेर लिया।

मारहु धरहु जनि जाइ । कटकटहिं पूँछ उठाइ ॥
दह दिसि लंगूर बिराज । तेहि मध्य कोसल राज ॥८॥*

वे पूँछ उठाकर दाँत कट-कटाते हुए पुकार कर कहने लगे—'मारो, पकड़ो, भागने न पावे।' चारो ओर लंगूर घेरे हैं और उनके बीच में कोसलराज श्रीरामजी हैं॥ ८॥

नाराच = तीर । करवाल = तलवार । सद्य सोनित = ताजा रक्त।

[छन्द सं० ६ और ८ में तथा चौपाई सं० ६०६ और ६०७ में रावण की माया (सिद्धियों) का वर्णन है। बहुत-से राम, लक्ष्मण, बहुत-से अपने रूप, बहुत-से बैताल, भूत, पिशाचादि, प्रचण्ड जन्तुओं की रचना करना, बालू की वर्षा करना और जलती हुई अग्नि प्रकट करना इत्यादि-इत्यादि उसकी माया अर्थात् सिद्धियाँ थीं। ये कितनी अद्‌भुत और विकट थीं ! रावण वेद-शास्त्रादि विद्या का प्रकाण्ड विद्वान भी था। उसने बड़ी तपस्या करके ब्रह्मा और शिव का दर्शन प्राप्त किया था और उनसे वर भी पाया था। 'की मैनाक की खगपति होई । मम बल जान सहित पति सोई ॥' (तृतीय सोपान—अरण्यकाण्ड) से प्रकट होता है कि लड़ाई में उसे विष्णु भगवान का भी दर्शन प्राप्त हुआ था। वह शंकर का इतना बड़ा भक्त था कि वह अपने हाथों अपना मस्तक काटकर उनके नाम से हवन कर देता था। नररूप भगवान राम से तो सम्मुख विकट संग्राम करके ही 'कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी' कहकर वह मरा। तात्पर्य यह कि भगवान के अवतारी रूप अत्यन्त सुन्दर नर-रूप का भी उसे दर्शन मिला ही था। वह स्वयं ही कुलीन भी इतना था कि ब्रह्मा का प्रपौत्र था, इतना होने पर भी उसका हृदय शुद्ध न हो सका। लोग उसका नाम भक्तों की श्रेणी में नहीं गिनते। हाँ, पापियों और दुष्टों की श्रेणी में अवश्य ही गिनते हैं। अतएव कहना पड़ता है कि उसमें कुलीनता, सिद्धियाँ और दर्शन-प्राप्ति के जो-जो गुण थे, उनमें (उन गुणों में) स्वाभाविक शक्ति ऐसी नहीं है कि वे किसी के हृदय को शुद्ध करा उसे भक्त बना दें।]

रावण की सब माया भगवान राम ने अपने वाण से नष्ट कर दी। वह फिर सम्मुख युद्ध करने लगा। रामजी उसके मस्तकों और हाथों को बार-बार काटते, पर-

काटत बढ़त सीस समुदाई।
जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥ ६०८॥

काटते ही सिरों का समूह बढ़ जाता है, जैसे प्रत्येक लाभ पर लोभ बढ़ता जाता है।

[यह स्वाभाविक बात है कि जितना लाभ होता है, लोभ उतना ही अधिक बढ़ता है।]

अन्त में विभीषण की सलाह से रामजी ने रावण की नाभि में तीर मारकर उसे निष्प्राण कर दिया। विभीषण लंका का राजा बनाया गया। सीताजी रामजी के पास बुला ली गईं। उन्होंने अग्नि में प्रवेश कर सती होने की परीक्षा दी। शुद्ध-पवित्र समझी जाने के कारण वे रामजी के आसन पर उनकी बायीं ओर विराजीं। वहाँ ब्रह्मा, महादेव और इन्द्रादि सब देवता आ रामजी की स्तुति करके पीछे अपने-अपने धाम को चले गए। रामजी अपनी प्यारी स्त्री और प्रिय अनुज के सहित मुख्य-मुख्य कपियों और विभीषण को संग लेकर अवधपुरी को चल पड़े।

रामचरितमानस-सार सटीक
षष्ठसोपान-लंकाकाण्ड समाप्त

रामचरितमानस-सार सटीक

सप्तम सोपान-उत्तरकाण्ड

अवधपुरी पहुँच रामजी विमान पर से उतरकर सब गुरुजनों, भाइयों, पुरजनों एवं माताओं से मिले। उत्तम समय विचार गुरु वशिष्ठ ने रामजी को सिंहासन पर बिठाकर राजतिलक कर दिया। रामजी नीति के सब अंगों का उत्तमता से पालन करते हुए राज्य करने लगे। और-

जबते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥६०९॥

(कागभुशुण्डिजी कहते हैं-) हे पक्षिराज गरुड़जी ! जब से राम का प्रताप अत्यन्त प्रबल सूर्य-रूप होकर उग गया।

पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका॥६१०॥

तबसे प्रकाश तीनों लोकों में भरपूर हो रहा है, जिससे बहुतों को सुख और बहुतों के मन में शोक हुआ है।

जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नसानी॥६११॥

जिन्हें शोक हुआ है, उन्हें वर्णन कर कहता हूँ। पहले तो अज्ञान-रूपी रात्रि नष्ट हो गई।

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने॥६१२॥

पाप-रूपी उल्लू पक्षी जहाँ-तहाँ छिप गए। काम और क्रोध -रूपी कुमुद सकुचा गए।

बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ।
ये चकोर सुख लहहिं न काऊ॥६१३॥

अनेक प्रकार के कर्म, गुण, काल और स्वभावरूपी चकोर

हैं, ये कभी सुख नहीं पाते हैं।

[इस चौ० का तात्पर्य यह है कि गुण, काल, कर्म और स्वभाव शक्ति–हीन हो गए अर्थात् इनकी प्रबलता न रही। जबतक भेदी भक्त अन्तर में भक्तियोग के सूक्ष्म साधन–द्वारा त्रिकुटी (ओ३म्–पद) तक न पहुँचे, तबतक कर्म, गुण, काल और स्वभाव की प्रबलता घट गई है, ऐसा वह देख नहीं सकता।]

मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा॥६१४॥

डाह, प्रतिष्ठा का विचार, अज्ञानता और अहंकार चोर हैं, इनकी कला किसी ओर न रही।

धरम तड़ाग ज्ञान बिज्ञाना।
ये पंकज बिकसे बिधि नाना॥६१५॥

धर्म–रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान–रूपी अनेक प्रकार के कमल हैं, ये खिल गए।

सुख सन्तोष बिराग बिबेका।
बिगत सोक ये कोक अनेका॥६१६॥

सुख, सन्तोष, विराग और विवेक; ये अनेक चकवा पक्षी शोक–रहित हो गए।

***दोहा*–यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।**
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास॥९१॥

राम–प्रताप–रूपी यह सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करता है, तब (उसके हृदय में) पिछले कहे हुए (ज्ञान, विज्ञान, सुख, सन्तोष, विराग और विवेक) बढ़ते हैं और जो पहले कहे गए हैं (अज्ञान, पाप, काम, क्रोध, कर्म, काल, स्वभाव के दोष, मत्सर, मान, मोह और मद), वे नष्ट हो जाते हैं।

[यह राम–प्रतापरूप सूर्य त्रिकुटी महल में विराजित ओ३म् ब्रह्म का स्वरूप है–

पद–**'त्रिकुटी महल में विद्या सारा, घनहर गरजै बजै नगारा।**
लाल बरन सूरज उजियारा, चत्र कँवल मँझार शब्द ओंकारा॥'

(कबीर साहब)

भक्ति-योग के सच्चे साधकों को अपने हृदय में यह तब दरसता है, जब वे रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति की छठी भक्ति का साधन पूर्ण रूप से कर लेते हैं। यह सूर्य हिम-कर युक्त है। इसी (सूर्य) को चौ० सं० ७९ में 'कृसानु भानु हिमकर' कहा गया है। चौ० सं० ६११ से ६१४ तक में वर्णित अज्ञान, पाप, काम और क्रोधादि ताप मनुष्य के हृदय को दग्ध करते हैं; परन्तु साधन में लवलीन भक्त अपने हृदय में त्रिकुटी महल पर चढ़कर ऊपर कथित सूर्य का दर्शन पाते हैं; और इससे ऊपर वर्णित विकारों का ताप उनके हृदय से दूर हो जाता है। फलस्वरूप हृदय शीतल एवं शान्त हो जाता है और इसमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, सन्तोष, विराग और विवेक बढ़ जाते हैं। जैसे उल्लू पक्षी को आकाश में उदित सूर्य नहीं दरसता है, उसी तरह छठी भक्ति के साधन से हीन भक्त को वर्णित 'राम प्रताप प्रबल दिनेस' अपने अन्तर में नहीं दरसता है। इसलिए उनके हृदय के विकार दूर नहीं होते और न उनमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, सन्तोष, विराग और विवेक आते हैं। 'राम प्रताप प्रबल दिनेस' के प्रसंग को पढ़कर यह समझ लेना बड़ी भूल होगी कि यह सूर्य त्रेता युग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के अवधेश रहने के समय में उदित था और अब अस्त हो गया है। वास्तव में यह सूर्य सर्वदा सबके हृदय-रूप आकाश में (बाहरी आकाश में नहीं) उदित है, पर उल्लू पक्षी-रूप अनधिकारी को अपने अन्तर में नहीं दरसता है।

पद (तुलसी साहब की घटरामायण)–'घूघर अन्धे भेष टेक अभिमान में। सुझै न सबमें ब्रह्म धुन्द अज्ञान में॥ घूघर नेतर खुलैं सुनो सोइ साध है। देखै तन बिच भान सो ब्रह्म अगाध है॥' 'जौं दुपहैर गगन रवि छाई। तासे उजास भया घट माहीं।' दोहा सं० ९१ में 'यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास' का अर्थ यह नहीं होता है कि किसी एक ही युग वा युग-भाग में यह सूर्य उगा था, परन्तु यह अर्थ होता है कि यह सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करे (अर्थात् योगी भक्त इनके दर्शन का साधन जब करेगा), तब वह अपने अन्तर में इसका दर्शन पावेगा।

यद्यपि चौ० सं० ६०९ से दो० ९१ तक में जिस प्रसंग का वर्णन है, वह यथार्थ में अन्तरी भेद (योग का रहस्य) है और कागभुशुण्डि ने जैसा अपने अन्तर में दर्शन पाकर फल प्राप्त किया है, उसी का वर्णन किया है, तथापि गो० तुलसीदासजी ने इसको इस ढंग से लिखा है कि जिनको रामचरितमानस में देखने के लिए योग-चक्षु प्राप्त नहीं है, उनको इसमें योग-रहस्य सूझ नहीं पड़ता। चौ० सं० ११८ और १२१ में रामचरितमानस में देखने के लिए योग-चक्षु का वर्णन है। अतएव यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन दोनों चौपाइयों के अर्थों के सहित कोष्ठ में लिखे वर्णन को पढ़िए। प्रथम सोपान बालकाण्ड में जहाँ 'रामचरितमानस' नाम रखकर उसकी महिमा गायी गई है, वहाँ की इस चौपाई 'नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥' से प्रकट होता है कि जैसे पोखरे के जल में जब जलचर डूबा हुआ रहता है, वह तब जल के ऊपर-ऊपर नहीं दरसता है, पर जब जाल आदि से यत्न करके पकड़ा जाता है, तब उसका रूप ठीक-ठीक दरसता है। इसी तरह योग-रूप जलचर रामचरितमानस-रूप तड़ाग के कथा-रूप जल में छिपा हुआ है, इसको पकड़ने के लिए भक्ति का विचार, भेद और साधन आदि ही जाल-स्वरूप है। इस जाल से पकड़ जाने पर उस (भक्ति-योग-जलचर) का रूप ठीक-ठीक दरसता है। परन्तु जो इन साधनों से हीन हैं, जिन्होंने यह समझ प्राप्त नहीं की है कि इस मानस में किस आँख से देखना चाहिए और जिन्होंने केवल इतिहास और अल्प शब्दार्थ ही जान पाया है, वे यदि इस प्रकार गुप्त योग-रहस्य को रामचरितमानस में नहीं पकड़ सकें और मेरे इस वर्णन को रामचरितमानस का बाह्य विषय कहें, तो उनकी समझ कहाँ तक ठीक है, उसे विचारवान भेदी जन जान सकते हैं। जानना चाहिए कि गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस में योग को जलचर बना रखा है और जैसे जलचर जलगर्भ में छिपा रहता है, तड़ाग में ऊपर से केवल जल-ही-जल दीख पड़ता है, उसी तरह रामचरितमानस में योग गुप्त रीति से वर्णित है, पर ऊपर से देखने से वह (रामचरितमानस)

केवल कथाओं से भरा मालूम पड़ता है। जलचर को पकड़नेवाले जैसे युक्ति से जलपुंज से उसे पकड़ लेते हैं, उसी तरह विचारवान भेदी जन रामचरितमानस से योग-जलचर को निकाल लेते हैं। जो रामचरितमानस के इस तत्त्व को नहीं समझ सकते हैं, वे यदि सम्पूर्ण रामचरितमानस को कण्ठाग्र भी कर लें, तोभी उन्हें उससे (रामचरितमानस से) होने योग्य सर्वश्रेष्ठ और सार लाभ कदापि नहीं होगा।

अब आगे कथा इस प्रकार चलती है-

एक बार सनकादिक (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) रामजी के पास आए। रामजी ने उनको दण्डवत् करके स्वागत किया और आदरपूर्वक आसन पर बिठाकर विनीत भाव से कहने लगे-

बड़े भाग पाइय सतसंगा।
बिनहिँ प्रयास होइ भवभंगा॥६१७॥

बड़े भाग्य से सत्संग प्राप्त होता है, जिससे बिना परिश्रम के ही संसार (जन्म-मरणादि) छूट जाता है।

***दोहा*–सन्त संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पन्थ।**
कहहिँ सन्त कवि कोबिद, स्त्रुति पुरान सदग्रन्थ॥९२॥

सन्तों का संग मोक्ष का और कामी पुरुषों का संग संसार का मार्ग है। सन्त, कवि, पण्डित, वेद, पुराण और सद्ग्रन्थ ऐसा कहते हैं।

रामजी के इन वचनों को सुन सनकादिक मुनि पुलकित शरीर से उनकी स्तुति करके विधि-लोक को चले गए। फिर भरतजी ने रामजी से कहा कि हे भाई! सन्त और असन्त का भेद विलगाकर कहिए। रामजी कहने लगे-

सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।
अगनित स्त्रुति पुरान बिख्याता॥६१८॥

हे भाई! सुनो, सन्तों के अगणित लक्षण वेद और पुराणों में प्रसिद्ध हैं।

सन्त असन्तन्ह कै असि करनी।
जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥ ६१९॥

सन्त और असन्तों की ऐसी करनी है, जैसे चन्दन और कुल्हाड़ी का व्यवहार।

काटइ परसु मलय सुनु भाई।
निज गुन देइ सुगन्ध बसाई ॥ ६२०॥

हे भाई! सुनो, कुल्हाड़ी चन्दन को काटती है, पर वह अपने गुण (सुगन्धि) से उसे सुगन्धित कर देता है।

***दोहा*—तातें सुर सीसन्ह चढ़त, जग बल्लभ श्रीखंड।**
अनल दाहि पीटत घनहिँ, परसु बदन यह दंड ॥ ९३॥

इसी कारण चन्दन देवताओं के सिर पर चढ़ता है और संसार को प्यारा है। कुल्हाड़ी को यह दण्ड मिलता है कि उसको आग में तपाकर घन पर पीटते हैं।

बिषय अलम्पट सील गुनाकर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥ ६२१॥

सन्तजन विषय-लम्पट नहीं होते, वे शील और गुणों की खान, पराए का दुःख देखकर दुःखी और सुख देखकर सुखी होते हैं।

सम अभूत रिपु बिमद बिरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी ॥ ६२२॥

वे समदर्शी, शत्रु-हीन, अभिमान-रहित और विरक्त होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भय के त्यागी होते हैं।

कोमल चित दीनन्ह पर दाया।
मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥ ६२३॥

कोमलचित्त, दीनों पर दया करनेवाले, माया-हीन होकर मन, वचन और कर्म से मेरी भक्ति करनेवाले होते हैं।

सबहिँ मान प्रद आपु अमानी।
भरत प्रान सम मम तेइ प्रानी ॥ ६२४॥

(वे) सबको मान देनेवाले और स्वयं मान-रहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी मुझे प्राण के समान प्यारे हैं।

बिगत काम मम नाम परायन।
सान्ति बिरति बिनती मुदितायन ॥६२५॥

कामना-रहित, मेरी भक्ति (नाम-भजन) में लवलीन, शान्ति, वैराग्य, नम्रता और आनन्द के स्थान होते हैं।

सीतलता सरलता मयत्री।
द्विज पद प्रीति धरम जनयत्री ॥६२६॥

शीतलता, सीधापन, मित्रतापूर्ण, द्विजों के चरणों में प्रीति करनेवाले और धर्म को उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

ये सब लच्छन बसहिँ जासु उर।
जानेहु तात सन्त सन्तत फुर ॥६२७॥

हे तात ! ये सब लक्षण जिनके हृदय में बसते हैं, उनको सदा सच्चे सन्त समझना।

सम[1] दम[2] नियम[3] नीति नहिँ डोलहिँ।
परुष बचन कबहूँ नहिँ बोलहिँ ॥ ६२८॥

वे शम, दम, नियम और नीति से नहीं डगमगाते (हटते) हैं, कठोर वचन कभी नहीं बोलते हैं।

***दोहा*—निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।**
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुंज ॥९४॥

निन्दा और प्रशंसा, दोनों को तुल्य मानते, मेरे चरण-कमल में प्रेम करते हैं, गुणों के घर, सुख की राशि ऐसे सज्जन मुझे प्राण के समान प्यारे हैं।

सुनहु असन्तन्ह केर सुभाऊ।
भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥६२९॥

अब दुष्टों के स्वभाव सुनो, उनका संग भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

तिन्ह कर संग सदा दुखदाई।
जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ॥६३०॥

उनका संग सदा दुःख देनेवाला है, जैसे हराही गाय कपिला

१-शम = मनोनिग्रह। २-दम = इन्द्रिय-निग्रह। ३-योग के आठ अंगों में से एक, जिसमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाधयाय और ईश्वर-प्रणिधाान किया जाता है।

(सूधी) को भी बिगाड़ देती है।

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी ।
जरहिँ सदा पर सम्पति देखी ॥ ६३१॥

दुष्टों के हृदय में बहुत बड़ी जलन होती है, वे दूसरों की सम्पत्ति देखकर सदा जलते हैं।

जहँ कहिँ निन्दा सुनहिँ पराई ।
हरषहिँ मनहुँ परी निधि पाई ॥ ६३२॥

जहाँ-कहीं दूसरों की निन्दा सुनते हैं, वे ऐसे प्रसन्न हो जाते हैं, मानो उन्हें पड़ा हुआ धन का भण्डार मिल गया हो।

काम क्रोध मद लोभ परायन ।
निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥ ६३३॥

काम, क्रोध, अहंकार और लोभ में तत्पर, निष्ठुर, कपटी, टेढ़े और पाप के घर होते हैं।

बयर अकारन सब काहू सोँ ।
जो कर हित अनहित ताहू सोँ ॥ ६३४॥

सब किसी से अकारण वैर करते हैं, जो उनकी भलाई करता है, वे (दुष्ट) उसकी भी बुराई करते हैं।

झूठइ लेना झूठइ देना ।
झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥ ६३५॥

(उनका) झूठ ही लेना, झूठ ही देना, झूठ ही भोजन और झूठ ही चबेना होता है (अर्थात् उसका प्रत्येक काम झुठाई से भरा रहता है)।

बोलहिँ मधुर बचन जिमि मोरा ।
खाहिँ महा अहि हृदय कठोरा ॥ ६३६॥

जैसे मयूर मीठी बोली बोलता है और महा (विषैले) सर्प को खा जाता है, इसी तरह वे (दुष्ट लोग) मीठी बोली बोलते हैं; पर उनका हृदय कठोर है।

***दोहा*–पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपबाद ।**
ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥ ९५॥

वे पराए से डाह करनेवाले, परायी स्त्री में रत रहनेवाले,

दूसरों का धन हरनेवाले और पराये की निन्दा करनेवाले होते हैं। ऐसे मनुष्य अधम, पाप के रूप, देह धारण किये हुए राक्षस हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन।
सिस्नोदर पर जम पुर त्रास न ॥ ६३७॥

(उनका) लोभ ही ओढ़ना और लोभ ही बिछौना है। लिंगेन्द्रिय और पेट के विषय में लगे हुए उनको यमपुर का डर नहीं होता।

काहू की जौं सुनहिँ बड़ाई।
स्वास लेहिँ जनु जूड़ी आई ॥ ६३८॥

जब किसी की बड़ाई सुनते हैं, तो साँस लेते हैं, मानो जड़ैया ज्वर आ गया हो।

जब काहू की देखिहिँ बिपती।
सुखी भये मानहु जग नृपती ॥ ६३९॥

जब किसी की विपत्ति देखते हैं, तो ऐसे प्रसन्न होते हैं, मानो जगत के राजा हो गए।

स्वारथ रत परिवार बिरोधी।
लम्पट काम लोभ अति क्रोधी ॥ ६४०॥

स्वार्थ में रत, परिवार के विरोधी, व्यभिचारी, कामी, लोभी और अत्यन्त क्रोधी होते हैं।

मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिँ।
आपु गये अरु घालहिँ आनहिँ ॥ ६४१॥

माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण को नहीं मानते, आप तो गए-बीते हैं ही और दूसरों का भी सत्यानाश करते हैं।

करहिँ मोह बस द्रोह परावा।
सन्तसंग हरि कथा न भावा ॥ ६४२॥

अज्ञान-वश दूसरों से द्रोह करते, उनको सन्तों का संग और हरि-कथा नहीं सुहाती।

अवगुन सिन्धु मन्द मति कामी।
बेद बिदूषक पर धन स्वामी ॥ ६४३॥

अवगुणों के समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी, वेद की निन्दा करनेवाले

और दूसरों का धन हरण करनेवाले होते हैं।

बिप्र द्रोह सुर द्रोह बिसेषा।
दम्भ कपट जिय धरे सुबेषा ॥ ६४४॥

ब्राह्मणों से द्रोह, देवताओं से विशेष द्रोह करते, अन्तर में पाखण्ड और कपट रखे हुए, किन्तु वेश सुन्दर बनाये रखते हैं।

***दोहा*–ऐसे अधम मनुज खल, कृत युग त्रेता नाहिँ।**
द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहहिँ कलियुग माहिँ ॥ ९३॥

ऐसे अधम दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतायुग में नहीं होते, द्वापर में अल्प, किन्तु कलियुग में झुण्ड–के–झुण्ड होंगे।

पर हित सरिस धर्म नहिँ भाई।
पर पीड़ा सम नहिँ अधमाई ॥ ६४५॥

हे भाई ! पराये का हित करने के समान धर्म नहीं और पराए को पीड़ा देने के समान पाप नहीं।

निरनय सकल पुरान बेद कर।
कहेउँ तात जानहिँ कोबिद नर ॥ ६४६॥

हे भाई ! मैंने सब वेदों और पुराणों का निर्णय कहा, इसे पण्डित लोग जानते हैं।

नर सरीर धरि जे पर पीरा।
करहिँ ते सहहिँ महा भव भीरा ॥ ६४७॥

जो मनुष्य का शरीर धारण करके दूसरों को पीड़ित करते हैं, वे संसार का बड़ा बोझ (दुःख) सहते हैं।

करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नसाना ॥ ६४८॥

मनुष्य अज्ञान–वश अनेक प्रकार के पाप करते हैं और स्वार्थ में लगे रहकर परलोक का नाश करते हैं।

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता।
सुभ अरु असुभ करम फल दाता ॥ ६४९॥

हे भाई ! मैं उनके लिए काल–रूप होकर शुभ और अशुभ कर्मों के फल देता हूँ।

अस बिचार जे परम सयाने।

भजहिँ मोहि संसृत दुख जाने ।।६५०।।

ऐसा विचार, संसार के (जन्म-मरण) दुःखों को जानकर वे मुझे भजते हैं, जो बड़े चतुर हैं।

त्यागहिँ करम सुभासुभ दायक ।
भजहिँ मोहि सुर नर मुनि नायक ।।६५१।।

(इसी से वे) देवता, मनुष्य और मुनिराज शुभ और अशुभ फलों को देनेवाले कर्मों को छोड़कर मुझको भजते हैं।

सन्त असंतन्ह के गुण भाखे ।
ते न परहिँ भव जिन्ह लखि राखे ।।६५२।।

मैंने सन्तों और असन्तों के गुण कहे, जिन्होंने इसे जान रखा है, वे संसार में नहीं पड़ते हैं।

***दोहा*–सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक ।**
गुन यह उभय न देखियहि, देखिय सो अबिबेक ।। ९७।।

हे भाई ! सुनो, माया-रचित गुण और दोष अनगिनत हैं। गुण (भली बात) तो यह है कि दो न देखना चाहिए, देख पड़ता है (दो देख पड़ता है), सो अविचार है।

[दो देखना = द्वैत बुद्धि रखनी = 'सियाराम मय सब जग जानी' के विरुद्ध बुद्धि रखनी।]

रामजी के वचन सुनकर सब भाई बड़े आनन्दित हुए। नारदजी बारम्बार रामजी के पास आते और उनका नित्य नवीन चरित्र देख ब्रह्मलोक चले जाते। ब्रह्माजी उनके मुख से रामजी का गुण-कीर्त्तन सुनकर बहुत सुखी होते और उनसे बारम्बार गुण-गान करने को कहते थे। और–

***दोहा*–जीवन मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिँ तजि ध्यान ।**
जे हरि कथा न करहिँ रति, तिन्ह के हिय पाषान ।। ९८।।

ब्रह्म-पद के आगे तक पहुँचे हुए जीते-जी मोक्ष प्राप्त किये हुए (महापुरुष सन्त) भी समाधि छोड़कर चरित्रों (सत्संग के वचनों) को सुनते हैं। जो हरि-कथा में प्रेम नहीं करते, उनका हृदय पत्थर है।

[चौ० सं० ७७ और ७८ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में

लिखित विचारों को ध्यान से पढ़ने पर 'ब्रह्मपर' = ब्रह्म के आगे वा 'परे' पद का खुलासा हो जायगा।]

एक बार रामजी ने अपनी सभा में गुरु, ब्राह्मणों और पुरवासियों को बुलाया और आदर से बिठाकर नम्र भाव से कहने लगे–

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा॥६५३॥

बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिलता है, सब ग्रथों ने कहा है कि यह देवताओं को दुर्लभ है।

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥६५४॥

(यह शरीर) साधनों का घर और मोक्ष का द्वार है; इसे पाकर जिसने परलोक (मुक्ति) को नहीं सुधारा,

[यहाँ परलोक स्वर्ग को नहीं कहा गया है। क्योंकि चौ० सं० ६५५ में स्वर्ग को ओछा और दुःखदायी बतलाया गया है। इसलिए यहाँ परलोक से मोक्ष ही समझना चाहिए। और भी–स्वर्ग में देव-शरीर की प्राप्ति होती है और नर–देह सुर–दुर्लभ कही गई है। इस कारण मनुष्य–देही यदि देव–देह के लिए यत्न करे, तो कहा जाएगा कि वह क्षति की ओर जा रहा है।]

'नर तन दुर्लभ देव को, सब कोइ कहत पुकार॥
सब कोइ कहत पुकार, देव देही नहिं पावैं।
ऐसे मूरख लोग, स्वर्ग की आस लगावैं॥
पुन्य छीन सोइ देव, स्वर्ग से नर्क में आवैं।
भरमें चारो खान, पुन्य कहि ताहि रिझावैं॥
तुलसी सत मत तत गहे, स्वर्ग पर करे खखार।
नर तन दुर्लभ देव को, सब कोइ कहत पुकार॥'

(तुलसी साहब, हाथरसवाले)

***दोहा*–सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।**
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥९९॥

वह परलोक में दुःख पाता है, सिर धुन–धुनकर पछताता है

और काल, कर्म तथा ईश्वर को झूठ ही दोष लगाता है।

एहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वरगउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥६५५॥

हे भाई ! इस शरीर का फल विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का भोगना) नहीं है, स्वर्ग (यदि प्राप्त कर सके तो वह) भी थोड़ा (ओछा) और अन्त में दुःख देनेवाला है।

नर तनु पाइ बिषय मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥६५६॥

जो मनुष्य का शरीर पाकर विषय में मन लगाते हैं, वे मूर्ख अमृत से बदलकर विष लेते हैं।

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई ।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई ॥६५७॥

उसे कभी कोई अच्छा नहीं कहता, जो पारसमणि खोकर करजनी (घुँघची) लेता है।

आकर चारि लच्छ चौरासी ।
जोनी भ्रमत यह जीव अबिनासी ॥६५८॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा ।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥६५९॥

चार खानियों (अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज और अंकुरज) में चौरासी लाख योनियाँ हैं। यह अविनाशी जीव उनमें माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में रहकर सदा भटकता फिरता है।

कबहुँक करि करुना नर देही ।
देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥६६०॥

अकारण ही स्नेह करनेवाले ईश्वर कभी दया करके (जीव को) मनुष्य का शरीर देता है।

[चौ० सं० ६५८, ६५९ और ६६० से प्रकट होता है कि जीव चार खानि, चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते अन्त में मनुष्य-शरीर पाता है। ऐसे वर्णन से गो० तुलसीदासजी का इशारा जानना चाहिए कि जीव नीचे की श्रेणियों से उन्नति करता

हुआ आकर सर्वोत्तम, देव-शरीर से भी उत्तम मनुष्य-शरीर को पाता है। इसी ख्याल को उत्क्रान्ति-तत्त्व वा स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के ख्याल में गुणविकास या गुणोत्कर्ष तत्त्व [Evolution theory] कह सकेंगे। यदि कहा जाय कि Evolution theory में ईश्वर-कृपा से नहीं, केवल स्वभाव की ही प्रेरणा से उन्नति मानी गई और गो० तुलसीदासजी मनुष्य-देह-प्राप्ति-रूप उन्नति का हेतु ईश्वर की कृपा मानते हैं, इसलिए Evolution theory और तुलसीदासजी के इस विचार में बड़ा अन्तर है, तो जानना चाहिए कि गो० तुलसीदासजी सरीखे परम आस्तिक, निस्सीम प्रेमी भक्त को यह कभी विश्वास नहीं हो सकता कि ईश्वर की कृपा के बिना भी कोई उन्नति हो सकती है। यदि एक भक्त कहता है कि [Nature] स्वभाव-प्रकृति में जो उत्तरोत्तर उन्नति कराने की शक्ति है, वह ईश्वर की कृपा ही है और इसी ईश्वर-कृपा को [Nature] स्वभाव-रूप जानकर Evolution theory का सिद्धान्त निकालनेवाले ने ईश्वर-कृपा-रहित, केवल स्वभाव से ही उन्नति होना मान रखा है, तो इस बात में कोई फर्क नहीं आता कि दोनों ख्याल में उन्नति का होना (नीचे से ऊँचे की ओर दरजे-ब-दरजे, उत्तरोत्तर) माना गया है और इसी ख्याल को Evolution theory वा 'गुण विकास तत्त्व' कह सकेंगे। यदि एक ख्याल ने इस तत्त्व को 'ईश्वर-कृपा' कहकर जाना और दूसरे ने केवल Nature वा स्वभाव कहकर, तो क्या क्षति, जाना तो दोनों ने एक ही तत्त्व को।]

नर तन भव बारिधि कहँ बेरो।
सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥६६१॥

मनुष्य का शरीर संसार-रूपी समुद्र पार करने के लिए नाव है और मेरी कृपा* अनुकूल वायु है।

करनधार सदगुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥६६२॥

इस दृढ़ नाव के मल्लाह सद्गुरु हैं, ऐसा दुर्लभ साज मनुष्य

* राम की कृपा जीव को संसार-प्रवाह के प्रतिकूल प्रेरण कर उससे बचाती है। इसलिए राम-कृपा संसार-सागर को पार करने के लिए मुमुक्षु भक्त के हेतु अनुकूल पवन है।

को सहज ही में प्राप्त है।

दोहा–जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निन्दक मन्द मति, आतम हन गति जाइ ॥ १००॥

जो मनुष्य (भवसागर पार होने के) ऐसे साज-सामानों को पाकर भव-सागर पार नहीं होता है, वह कृतघ्न, नीचबुद्धि, आत्महिंसक की गति में जाता है।

[भव-सागर तरने के साज का समाज–मनुष्य शरीर-रूप नाव, ईश्वर-कृपारूप अनुकूल वायु और सद्गुरु रूप मल्लाह है।]

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू ।
सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू ॥ ६६३॥

यदि परलोक और इस लोक में सुख चाहते हो तो मेरे वचनों को सुन उसे हृदय में दृढ़ता से ग्रहण करो।

सुलभ सुखद मारग यह भाई ।
भगति मोरि पुरान स्रुति गाई ॥ ६६४॥

हे भाई ! यह रास्ता सहज और सुखदायक है, यह मेरी भक्ति है, जिसको पुराणों और वेदों ने गाया है।

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका ।
साधन कठिन न मन कहँ टेका ॥ ६६५॥

ज्ञान दुर्बोध है, उसके साधन में अनेक विघ्न और कठिनाइयाँ हैं और उसमें मन को अवलम्ब नहीं मिलता।

करत कष्ट बहु पावै कोऊ ।
भगति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ ॥ ६६६॥

बहुत कष्ट करते-करते यदि कोई इसको (ज्ञान को) पा भी जाय, तो वह (पानेवाला ज्ञानी) भक्ति के बिना मुझे प्रिय नहीं है।

भगति सुतंत्र सकल सुख खानी ।
बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी ॥ ६६७॥

भक्ति स्वतन्त्र और सब सुखों की खान है, बिना सत्संग के प्राणी (मनुष्य) उसे नहीं पाते।

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता ।

सतसंगति संसृति कर अन्ता ॥६६८॥

पुण्य-राशि के बिना सन्त नहीं मिलते और सत्संगति ही जन्म-मरण के दुःखों को नाश करनेवाली है।

पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा।
मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥६६९॥

इस एक पुण्य के समान संसार में दूसरा पुण्य नहीं है कि मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करनी।

[ब्राह्मणों के सम्बन्ध में चौ० सं० ४४७ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में लिखे विचारों को पढ़िए। ब्राह्मणों की पूजा सबसे श्रेष्ठ पुण्य है, ऐसे पुण्यों के फल से अर्थात् ब्राह्मणों की पूजा एवं अन्य प्रकार के पुण्यों के पुंज होने से सन्त का दर्शन-लाभ होता है। इससे प्रकट होता है कि सच्चे ब्राह्मण की महिमा से सन्त की महिमा कहीं अधिक है। परन्तु गो० तुलसीदास ने इस विचार को ऐसे ढंग से वर्णित किया है कि ब्राह्मण देव के हृदय में यह बात काँटे की तरह चुभे नहीं, पर सन्त की महिमा छिपी हुई भी न रहे।]

सानुकूल तेहि पर मुनि देवा।
जो तजि कपट करइ द्विज सेवा ॥६७०॥

मुनि और देवता उस पर प्रसन्न रहते हैं, जो कपट छोड़कर ब्राह्मणों की सेवा करता है।

***दोहा*–औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।**
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि ॥१०१॥

मैं सबको और भी एक गुप्त विचार कहता हूँ। (वह यह है कि) किरणों (चैतन्य वृत्तियों–सुरत की धारों) को जोड़कर (एकत्र करके) कल्याण करनेवाला भजन किए बिना (कोई) मेरी भक्ति नहीं पाता है।

[कर = किरण। किरण प्रकाश-रूप होनी चाहिए। शरीर में चैतन्य वृत्ति वा सुरत की धार ज्ञानमयी तथा प्रकाशमयी है, अतएव इसी वृत्ति वा धार को किरण मानना चाहिए। गुप्त भेद के द्वारा अभ्यास करके जो कोई चैतन्य वृत्तियों को अन्तर में अति

अल्प काल भी जोड़ सकता वा एकत्र कर सकता है वा दूसरे शब्दों में चित्त का निरोध कर सकता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाता है कि जितनी देर उसको यह भजन ठीक बना; उतनी देर उसे अत्यन्त कल्याण वा चैतन्य प्राप्त हुआ और उसका हृदय ईश्वरीय प्रेम और भक्ति से भरा रहा। जानना चाहिए कि चौदहो इन्द्रियों के विषयों में भटकता हुआ चित्तवाला चित्तवृत्ति का निरोध नहीं कर सकता और फलस्वरूप कल्याण वा चैन कभी नहीं पा सकता। किन्तु जब सब विषयों से छूटेगा तो सहज ही निर्मलतापूर्वक सर्वेश्वर की ओर हो जाएगा अर्थात् वह सर्वेश्वर का प्रेम और भक्ति पा लेगा। इसलिए जो सत्संगी गुरु-भेद और विचार के बल से नित्य-प्रति सच्चाई से भजन अभ्यास करते-करते कभी किरणों को ठीक जोड़ सकेगा, तो अवश्य ही वह कल्याण और ईश्वर की भक्ति पा जाएगा। किरणों को जोड़कर भजन करने की विधि चौ० सं० ५, २९२, २९३ और २९४ में उनके अर्थों और उनके नीचे कोष्ठों में लिखी है। यह भजन अत्यन्त गुप्त है, इसमें शक नहीं। इसको छोड़ दूसरा प्रकार समझने से वह गुप्त मत का भजन कदापि नहीं ठहरेगा।]

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा ।।६७१।।

कहिए भक्ति-मार्ग में कौन परिश्रम है ? इसमें न तो योग, न यज्ञ, न जप, न तप और न उपवास करना पड़ता है।

[चौ० सं० ६७१ में जो कहा गया है कि भक्ति-मार्ग में योग और जप-तप करने नहीं हैं, वह केवल भक्ति-मार्ग में चित्त को अत्यन्त आकर्षित करने के लिए है। कवि का यह वर्णन केवल रोचकता रखता है, यथार्थता नहीं। चौ० सं० ५, ७९, ९२ से ९६ तक, २७०, २९० से २९४ तक, ४५७ से ४५९ तक, ४९४ और ४९९ को उनके अर्थों के सहित उनके नीचे कोष्ठों में वर्णित विचारों को खूब समझकर पढ़िए, तो विदित हो जाएगा कि भक्ति-मार्ग में जप और योग अवश्य हैं और भक्त अर्थात् सन्तजन अवश्य ही योगी होते हैं। फिर भी-

'रघुपति भगति करत कठिनाई ।

कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ।।
जो जेहि कला कुशल ता कहँ सो सुलभ सदा सुखकारी ।
सफरी सन्मुख जल प्रवाह सुरसरि बहइ गज भारी ।।
ज्यों सर्करा मिलइ सिकता महँ बल ते नहीं विलगावै ।
अति रसज्ञ सूछम पिपीलका बिनु प्रयास ही पावै ।।
सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरि पद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी ।।
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं ।
तुलसिदास एहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ।।'

(गो० तुलसीदासजी की विनय-पत्रिका)

इस पद को पढ़िए, अच्छी तरह समझ में आ जाएगा कि भक्ति-मार्ग में जप और योग अवश्य हैं। हाँ, यह भले ही कह सकते हैं कि जिस जप और योग से (जैसे केवल हठयोग से) सर्वेश्वर की भक्ति नहीं होती है, वह जप-योग भक्ति-मार्ग में नहीं है।]

सरल सुभाव न मन कुटिलाई ।
जथा लाभ सन्तोष सदाई ।। ६७२।।

(भक्ति-मार्ग में) सीधा स्वभाव, कुटिल-रहित मन और सहज में जो कुछ लाभ हो, उसी में सदा सन्तोष रखे।

मोर दास कहाइ नर आसा ।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।। ६७३।।

जो मेरा दास कहलाकर नर (राजा, धनी आदि) की आशा रखे, तो कहिए उसे मेरा विश्वास कहाँ रहा ?

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई ।
एहि आचरण बस्य मैं भाई ।। ६७४।।

हे भाई ! बहुत कथा बढ़ाकर क्या कहूँ, इसी आचरण से मैं वश में हो जाता हूँ ।

बयर न बिग्रह आस न त्रासा ।
सुखमय ताहि सदा सब आसा ।। ६७५।।

जिसको किसी से वैर और झगड़ा नहीं है और न आशा और डर ही है, उसके लिए सब दिशाएँ सुखमय हैं।

अनारम्भ अनिकेत अमानी।
अनघ अरोष दक्ष बिज्ञानी॥६७६॥

(भक्त) जान-बूझकर किसी उद्यम की चेष्टा न करनेवाले, बिना घर अर्थात् किसी स्थान की ममता नहीं रखनेवाले, मान-रहित, निष्पाप, क्रोधहीन, चतुर और विज्ञानी अर्थात् अनुभव-युक्त होते हैं।

[विज्ञानी = ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी के परे अर्थात् व्याप्य-व्यापक भेद-रहित। जैसे नींद में सोया हुआ मनुष्य श्वास-प्रश्वास कर्म करता हुआ भी उस कर्म का जान-बूझकर करनेवाले अपने को नहीं जानता, इसी तरह परम ज्ञान-प्राप्त विज्ञानी भक्त भी तुरीयातीतावस्था को प्राप्त किए जगत-हित सब कर्त्तव्यों को करते हुए भी, गृह-परिवार में रहते हुए भी अनारम्भ और अनिकेत होते हैं। पर तुरीयातीत अवस्था अथवा विज्ञान-पद प्राप्त हुए बिना मनुष्य को यह ठीक समझ में नहीं आ सकता है।]

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।
तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥६७७॥

वे सदा सज्जनों के संग में प्रीति रखते, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के विषय को घास-फूस के समान जानते हैं।

[स्वर्ग को तुच्छ इसलिए कहा गया है कि वह अन्त में दुःखदाई है। देखो चौ० सं० ६५५। भक्तों के लिए मोक्ष भी तुच्छ है; क्योंकि वह मोक्ष देनेवाले परम प्रभु सर्वेश्वर को ही अपना लेते हैं। इसीलिए 'घटरामायण' में लिखा है कि-

'मुक्ति कहूँ निरबार, सन्त चरन लागी फिरै।
फिरै सन्त की लार, करै सन्त निरबार जेहि॥'

भक्त मोक्ष को सर्वेश्वर से तुच्छ जानकर उसका आदर नहीं करते और सर्वेश्वर में लवलीन रहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भक्ति-मार्गी को मोक्ष नहीं मिलता है, वह तो अवश्य ही मिलता है।

भक्ति-मार्ग के सब अंगों में पूर्ण शवरी के विषय में रामचरितमानस में पूर्व ही वर्णन हो चुका है कि वह 'हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरै।' और आगे चलकर सप्तम सोपान-उत्तरकाण्ड

में ऐसा भी लिखा है कि–'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥ तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥']

भगति पच्छ हठ नहीं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥६७८॥

(भक्ति-मार्गी को) भक्ति-पक्ष में हठ रहता है, पर दुष्टता नहीं और इसमें बुरे तर्कों को दूर भगा दिया जाता है।

***दोहा*–मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।**
ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह ॥१०२॥

भक्तजन मेरे गुण-समूह और नाम में मद, ममता और मोह छोड़कर लगे रहते हैं। इस प्रकार से रहने के परम आनन्द समूह-सुख को वे ही जानते हैं।

[चौ० सं० ६७१ में कहा गया है कि भक्ति-मार्ग में योग-जप नहीं है। और चौ० सं० ६७२ से दोहा सं० १०२ तक में वर्णन है कि भक्ति-मार्गी को सरल स्वभाववाला, यथालाभ में सन्तोष रखनेवाला, अन्य सब आशाओं को छोड़ केवल सर्वेश्वर की आशा रखनेवाला, अनारम्भ, अनिकेत, अमानी, अनघ, अरोष, दक्ष, विज्ञानी, सज्जन-संसर्ग में सदा प्रीति करनेवाला, स्वर्ग और अपवर्ग को तृणवत् जाननेवाला, एक भक्ति-पक्ष में रहनेवाला, दुष्टतर्की नहीं, सर्वेश्वर के गुणग्राम और नाम में रत, ममता, मद और मोह से रहित और परानन्द-सन्दोह-सुख का भोगी होना चाहिए। अब विचारवान मनुष्य समझें कि उपर्युक्त गुण-धारी व्यक्ति का चित्त कितना सुधरा व सधा हुआ, विषयों से किस प्रकार निर्लिप्त और उनसे खिंचा हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसने चित्त-वृत्ति का एकदम निरोध कर लिया है वा वह पूर्ण योगी है। इस अवस्था में पहुँचने के लिए उस सुधरे हुए पुरुष–पूर्ण योगी ने कुछ साधन और प्रयास न किया हो, यह असम्भव है। यदि कहा जाए कि ऐसा बनने के लिए दो० सं० १०२ में साधन का वर्णन है कि सर्वेश्वर के गुण-ग्राम और नाम में रत रहना, तो यह बात कुछ अनुचित नहीं है। पर प्रथम तो यह देखा जाता है कि जो केवल बाहरी तौर पर गुण-ग्राम और नाम

में रत रहना चाहते हैं, वे गुण गाने तथा सुनने का, शरीर को खूब उछला-उछलाकर नाचने का, साजों के साथ उच्च स्वर में नाम-संकीर्त्तन कर विरल प्रेम की मस्ती में (विशेषतः केवल संग-सोहर भेड़िया धँसान में) नाच-नाचकर शरीर थकाने का, माला के साथ वा बिना माला के अंगुलियों पर गिन-गिन कर वा बिना गिनतियों के जप और रटन का प्रयास करते हैं और भरोसा रखते हैं कि इसी प्रकार अभ्यास करते-करते प्रेम खूब बढ़ जाएगा और चित्त-निरोध होकर प्रभु-पद में लग जाएगा और समाधि लग जाएगी। यदि मान लिया जाय कि उत्तर देनेवाले का यह विचार सत्य है, तो साथ ही यह भी अवश्य मानना पड़ा कि इस तरह भक्ति-मार्ग में चलने में जप और योग; दोनों (अवश्य) हो गए। क्योंकि चित्त के निरोध को ही योग कहते हैं। फिर कौन विचारवान कह सकेगा कि ऐसा करने में प्रयास कुछ नहीं होगा ? दूसरी बात यह कि जबतक सुरत विन्दु पर न सिमटेगी, तबतक पिण्ड में पूर्ण सिमटाव वा चित्त-वृत्ति का पूर्ण निरोध होना असम्भव है।

इस विषय का वर्णन और एक विन्दु पर सुरत के सिमटाव का साधन चौ० सं० ५, २९२, २९३, २९४ और ४५८ को और उसके अर्थों के सहित उनके नीचे कोष्ठों के लेखों को विचार से पढ़कर जानिये। तीसरी बात यह कि केवल वर्णात्मक नाम के संकीर्त्तन वा रटन को रामचरितमानस के अनुसार नाम में रत रहना नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि रामचरितमानस से नाम के दो रूप–वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक जानने में आते हैं। (देखिए चौ० सं० ७९, ८० और ८५ के अर्थों और कोष्ठों के वर्णनों को) इसलिए जबतक ध्वन्यात्मक नाम में भक्त की चैतन्य वृत्ति वा सुरत लीन नहीं होगी, तबतक यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह नाम में रत है। फिर ध्वन्यात्मक नाम में रत होना सुरत-शब्द-योग-अभ्यास के बिना कदापि नहीं हो सकता है। इसलिए भक्ति-मार्ग में जप, योग आदि करने का प्रयास कुछ नहीं है, ऐसा वर्णन केवल रोचकता बढ़ाने भर के लिए ही है। अतएव भोलेपन से यह समझकर कि भक्ति-मार्ग में जप-योग का प्रयास नहीं है, जप-योग का निरादर

करना निरी मूर्खता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भक्ति–मार्ग में रामचरितमानस के अनुसार वर्णित नवधा भक्ति के साधन–स्वरूप योग–अभ्यास के अतिरिक्त दूसरे योग की आवश्यकता नहीं है और न उस प्रयास के अतिरिक्त दूसरे प्रयास की आवश्यकता है, जो नवधा भक्ति–रूपी योग करने में होता है।]

श्रीरामजी ने इतना कह अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया।

प्रजाजन अत्यन्त आनन्दित हो उनकी वन्दना और स्तुति करके अपने–अपने घर को चले गए। एक बार गुरु वशिष्ठजी रामजी के महल में पधारे। रामजी ने बड़े आदर से उनका चरण पखार चरणोदक लिया। फिर वशिष्ठजी बोले कि हे राम ! मेरी एक विनती सुनिए–

उपरोहिती कर्म अति मन्दा।
बेद पुरान स्मृति कर निन्दा ॥ ६७९॥

उपरोहिती का काम बहुत नीच है। वेद, पुराण और स्मृति इसकी निन्दा करती है।

जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही।
कहा लाभ आगे सुत तोही ॥ ६८०॥

जब मैं इस काम को ग्रहण नहीं करता था, तब ब्रह्माजी ने कहा–हे पुत्र ! आगे तुमको इसमें लाभ होगा।

परमातमा ब्रह्म नर रूपा।
होइहि रघुकुल भूषण भूपा ॥ ६८१॥

सर्वव्यापी परमात्मा मनुष्य–रूप में रघुकुल–भूषण राजा होंगे।

[यहाँ पर परमात्मा, क्षीर–समुद्र–वासी नारद मुनि के शाप से अवतार लेनेवाले विष्णु भगवान को ही कहा गया है। क्योंकि चौ० सं० २३६ से २४० तक और उनके अर्थों के सहित तत्सम्बन्धी कोष्ठों के विचारों से साफ–साफ प्रकट है कि श्रीराम क्षीर–समुद्र–निवासी विष्णु भगवान के अवतार थे।]

***दोहा*–तब मैं हृदय बिचारा, जोग जज्ञ ब्रत दान।**
जा कहँ करिय सो पइहउँ, धर्म न एहि सम आन ॥ १०३॥

तब मैंने हृदय में विचारा कि योग, यज्ञ, व्रत और दान

जिनके लिए करता हूँ, उनको (इस कर्म से) पाऊँगा; इसलिए इस (कर्म) के समान दूसरा धर्म नहीं है।

[योग से केवल सगुण ब्रह्म ही नहीं मिलता, बल्कि सगुण शरीर में व्यापक शुद्ध निर्गुण स्वरूप भी प्राप्त होता है।]

जप तप नियम योग निज धर्मा।
स्त्रुति सम्भव नाना सुभ कर्मा ॥६८२॥

जप, तप, नियम, योग, अपना धर्म, श्रुति से उत्पन्न नाना प्रकार के शुभ कर्म,

ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहत स्त्रुति सज्जन ॥६८३॥

ज्ञान, दया, इन्द्रिय-दमन, तीर्थ-स्नान आदि जहाँ तक ध र्म, वेद और सज्जन कहते हैं।

आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥६८४॥

हे प्रभु ! अनेक शास्त्रों, वेदों और पुराणों के पढ़ने और सुनने का एक ही फल है।

तव पद पंकज प्रीति निरन्तर।
सब साधन कर फल यह सुन्दर ॥६८५॥

कि, आपके चरण-कमलों में अटूट प्रेम हो, सब साधनों का यह सुन्दर फल है।

छूटइ मल कि मलहि के धोये।
घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥६८६॥

क्या मल, मल ही के द्वारा धोने से छूटता है? क्या पानी मथने से कोई घी पाता है ?

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई ॥६८७॥

हे रघुराज ! (आपके) प्रेम-भक्ति-रूपी जल के बिना हृदय का मैल कभी नहीं छूटता है।

सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित।

सोइ गुन गृह विज्ञान अखंडित ।। ६८८।।

वही सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञानी है, वही पण्डित, वही गुणों का घर और पूर्ण विज्ञानी है,

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई ।
जाके पद सरोज रति होई ।। ६८९।।

वही चतुर और सुन्दर लक्षणों से युक्त है, जिसको आपके चरणकमलों में प्रीति हो।

***दोहा*–नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु ।**
जनम जनम प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु ॥ १०४॥

हे नाथ रामजी ! मैं एक वर माँगता हूँ, कृपा करके दीजिए। वह यह कि आप के चरण-कमलों की प्रीति जन्म-जन्मान्तर में कभी न घटे।

ऐसा कह वशिष्ठजी अपने घर को चले गये । एक बार भरतादि भ्राताओं और हनुमानजी को साथ लेकर रामजी पुर के बाहर गए। वहाँ बहुत हाथी, घोड़े और रथ दान करके आराम करने को बैठ गए। उसी समय वहाँ नारदजी आए और रामजी की स्तुति कर के ब्रह्म-लोक को चले गए। इतनी कथा सुनाकर महादेवजी बोले–

'हे पार्वतीजी ! यह थोड़ा-सा राम-गुण मैंने तुमको सुनाया। अब क्या कहूँ, सो कहो।'

[महादेवजी ने राम-कथा को यहाँ तक ही कहकर उसकी इति कर दी। पर प्रथम सोपान में जो पार्वतीजी का यह प्रश्न है कि–

दोहा–'बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम ।
प्रजा सहित रघुबंस मनि, किमि गवने निज धाम ॥'

इसका उत्तर कहीं भी नहीं दिया और रामचरितमानस में इसका उत्तर है भी नहीं।]

श्रीपार्वतीजी बोलीं कि हे नाथ ! आपकी कृपा से मैं अब मोह-रहित हो गई; परन्तु आपके मुख से अमृत-वचन सुनकर मन नहीं अघाता है।

नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी ।

कोउ एक होइ धरम ब्रत-धारी ।।६९०।।

हे त्रिपुर दैत्य के शत्रु ! सुनिए, सहस्त्रों मनुष्यों में कोई एक धर्म-व्रत के धारण करनेवाले होते हैं।

धर्म सील कोटिक महँ कोई।
बिषय बिमुख बिराग रत होई ।।६९१।।

उन करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषयों से फिरा हुआ और वैराग्य में तत्पर होता है।

कोटि बिरक्त मध्य स्त्रुति कहई।
सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।।६९२।।

वेद कहते हैं कि करोड़ों विरक्तों के बीच कोई एक यथार्थ ज्ञान पाता है।

ज्ञानवन्त कोटिक महँ कोऊ।
जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।।६९३।।

उन करोडों ज्ञानी पुरुषों में कोई एक संसार में यथार्थ जीवन्मुक्त होता है।

तिन्ह सहस्त्र महँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्म लीन बिज्ञानी ।।६९४।।

उन हजारों जीवन्मुक्तों में सब सुखों की खान ब्रह्म-लीन विज्ञानी का होना दुर्लभ है।

धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी।
जीवन मुक्ति ब्रह्म पर प्रानी ।।६९५।।
सबतें सो दुर्लभ सुर राया।
राम भगति रत गत मद माया ।।६९६।।

हे देवराज ! धर्मात्मा, वैराग्यवान, ज्ञानी और ब्रह्म-पर जीवन्मुक्त प्राणियों में सबसे वह दुर्लभ है, जो अभिमान और छल से रहित हो, राम-भक्ति में रत रहता हो।

[देह-धारण किए हुए जीवित पुरुष को, जो माया से मुक्त है अर्थात् जो हर्ष, शोक, दुःख, हानि, लाभ, मान, अपमान, मित्र, शत्रु, निन्दा, स्तुति आदि तथा देहाभिमान से रहित है। वह

ब्रह्म-पर जीवन्मुक्त पुरुष है। इससे परे कोई पद नहीं है। यहाँ तक पहुँचकर भी जो जगत के कल्याण के लिए (अर्थात् संसारी जीवों को भक्ति में लगाने के लिए) राम-भक्ति में रत रहते हैं, उनकी सर्वश्रेष्ठता चौ० सं० ६९५ और ६९६ में कही गई है।]

हे नाथ ! ऐसी भक्ति काग ने कैसे पाई ? कृपा कर मुझे बुझाकर कहिए। और हे नाथ ! इन प्रश्नों के भी उत्तर कहिए- (१) कागभुशुण्डिजी के ऐसे भक्त ने काग-देह कैसे पाई ? (२) आपने यह कथा कागभुशुण्डि से कैसे सुनी ? (३) गरुड़ ने सब मुनियों को छोड़ किस कारण काग से कथा सुनी ? (४) काग और गरुड़; दानों हरि-भक्तों का संवाद कैसे हुआ ? (५) रामचरित कथा को काग ने कहाँ पाया ? पार्वतीजी के प्रश्नों को सुनकर शिवजी सुख पाकर कहने लगे-

हे पार्वती ! जब तुमने अपना सती नाम वाला पहला शरीर क्रोध करके दक्ष के यज्ञ में छोड़ दिया, तब मैं तुम्हारे वियोग से दुःखी होकर पहाड़ों और जंगलों में फिरने लगा।

गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी।
नील सैल एक सुन्दर भूरी॥६९७॥

सुमेरु पर्वत से दूर उत्तर दिशा में एक बड़ा ही सुन्दर नील पर्वत है।

तासु कनक मय सिखर सुहाये।
चारि चारु मोरे मन भाये॥६९८॥

उसकी स्वर्णमयी सुहावनी चार चोटियाँ हैं, वे मेरे मन को अच्छी लगीं।

तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला।
बट पीपर पाकड़ी रसाला॥६९९॥

उन चोटियों पर बड़, पीपल, पाकड़ और आम का एक-एक विशाल वृक्ष है।

सैलोपरि सर सुन्दर सोहा।

मनि सोपान देखि मन मोहा ॥७००॥

पहाड़ के ऊपर सुन्दर तालाब शोभित है, उसकी मणि की सीढ़ियाँ हैं, उसे देखकर मन मोहित हो जाता है।

***दोहा*—सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग ।**
कूजत कलरव हंस गन, गुंजत मंजुल भृंग ॥१०५॥

उस (तालाब) का जल शीतल, स्वच्छ और मीठा है, उसमें बहुत रंग के असंख्य कमल हैं। वहाँ हंसों के समुदाय मीठी बोली बोलते और सुन्दर भौंरे गुंजार करते हैं।

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई ।
तासु नास कल्पान्त न होई ॥७०१॥

उस सुन्दर पर्वत पर वही पक्षी (कागभुशुण्डि) रहता है, उसका नाश कल्प के अन्त में भी नहीं होता है।

माया कृत गुन दोष अनेका ।
मोह मनोज आदि अबिबेका ॥७०२॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं ।
तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं ॥७०३॥

माया-रचित मोह, काम और अज्ञान आदि अनेक दोष-गुण अर्थात् दोष-युक्त लक्षण सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो रहे हैं, परन्तु उस पर्वत के समीप कभी नहीं जाते हैं।

तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा ।
सो सुनु उमा सहित अनुरागा ॥७०४॥

हे पार्वती ! वहाँ बस करके कागभुशुण्डि हरि को जिस प्रकार भजता है, वह प्रेम से सुनो।

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई ।
जाप यज्ञ पाकरि तर करई ॥७०५॥

वह पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान धरता है और पाकड़ वृक्ष के नीचे जप-यज्ञ (जप-रूपी यज्ञ) करता है।

[जाप यज्ञ-एक चित्त से नाम-भजन करने को जप-यज्ञ कहते हैं। गीता-रहस्य, गीता-अनुवाद और टिप्पणी अध्याय १०,

श्लोक २५ अर्थ और टिप्पणी पढ़कर देखिए। यहाँ पर यज्ञ को अग्नि, घृत, तिल और यव आदि सामग्री से युक्त यज्ञ समझना नितान्त भूल है; क्योंकि पक्षी के लिए इन द्रव्यों का संग्रह करना असम्भव है। यदि कहा जाय कि बहुत-से नर राजा उनके भक्त थे, जो उन द्रव्यों को जुटा देते थे, तो ऐसा वर्णन नहीं है। बल्कि यह वर्णन है कि कागभुशुण्डि के पास केवल पक्षीगण ही कथा सुनने आते थे। महादेवजी भी हंस पक्षी का शरीर धरकर ही उनके पास कथा सुनने को गए थे। यदि मनुष्यगण उनके भक्त होते और कथा सुनने को उनके पास जाते होते तो गो० तुलसीदासजी इसका वर्णन कर देते।]

आम छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा ॥ ७०६॥

आम की छाया में मानसी पूजा करता है, उसको भगवान का भजन छोड़कर दूसरा काम नहीं है।

बटतर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा ॥ ७०७॥

जब वह बड़ के नीचे हरि-कथा कहता है, उस समय अनेकों पक्षी आते और सुनते हैं।

[कागभुशुण्डिजी से सम्बन्ध रखनेवाली वार्त्ता, जो चौ० सं० ६९७ से ७०७ तक वर्णित है, बड़ी ही रहस्यमयी जान पड़ती है। पहले तो चार कनकमय शिखरोंवाले नील पर्वत के इस भूमण्डल पर होने का पता भूमण्डल की भूगोल-पुस्तक में नहीं है। दूसरी बात यह (जो चौ० सं० ७०२-७०३ में है) कि माया-कृत अज्ञान, काम और अविवेकादि दोष-लक्षण उस नील पर्वत के ऊपर तो क्या, उसके पास तक नहीं फटकने पाते हैं, असम्भव-सी है; क्योंकि समस्त बाहरी संसार में ऐसा कोई भी स्थान देखा नहीं गया है, जहाँ प्राणी को अज्ञान, काम और अविवेकादि दोष-लक्षण न हों। तीसरी बात यह कि ऊपर कहे दो कारणों से जब यह नीलगिरि ही रहस्यमय जान पड़ता है, तब उस पर के मणिमय सोपानवाला सरोवर, उस पर के विहंग; उन विहंगों के कलरव, उनकी चारों कनकमयी चोटियों पर के चार वृक्ष, वह सुमेरु,

जिसके उत्तर में यह नीलगिरि है, उसकी उत्तर दिशा; ये सभी अवश्य ही रहस्यमय होंगे। चौथी बात यह कि कागभुशुण्डि एक शिखर पर पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान करते हैं, दूसरे शिखर पर आम के नीचे मानस-पूजा करते हैं। इससे प्रकट होता है कि मानस-पूजा और ध्यान पृथक्-पृथक् दो साधन हैं। यथार्थ यह है कि–मेरुदण्ड के अन्तर में सीधी खड़ी रेखा-रूप धार है, उसे ही सुमेरु गिरि कहा गया है। इससे अवलम्बित इसके नीचे से ऊपर तक पिण्ड में गुदा-स्थान से कण्ठ तक पाँच चक्र हैं; जिनके नाम–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत (हृदय) और विशुद्ध (कण्ठ) हैं। ऊपर (सूक्ष्मता) की ओर को उत्तर दिशा कहा गया है। वर्णित समेरु गिरि से उत्तर अर्थात् ऊपर तम-रूप नीलगिरि है। भक्ति-योग-अभ्यासी अपने अन्तर में इस (तम-रूप नीलगिरि) को प्रथम ही पाता है। आज्ञाचक्र नाम का छठा चक्र इसी में विराजित है। बाहरी विषयों से मुड़ी हुई चैतन्य वृत्ति (सुरत) वाला इस पहाड़ पर ठहरा रहता है। उसको अज्ञान, काम और अविवेक आदि दोष-लक्षण नहीं छूते हैं। इसीलिए वर्णन किया गया है कि इस पहाड़ के पास ये दोष-लक्षण नहीं जाते हैं। वेद, शास्त्र, पुराण और सत्संग से प्राप्त अति बृहत् वार्त्ता विशाल वट वृक्ष हैं। सुबुद्धि प्रकाश-रूप है। कथित नील पर्वत की कनकमय (चमकीली, प्रकाशमयी) एक चोटी यही है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि बाहरी विषयों से अपनी सुरत वा चैतन्य वृत्तियों को मोड़कर, सुबुद्धि पर स्थिर होकर (अर्थात् एक कनकमय शिखर पर बैठकर) कथित विशाल वट वृक्ष के नीचे वा उसके आश्रित रहकर कागभुशुण्डिजी कथा कहते थे। उच्च ज्ञान-वर्द्धक परम आस्तिक बुद्धि ही प्रकाश है। नीलगिरि के जिस भाग पर ठहरकर कागभुशुण्डिजी जप-यज्ञ करते हैं, वह भाग परम आस्तिक बुद्धि-रूप होने के कारण ऊँचा (शिखर) और प्रकाशमय वा चमकीला वा कनकमय है। नीलगिरि का यही दूसरा शिखर हुआ।

गुरु-भेद विशाल पाकरि (पाकर) वृक्ष-रूप है। इसी की

छाया में वा इसके आश्रित होकर कागभुशुण्डिजी जप-यज्ञ करते हैं। सर्वेश्वर के सगुण रूप के प्रति अत्यन्त प्रेम ही अति उच्च प्रकाशमय वा चमकीला वा कनकमय स्थान है। नीलगिरि के जिस भाग पर टिककर कागभुशुण्डिजी मानस-पूजा करते हैं, वह यही कनकमय शिखर है। यह नीलगिरि का तीसरा शिखर हुआ। एक और अत्यन्त दृढ़ आशा-रूप विशाल आम का वृक्ष इस शिखर पर लगा है। इसी की छाया में वा इनके आश्रित रहकर कागभुशुण्डि मानस-पूजा करते हैं। नील पर्वत के वर्णित शिखरों में ऊँचा और सर्वश्रेष्ठ चौथा शिखर चरम सीमा से, मुक्त दृष्टि (दिव्य दृष्टि) से दर्शित प्रत्यक्ष ज्योति-स्वरूप वा प्रत्यक्ष चमकीला वा कनकमय है। सद्गुरु की कृपा विशाल पीपल वृक्ष है। वर्णित कनकमय चौथे शिखर पर यह वृक्ष विराजित है। इसी की छाया में वा इसके आश्रित होकर कागभुशुण्डि ध्यान करते हैं।

अब मानस-पूजा और ध्यान के विषय में समझना रह गया है। मनोमय देव की रचना करके अर्थात् मन से मन तत्त्व की ही इष्टदेव की मूर्ति बनाकर और पूजा की सब सामग्रियाँ मनोमय ही रचकर मनोनय इष्ट का पूजन करना मानस-पूजा कहलाती है। चौ० सं० ५ के नीचे कोष्ठ में वर्णित मानस पूजा और मानस ध्यान एक ही बात है। मन से एक ही ध्येय वस्तु के चिन्तन करते रहने को ध्यान कहते हैं। बहुत लोग मानस पूजा ही को ध्यान कहते हैं। इसके अतिरिक्त इससे निराले किसी साधन को ध्यान नहीं समझते हैं। परन्तु रामचरितमानस की चौ० सं० ७०५ और ७०६ में जैसा वर्णन है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ध्यान और मानस पूजा, दो भिन्न-भिन्न साधन हैं। यदि मानस पूजा को मानस ध्यान कहा जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। परन्तु मानस ध्यान वा मानस पूजा में मनोमय देव के अनेक अंग-प्रत्यंगों की तथा पूजा की अनेक सामग्रियों की रचना और चिन्तन में लगा रहकर केवल एक ही ध्येय तत्त्व पर ठहराकर केवल उसी का चिन्तन नहीं किया जा सकता। इसीलिए मानस पूजा के साधन से जब कि केवल एक ही ध्येय तत्त्व का चिन्तन नहीं हो सकता, तब इसको

ध्यान नहीं कहा जा सकता है और न वह साधन ध्यान का साधन हो सकता है, जिससे मानस पूजा होती है। अतएव ध्यान का साधन मानस पूजा के साधन से नितान्त भिन्न ही होना चाहिए। मनुस्मृति अ० १२, श्लोक १२२ में जो परमात्मा के शुद्ध स्वर्ण समान कान्तिमान, अणु से भी अणु स्वरूप के ध्यान करने की आज्ञा है, 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥' यथार्थ में परमात्मा के इसी रूप का चिन्तन-ध्यान करना है। इसके साधन का वर्णन चौ० सं० २९२ से २९४ तक में है। इसलिए इन चौपाइयों, उनके अर्थों और तत्सम्बन्धी कोष्ठों के वर्णनों को पढ़कर समझिए। अब एक विषय समझने को बच रहा है कि चौ० सं ७०० में वर्णित सरोवर उसके मणिमय सोपान, उसमें भौंरों का गुंजार और हंसों का कलरव क्या है ? यथार्थ यह है कि सहस्त्रदल कमल सरोवर है। प्रणव-विन्दु मणिमय सोपान है। सहस्त्रदल कमल में विराजित ज्योति उस सरोवर का शीतल, पवित्र और मीठा जल है। लाल, हरा, पीला, नीला और सफेद रंग के पाँच मण्डल—विद्युत- मण्डल, दीप-शिखावत् ज्योति-मण्डल, नक्षत्र-मण्डल और चन्द्र- ज्योति-मण्डल आदि अनेक ज्योति-मण्डल उस तालाब के विपुल बहुरंग जलज हैं। मीठी-मीठी अनहद ध्वनियाँ हंसों के कलरव और भौंरों की गूँज हैं।]

शिवजी बोले कि हे पार्वती ! मैंने हंस-देह धर कुछ समय तक कागभुशुण्डि के आश्रम में रहकर रामचरितमानस की कथा सुनी थी, जिसका वर्णन मैं तुमसे कर चुका। अब आगे की कथा सुनो कि जिस कारण गरुड़जी मुनियों को छोड़ कागभुशुण्डिजी के पास गए थे—जब रामजी ने युद्ध-लीला में अपने को मेघनाद के वाण से नाग-फाँस में बँधवाया, तब गरुड़ ने आकर उनको नाग-फाँस से मुक्त किया। इस बात से गरुड़ को मोह उत्पन्न हुआ कि एक छोटे-से निशाचर ने रामजी को बाँध लिया। इससे रामजी के भगवान का अवतार होने में मन को सन्देह होता है; क्योंकि भगवान का प्रभाव इस तरह कुछ देखने में नहीं आया। गरुड़ ने अपना मोह नारदजी से कहा। नारदजी ने उसे ब्रह्माजी के पास और

उन्होंने मेरे पास भेज दिया। मैंने उसे कागभुशुण्डि के पास भेज दिया। गरुड़ ने कागभुशुण्डि के समीप जा उनसे रामजी की कथा सुनने की इच्छा की। कागभुशुण्डि ने पहले रामचरितमानस का वर्णन किया। फिर नारद-मोह, रावण का जन्म, प्रभु (श्रीराम) का अवतार, उनका बाल-चरित्र, विवाह, वनवास, सीता-हरण, रावण आदि निशाचरों का नाश, रामजी का अवध लौट आकर राज्य करना इत्यादि सब कथाओं को कह सुनाया। सम्पूर्ण कथा सुनने के बाद गरुड़जी बोले कि हे कागभुशुण्डिजी ! आपकी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया और मुझे बड़ा सुख हुआ।

जो अति आतप ब्याकुल होई।
तरु छाया सुख जानइ सोई ॥ ७०८॥

जो धूप से अत्यन्त व्याकुल रहता है, वृक्ष की छाया का सुख वही जानता है।

निगमागम पुरान मत एहा।
कहहिं सिद्ध मुनि नहिं सन्देहा ॥ ७०९॥✡

वेद, शास्त्र और पुराणों का यह विचार है और सिद्ध मुनि भी यही कहते हैं-इसमें सन्देह नहिं कि-

सन्त बिसुद्ध मिलहिं पर तेही।
चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥ ७१०॥✡

सच्चे संत उसे ही मिलते हैं, जिसे श्रीरामजी कृपा करके देखते हैं।

कागभुशुण्डि गरुड़ के इन मृदुल वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रफुल्लित हुए; क्योंकि-

***दोहा*-श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरिदास।**
पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥ १०६॥

हे उमा ! सज्जन लोग सुबुद्धिमान, सुशील, पवित्र, कथा के प्रेमी और हरिभक्त श्रोता को पाकर अत्यन्त छिपा रखने योग्य बातों को भी प्रकाशित कर देते हैं।

कागभुशुण्डि फिर बोले कि हे गरुड़जी ! आपने जो अपना

मोह कहा, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि—

नारद भव बिरंचि सनकादी।
जे मुनि नायक आतम बादी॥७११॥

नारद, शिव, ब्रह्मा और सनकादिक मुनीश्वर, जो आत्म-तत्त्व के वक्ता हैं,

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही॥७१२॥

मोह ने किसको अन्धा नहीं किया? संसार में ऐसा कौन है, जिसको काम ने नहीं नचाया हो?

तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा।
केहि कर हृदय क्रोध नहिँ दाहा॥७१३॥

तृष्णा ने किसको पागल नहीं किया? क्रोध ने किसके हृदय को नहीं जलाया?

***दोहा*—ज्ञानी तापस सूर कबि, कोबिद गुन आगार।**
केहि कै लोभ बिडम्बना, कीन्ह न एहि संसार॥१०७॥

ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि और गुणनिधान विद्वान में किसकी फजीहत लोभ ने नहीं की?

***दोहा*—श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।**
मृग लोचनि के नयन सर, को अस लाग न जाहि॥१०८॥

धन-मद ने किसको टेढ़ा नहीं किया? बड़प्पन (सामर्थ्य) ने किसको बहरा नहीं किया? ऐसा कौन है, जिसे मृगनयनी (स्त्री) का नेत्र-रूपी तीर नहीं लगा?

गुन कृत सन्यपात नहिँ केही।
कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥७१४॥

गुणों का किया हुआ सन्निपात त्रिदोष (गुणवान होने की ऐंठ-अकड़) किसको नहीं हुआ? अभिमान और मद को छोड़कर कोई पार नहीं गया।

जोबन ज्वर केहि नहिँ बलकावा।
ममता केहि कर जस न नसावा॥७१५॥

जवानी-रूपी ज्वर ने किसको नहीं खौला (उबाल) दिया?

और ममता ने किसके यश को नष्ट नहीं कर दिया ?

मच्छर काहि कलंक न लावा।
काहि न सोक समीर डोलावा ॥ ७१६॥

मत्सर (डाह) ने किसको कलंक नहीं लगाया ? शोक–रूपी पवन ने किसको नहीं हिला दिया ?

चिन्ता साँपिन काहि न खाया।
को जग जाहि न ब्यापी माया ॥ ७१७॥

चिन्ता–रूपी साँपिन ने किसको नहीं काट खाया ? संसार में ऐसा कौन है, जिसे माया न व्यापी हो ?

कीट मनोरथ दारु सरीरा।
जेहि न लाग घुन को अस धीरा ॥ ७१८॥

ऐसा कौन धीरजवाला है, जिसके शरीर–रूपी काठ में मनोरथ–रूपी कीड़ा (घुन) न लगा हो ?

सुत बित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥ ७१९॥

पुत्र, धन और लोक–बड़ाई; इन तीनों की इच्छा के लिए किसकी बुद्धि मलीन नहीं हुई ?

***दोहा*–ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड।**
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखंड ॥ १०९॥

माया की भयानक सेना संसार में फैली हुई है। काम, क्रोध और लोभ उसके सेनापति और अभिमान, छल और पाखण्ड आदि योद्धा हैं।

***दोहा*–सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।**
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि ॥ ११०॥

कागभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं–हे नाथ ! वह (माया) रघुवीर राम की दासी है। समझ लेने पर वह निश्चय झूठी है, परन्तु मैं प्रण करके कहता हूँ कि वह राम की कृपा के बिना नहीं छूटती है।

[दो० सं० ११० में अत्यन्त पुष्ट रीति से माया मिथ्यात्ववाद है। इस सिद्धान्त को मानने से ही अद्वैतवाद सहज ही पुष्ट होता है और साथ ही यह मानना पड़ता है कि इस दोहे के अतिरिक्त यही

सिद्धान्त चौ० सं० १४५, १४६, १८२ और दो० सं० २७ में वर्णित है।]

जो माया सब जगहिं नचावा।
जासु चरित लखि काहु न पावा॥७२०॥
सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥७२१॥

हे गरुड़जी! जो माया सम्पूर्ण संसार को नचाती है, जिसकी लीला किसी ने देख (समझ) नहीं पाई। वही माया प्रभु श्रीरामजी की भौं के इशारे से अपने समाज के सहित नटी (नर्तकी—नाचनेवाली नटिन) के समान नाचती है।

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा।
अज बिज्ञान रूप बल धामा॥७२२॥

वही सत्-चित्-आनन्द के पुंज, अजन्मा, विज्ञान-स्वरूप, बल के स्थान राम हैं।

ब्यापक ब्याप्य अखण्ड अनन्ता।
अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥७२३॥

वह सर्वव्यापक, व्याप्य (प्रकृति, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, घट, मठादि सम्पूर्ण स्थान अर्थात् त्रयगुण-पसार) खण्ड-रहित, अन्त-रहित, पूर्ण, अव्यर्थ पराक्रम और भगवान अर्थात् छहों ऐश्वर्यों* से युक्त हैं।

[दो० सं० ११० और २७ में तथा चौ० सं० १४५, १४६ और १८२ में माया-मिथ्यात्ववाद है। त्रयगुण-पसार माया वा प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। चौ० सं० १६७ से १६९ तक में कहा गया है कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होता है। तत्त्वरूप में सगुण, निर्गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। निर्गुण रूप सनातन और सगुण उससे नवीन है। सगुण रूप व्याप्य और निर्गुण व्यापक है। इसी से चौ० सं० ७२३ में कहा गया है कि राम व्यापक और व्याप्य (वह स्थान, जिसमें फैलने का काम हो) दोनों हैं। (लोहे के तपाए हुए गोले में अग्नि व्यापक है और वह गोला व्याप्य है।) दो० सं० २७ और ११० तथा चौ० सं० १४५,

---

* **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धार्मस्य यशसः श्रियः।**
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(विष्णु पुराण)

१४६ और १८२ में माया-मिथ्यात्ववाद है। और चौ० सं० १६७ से १६९ तक में ऊपर कहा जा चुका ही है कि निर्गुण तत्त्व ही सगुण होता है। अतएव इन दोनों सिद्धान्तों से यही सिद्ध होता है कि अनादि और मूल एक ही (निर्गुण) तत्त्व है, इसी सिद्धान्त को अद्वैतवाद कहते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार जबकि अनादि और मूल एक ही निर्गुण तत्त्व सिद्ध होता है, तब व्यापक (सर्वत्र फैलनेवाला अर्थात् मोहित कुल्ल) और व्याप्य (जिसके बाहर-भीतर फैलनेवाला फैले अर्थात् मोहात) के दो रूप अवश्य ही एक ही निर्गुण तत्त्व के होने चाहिए। इसीलिए चौ० सं० ७२३ में राम को व्यापक और व्याप्य दोनों कहा गया है।]

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सब दरसी अनवद्य अजीता॥७२४॥

निर्गुण, पूर्ण, वाणी और इन्द्रियों से परे; सब कुछ देखने वाले, निर्दोष और अजीत (जो किसी से जीता न जाए) हैं।

निर्मल निराकार निर्मोहा।
नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥७२५॥

स्वच्छ, आकार-रहित, मोह-रहित, सनातन, माया से परे और सुख की राशि हैं।

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥७२६॥

प्रभु (राम) प्रकृति से परे, सबके हृदय में रहनेवाले, सर्वव्यापक, इच्छा-रहित, माया से परे और नाश-रहित हैं।

इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥७२७॥

यहाँ (निर्गुण राम में) मोह का कारण नहीं है। क्या कभी सूर्य के सम्मुख अन्धकार जाता है? (कभी नहीं।)

***दोहा*–भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।**
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥१११॥

प्रभु भगवान राम ने भक्तों (को सुख देने) के निमित्त राजा का शरीर धारण कर अत्यन्त पवित्र चरित्र साधारण मनुष्य की

तरह किया।

दोहा–जथा अनेकन बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥ ११२॥

जैसे कोई नट (बहुरूपिया) अनेक रूप धरकर नाच करता और वही-वही भाव दिखाता है, परन्तु आप वह (जिस व्यक्ति का रूप धारण किया है) नहीं हो जाता है।

[दो० सं० १११ के ऊपर की चौपाइयों में भगवान के केवल निर्गुण, निराकार, निर्मल, आत्मस्वरूप का वर्णन है और चट पट दो० सं० १११ में कह दिया गया है कि भक्तों के हित के हेतु भगवान प्रभु राम ने नर राजा का शरीर धारण किया। ऐसे वर्णन से यह नहीं समझना चाहिए कि निराकार, निर्गुण, आत्म-स्वरूप राम ने प्रथम बिना किसी विशेष उपाधि के धारण किए ही एकाएक नर राजा का शरीर धारण किया था, बल्कि यह समझना ठीक है कि निराकार, निर्गुण आत्मस्वरूप राम प्रथम क्षीर-समुद्र-वासी विष्णु देव-रूप विशेष आवरण वा उपाधि धारण कर क्षीर-समुद्र में विराजमान थे। (तभी तो उन विष्णु-स्वरूपी सगुण राम को भगवान प्रभु राम कहा गया है; क्योंकि केवल निर्गुण, निराकार, उपाधि (आवरण)-रहित आत्म-स्वरूप को भगवान कह भी नहीं सकते।) और उसी रूप (विष्णु भगवान) को नारद मुनि ने नर राजा का शरीर धरने को शाप दिया था। जिस कल्प के रामावतार की सम्पूर्ण कथा तुलसी-कृत रामचरितमानस में गाई गई है, उसमें रामावतार का कारण नारद का शाप ही है। (चौ० सं० २०८, छन्द १, चौ० सं० २१२-२१७, दो० सं० ३१, चौ० सं० २१८, २१९, २१९ क, ३१९, छन्द ३, चौ० सं० ४७५ से ४७७ तक के अर्थों और तत्सम्बन्धी कोष्ठ-लिखित लेखों को पढ़कर देखिए।) दो० सं० ११२ से ज्ञात होता है कि जैसे नाटक का पात्र राजा का, देवता का अथवा ईश्वर का रूप बनाकर लीला दिखाता है, परन्तु वह यथार्थ में राजा वा देवता वा ईश्वर कुछ नहीं होता है, वह जो था, सो ही रहता है, उसी तरह निर्गुण, निराकार, आत्म-राम देवता वा मनुष्यादि आकृति धारण करने से देवता वा मनुष्यादि नहीं हो जाते हैं, वे जो हैं, सो

ही रहते हैं। इससे जानना चाहिए कि निर्गुण, निराकार आत्म-राम ने केवल लीला (नाटक) के हेतु विष्णु देव वा अवधेश का रूप धारण किया था। ये रूप माया वा छल के थे, यथार्थ नहीं अर्थात् यथार्थ में वे न विष्णु हुए, न अवधेश; बल्कि जो थे, सो ही रहे। इसी तात्पर्य को दिखाने के लिए चौ० सं० १७५ और १७७ लिखी गई है। अतएव जबतक उपर्युक्त मायिक रूपों से आगे बढ़कर निर्गुण, निराकार, आत्म-रूप राम को नहीं प्राप्त किया जाय, तबतक राम का पाना असम्भव है।]

असि रघुपति लीला उरगारी।
दनुज विमोहिनि जन-सुखकारी ॥ ७२८॥

हे गरुड़जी ! रघुपति की लीला ऐसी है कि वह राक्षसों (राक्षसी प्रकृतिवालों) को विशेष मोहित करती और भक्तों को सुख देती है।

जे मति मलिन बिषय बस कामी।
प्रभु पर मोह धरहिँ इमि स्वामी ॥ ७२९॥

हे स्वामी ! जो बुद्धि के मैले, विषय के वश और कामी हैं, वे प्रभु (राम) पर इसी तरह मोह-अज्ञान लाते हैं।

[रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को विषय कहते हैं। जिनकी बुद्धि इन्हीं में सनी रहती है, इनसे परे तत्त्व का निश्चय नहीं कर सकती और न इसकी प्रेमिणी बनती है, वे ही विषय-वश हैं।]

नयन-दोष जा कहँ जब होई।
पीत बरन ससि कहँ कह सोई ॥ ७३०॥

(जैसे) जब किसी को नेत्र-दोष (कमला रोग) हो जाता है, तब वह चन्द्रमा को पीले रंग का कहता है।

[जिसको चौ० सं० ५ में वर्णित साधन-द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं है, जानना चाहिए कि वह नेत्र-दोषी है। ऐसे नेत्र-दोषी को राम का स्वरूप, जो यथार्थ में सहज, निर्मल, निर्गुण और निराकार है; श्यामला, काला, घनश्याम और गौर आदि दरसता है।]

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।
सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा ॥ ७३१॥

हे पक्षिराज ! जब जिसको दिशा का भ्रम हो जाता है, तब वह कहता है कि सूर्य पश्चिम में उगे हैं।

[राम का सहज निर्मल, निर्गुण और अपरम्पार स्वरूप पूर्व दिशा के तुल्य है। इस दिशा की बोधहीनता दिग्भ्रम-तुल्य है। जिसको ऐसा दिग्भ्रम होता है, वह कहता है कि पश्चिम दिशारूप नराकृति आदि में निर्गुण राम-रूप सूर्य उदित हुए हैं। यथार्थ में वे तो सदा सबमें भरपूर हैं। उनका कहीं से कहीं जाकर प्रकट वा लोप होना नहीं होता है। ये काम (प्रकट वा लोप होना) तो माया के हैं।]

नौकारूढ़ चलत जग देखा।
अचल मोह बस आपुहिँ लेखा ॥ ७३२॥

नाव पर चढ़कर यात्रा करनेवाला संसार को चलता हुआ देखता है और अपने को अज्ञान-वश स्थिर समझता है। अथवा,

बालक भ्रमहिँ न भ्रमहिँ गृहादी।
कहहि परस्पर मिथ्याबादी ॥ ७३३॥

बालक घूमते हैं, घर आदि नहीं घूमते। (पर जब वे घूमकर स्थिर होते हैं, तो उन्हें घर आदि घूमते हुए दीख पड़ते हैं।) इसी प्रकार मिथ्यावादी परस्पर मिथ्या वचन कहते हैं।

[जिनकी बुद्धि रूप-रसादि विषयों में भ्रमण करती है, उनकी समता नौकारूढ़ यात्री वा घूमनेवाले बालक से की गई है। ये भ्रमते तो हैं आप, पर अज्ञान-वश कहते हैं कि सहज, निर्मल, निर्गुण और अपरम्पार स्वरूप राम एक स्थल से दूसरे स्थल तक गए-आए (भ्रमण किए-घूमे)। राम तो सहज, निर्मल, निर्गुण, अपरम्पार स्वरूपी, प्रकृति-पार, सर्वव्यापी और माया-रहित हैं, उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने की आवश्यकता ही नहीं। सर्वव्यापी होने के कारण उनका चलना-फिरना कैसा ? और माया-रहित होने के कारण उनमें माया-सम्बन्धी गुण भ्रमणादि करना भी कैसे हो सकता है ? जैसे यदि आकाश से भरे हुए घट को आकाश (महदाकाश) में एक स्थल से दूसरे स्थल तक

भ्रमण कराया जाय, तो जानना चाहिए के इस दशा में घटव्यापी आकाश नहीं, केवल घट ही एक स्थल से दूसरे स्थल तक भ्रमण करता है। उसी तरह शरीरव्यापी सहज, निर्मल, निर्गुण राम शरीर के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने से भ्रमण नहीं करते हैं। विष्णु-रूप देव-शरीर और रघुवर राम-रूप नर-राज-शरीर कहीं-से-कहीं जाकर प्रकट और लोप अवश्य हुए और हुआ करेंगे। ये शरीर केवल माया-मात्र हैं, (देखिए दो० सं० ११२) पर इनमें व्यापक सहज, निर्मल, निर्गुण, प्रकृति-पर और सर्वव्यापी राम न प्रकट-लोप होते हैं और न भ्रमण करते हैं।]

हरि बिषयक अस मोह बिहंगा ।
सपनेहुँ नहिँ अज्ञान प्रसंगा ।।७३४।।

हे गरुड़जी ! हरि के विषय में ऐसा ही मोह—अज्ञान होता है; परन्तु वहाँ स्वप्न में भी अज्ञान का लगाव नहीं है।

[रामचरितमानस में वर्णन है कि योग से ज्ञान की प्राप्ति होती है और योगिजन (अर्थात् ज्ञानी, क्योंकि योगी होने से ज्ञानी होना निश्चित है।) रघुवर राम को परम तत्त्वमय देखते हैं (देखिए चौ० सं० २३५ और ४११), इससे सिद्ध होता है कि परम योगी और परम ज्ञानी को स्वप्न में भी अज्ञान से सम्बन्ध नहीं रहेगा। वे राम के परम तत्त्वमय अर्थात् सहज, निर्मल, निर्गुण स्वरूप को ही देखेंगे। अतएव जिनकी बुद्धि में राम के इसी स्वरूप का सत्य निश्चय है, उनको स्वप्न में भी अज्ञान का लगाव नहीं है। जिनकी बुद्धि में इस स्वरूप का निश्चय नहीं है, जो राम-स्वरूप को श्यामला आदि कोई भी मायिक रंगवाला, भ्रमण करनेवाला तथा प्रकट और लोप होनेवाला अपनी बुद्धि में निश्चय करके जानता है, वह हरि के विषय में मोह—अज्ञान से ग्रसित रहता है, जैसा कि चौ० सं० ७३० से ७३३ तक में वर्णन किया गया है।]

माया बस मति मन्द अभागी ।
हृदय जबनिका बहु बिधि लागी ।।७३५।।

जो माया के अधीन, मन्दबुद्धि, भाग्यहीन हैं और जिनके हृदय में बहुत प्रकार के परदे लगे हैं।

[अन्तर में स्थूल, सूक्ष्म और कारण (अर्थात् अन्धकार,

प्रकाश और शब्द) के बहुत प्रकार के परदे लगे हैं। ये परदे रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति-योग के पूर्ण साधन से दूर होते हैं।]

ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अज्ञान राम पर धरहीं॥७३६॥

वे मूर्ख हठ-वश सन्देह करते हैं और अपना अज्ञान राम पर धरते हैं।

[जिन्होंने योगाभ्यास द्वारा अपनी अज्ञानता दूर नहीं की है, वे ही मूर्ख अपनी अज्ञानता के कारण हठ-वश सन्देह करते हैं कि राम प्रकट हुए, राम लोप हुए, वे किसी मायावरण-धारी शरीरवाले और रूपवाले थे, जिन्होंने भ्रमण किये थे इत्यादि। अज्ञानता दूर नहीं होने के कारण बुद्धि रूप-रसादि विषयों में फँसी रहती है, राम के परम तत्त्वमय सहज, निर्मल, निर्गुण स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकती है, इसी कारण वे अज्ञानी अपनी अज्ञानता (कि राम प्रकट और लोप हुए आदि) राम पर धरते हैं।]

***दोहा*–काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।**
ते किमि जानहिँ रघुपतिहिँ, मूढ़ परे तम कूप॥ ११३॥

जो काम, क्रोध, मद और लोभ में लिप्त घर (के कामों) में फँसे हुए दुःख-रूप हैं, वे अन्धकार के कुएँ में गिरे हुए मूर्ख राम को कैसे जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जान सकते हैं।

[रघुपति राम को धनुषधारी, श्यामली मूरत, कौशल्या माता के उदर से प्रकट होनेवाले, अपने धाम क्षीर-समुद्र को फिर जानेवाले (लोप होनेवाले), रावण को मारनेवाले आदि-आदि कहकर जान सकनेवाले बहुत हैं। नर-तन-धारी रघुवर राम के समकालीन बहुत-से मनुष्यों ने उनको उपर्युक्त वेश और लीला में देखा भी था; परन्तु उनके परम तत्त्वमय, सहज, निर्मल, निर्गुण स्वरूप को उसी समय में योगिजनों को छोड़ दूसरे मनुष्य नहीं जान सके थे और न वर्त्तमान काल में जान सकते हैं। अतएव यदि राम के असली स्वरूप को पाना हो, तो अपने अन्तर में अन्धकारादि सब आवरणों को योगाभ्यास के द्वारा दूर करना चाहिए। काम,

क्रोधादि विकारों को दमन करना और मन में विरक्ति लानी चाहिए। रघुवर राम के माया-सम्बन्धी रूपों के वर्णनों को पुराणादि से पढ़-सुनकर तथा किसी मन्दिर में उनकी प्रतिमा वा चित्र देखकर उनके असली स्वरूप-परम तत्त्वमय, सहज, निर्मल, निर्गुण स्वरूप को पाना असम्भव है। हाँ, भक्ति-योग के आरम्भ में प्रथम राम के मायिक रूप को ही मन में टिकाकर ध्यानाभ्यास किया जाता है। इसलिए पुराणों में प्रतिमा, चित्र और अन्य मायिक रूप का वर्णन तथा मन्दिरों में प्रतिमाओं की स्थापना की बात है। पर यहीं तक भक्ति-योग का साधन समाप्त नहीं हो जाता। (इसका सम्पूर्ण साधन अरण्यकाण्ड में नवधा भक्ति के किए गए वर्णन में देखिए) इसके आगे मनुस्मृति में वर्णित राम के अणु से भी अणु रूप, फिर ज्योति-रूप के भिन्न-भिन्न रूपों, उनके शब्द-रूप अर्थात् ध्वन्यात्मक राम-नाम वा सत्य-नाम को ग्रहण कर उनके परम तत्त्वमय स्वरूप की प्राप्ति कर लेने पर साधन समाप्त होता है। जैसे जल में पड़ा हुआ प्राणी जल ही के सहारे तैरता हुआ—उसकी एक हद से दूसरी हद तक पार करता हुआ अन्त में जल-राशि को पार कर स्थल पर आ जाता है, उसी तरह माया में पड़ा हुआ प्राणी सर्वेश्वर राम के देव वा नर आदि किसी मायिक रूप के सहारे से अभ्यास आरम्भ करके माया-विस्तार से पार होने को चल पड़ता है। (जानना चाहिए कि राम का मायिक रूप केवल दाशरथि रघुवीर ही नहीं है, बल्कि राम सर्वव्यापी हैं, इस कारण सारा-का-सारा विश्व, विश्व के एक अणु से परम प्रकाण्ड पिण्ड-विश्वरूप वा विराट रूप तक सब उन्हीं के रूप हैं।) फिर उनके अणु-से-अणु रूप, ज्योति-रूपों, फिर शब्द-रूपों का क्रम से सहारा ले-लेकर अभ्यासी माया-विस्तार को टपकर उनके (राम के) सहज, निर्मल, निर्गुण स्वरूप को पा जाता है। फिर उसे कुछ पाने को रह नहीं जाता है। परन्तु जैसे जल-राशि (अपार जल) में पड़ा हुआ मनुष्य उससे पार होने के लिए उसके एक ही भाग को जकड़कर पकड़ रखे, क्रमशः आगे न बढ़े और ख्याल करे कि मैं इसी (भाग) के सहारे जल-राशि को टप जाऊँगा, तो वह असफलमनोरथ होकर जल में डूब मरेगा। उसी तरह माया के केवल एक ही प्रकार-रूप (जो प्रथम ग्रहण हो

सकता हो) को जकड़कर पकड़ रखनेवाला-उसके आगे न बढ़नेवाला अभ्यासी यह मनोरथ करे कि मैं माया से मुक्त होऊँ, तो वह असफलमनोरथ होगा और माया के महासागर में ही गोता खाता रहेगा।]

_दोहा_–निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥११४॥

निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है और सगुण रूप को कोई नहीं जानता है; क्योंकि उसमें (सगुण रूप में) आसानी से समझने योग्य और समझ में नहीं आने योग्य (दोनों प्रकार के) अनेक चरित्र होते हैं, जिन्हें सुनकर मुनियों के मन में भ्रम होता है।

हे गरुड़जी! जब-जब राम नर-रूप धारण करते हैं, तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और उनका जन्मोत्सव और बाल-चरित्र देखता हूँ। लड़कपन में वे जहाँ-जहाँ फिरते हैं, मैं वहाँ-वहाँ उड़-उड़कर संग-संग जाता हूँ। उनका जूठा अन्न, जो गली-कूचों में गिरता है, मैं उठाकर खाता हूँ। एक बार बालक राम को साधारण बालक की तरह खेल करते देख मुझे मोह हो गया कि सच्चिदानन्द राम साधारण बालक की तरह यह कौन-सी लीला करते हैं? (अर्थात् ये राम नहीं हैं, वे होते तो मामूली बच्चे के समान न खेलते।) इतना भ्रम मन में आते ही भगवान की प्रेरित माया मुझे पुनः लग गई। पर वह (माया) मुझको संसार में डालकर दुःख देनेवाली नहीं हुई। हे प्रभु! ऐसा होने का कुछ दूसरा कारण है, वह आप सावधान होकर सुनिए–

ज्ञान अखंड एक सीता बर।
माया बस्य जीव सचराचर॥७३७॥

पूर्ण ज्ञानी एक राम ही हैं और सब स्थावर और जंगम (नहीं चलनेवाले और चलायमान) जीव-मात्र माया के वश में हैं।

[पहले अनेक स्थानों पर सिद्ध कर दरसा दिया गया है कि सीता-वर (नर-रूप राम) विष्णु के अवतार हैं और चौ० सं० २८४-२८५ से प्रकट होता है कि विष्णु भी पूर्ण ज्ञानी नहीं हैं। श्रीराम ने नर-रूप में तो शोक और विलाप आदि अज्ञानियों की

भाँति की भी लीला है ('मनहु महा बिरही अति कामी ।' -तृतीय सोपान)। तब जो यहाँ पर 'ज्ञान अखंड एक सीता बर ।' कहा गया है, वह भगवान के सहज रूप को ही लक्ष्य करके कहा गया है, न कि उनके देव वा नर आदि किसी मायामय सगुण रूप को।]

जौं सब के रह ज्ञान एक रस।
ईस्वर जीवहिँ भेद कहहु कस ॥ ७३८॥

यदि सबको एक समान ज्ञान रहे, तब कहिए ईश्वर और जीव में फिर अन्तर क्या रहे ?

माया बस्य जीव अभिमानी।
ईस बस्य माया गुन खानी ॥ ७३९॥

अभिमानी जीव माया के वश में है और गुणों (सत्त्व, रज, तम) की खान माया ईश्वर के वश में है।

पर बस जीव स्वबस भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता ॥ ७४०॥

जीव पराधीन है और भगवान स्वाधीन हैं। जीव अनेक हैं, भगवान एक हैं।

[रामचरितमानस के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी अनेक हैं। 'श्रीकन्ता' विष्णु भगवान के अतिरिक्त और कौन हो सकते हैं ? यहाँ पर 'एक श्रीकन्ता' से तात्पर्य विष्णु-शरीर-व्यापी केवल आत्मराम का है, न कि आत्मराम से व्याप्त विष्णु रूप का। परम तत्त्वमय आत्मराम एक ही हैं। वे सब शरीरों में व्याप्त होकर भी खण्ड-खण्ड होकर अनेक नहीं होते; बल्कि अनेक घट-मठों में व्याप्त एक ही आकाश की तरह वे एक ही अखण्ड रूप से व्यापक हैं।]

मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥ ७४१॥

यद्यपि माया का किया हुआ भेद मिथ्या है, तथापि बिना हरि-कृपा के करोड़ों उपायों से दूर नहीं होता है।

[जीव और ईश्वर में भेद बतलाकर भी यही माना गया कि माया-कृत भेद मिथ्या है, हरि-कृपा से यह दूर हो जाएगा। चौ०

सं० २८६ का तात्पर्य भी यही है कि अन्त में जीव-ब्रह्म का भेद मिट जाता है।]

दोहा—रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥ ११५॥

रामचन्द्रजी के भजन के बिना जो मनुष्य मोक्ष चाहता है, वह ज्ञानवान होने पर भी बिना पूँछ-सींग का पशु है।

दोहा—राकापति षोड़स उअहिं, तारा गन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि राति न जाइ ॥ ११६॥

पूर्णिमा के सोलह चन्द्रमा (अथवा सोलह कलाओं से युक्त चन्द्रमा) उगें, तारेगणों के सब झुण्ड भी उगें, सब पर्वतों में आग लगा दी जाय, परन्तु बिना सूर्य के रात नहीं जाती।

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा ।
मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ॥ ७४२॥

हे गरुड़जी ! इसी प्रकार बिना हरि-भजन किए जीवों का क्लेश नहीं मिटता।

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या ।
प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या ॥ ७४३॥

हरि-सेवकों को अविद्या-माया नहीं व्यापती, किन्तु प्रभु (राम) की प्रेरणा से उनको विद्या-माया व्यापती है।

[भक्त जबतक अपने अन्तर में साधन के द्वारा अपने इष्ट-देव का निर्मल, निर्गुण, अज, अनादि, अनन्त, आत्मराम, सहज स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता है, तभी तक उसे सेवक-सेव्य का भेद बना रहता है; क्योंकि चौ० सं० ७४१ में कहा गया है कि भेद मिथ्या है, पर हरि-कृपा से दूर होता है। और चौ० सं० २८६ में कहा गया है कि 'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'। तात्पर्य यह कि जो भक्त वचन-अगोचर, बुद्धि पर, अविगत, अकथ और अपार राम को वा निर्मल, निर्गुण और सहज आत्मरूप राम को जान लेता है, उसका सेवक-सेव्य भेद-भाव मिट जाता है—वह राम ही हो जाता है । ऐसी दशा में उसे विद्या वा अविद्या माया कैसे व्यापे ? वह तो माया-ईश वा माया के दोनों रूपों का प्रेरक

ही हो जाता है। और जबतक भक्त इस सर्वोच्च पद तक नहीं पहुँचता है, तबतक ही वह राम-भक्त (राम नहीं) कहलाता है और उसको प्रभु-प्रेरित विद्या-माया व्यापती है, जिससे वह ऐसे अवसर पर व्याकुल, त्रसित और शोकित आदि होता रहता है। जैसे कागभुशुण्डि, राजा दशरथ और अर्जुन आदि हुए थे। इसलिए जो अपना परम कल्याण चाहे, व्याकुलता, त्रास और शोक आदि दुःखों से बचना चाहे, उसे चाहिए कि प्रथम सेवक-सेव्य भाव रखकर भक्ति-पथ में आगे बढ़ता जाय और अन्त में उपर्युक्त सर्वोच्च पद पर पहुँच सेवक-सेव्य भेद-भाव को छोड़ अविगत, अकथ, अपार रूप राम ही बनकर माया-प्रेरक बने, न कि विद्या-माया के वशवर्ती रह समय-समय पर व्याकुलता, त्रास और शोकादि से पीड़ित होवे।]

ताते नास न होइ दास कर।
भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर ॥७४४॥

हे गरुड़जी ! उससे (विद्या-माया से) दास की सेवक-सेव्य-भेदभाववाली भक्ति नष्ट नहीं होती, बढ़ती है।

[यदि भक्ति-मार्ग में उस पद तक रहे, जहाँ उस पर विद्या-माया व्याप सके, तो वह भेद-भक्ति में विशेष होता हुआ उसे धारण किए रहेगा और उस दशा में रहने का फल जो चौ० सं० ७४३ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में लिखा गया है, अवश्य भोगता रहेगा।]

फिर कागभुशुण्डिजी कहने लगे कि हे गरुड़जी ! जब प्रभु राम ने मुझे भ्रम से घबराया हुआ देखा, तो वे ठेहुनियाँ देते हुए मुझे पकड़ने को दौड़े। मैं भाग चला। फिर रामजी ने पकड़ने को बाँह फैला दी। जैसे-जैसे मैं आकाश में दूर और विशेष दूर उड़ता जाता था, वैसे-वैसे मैं प्रभु की भुजा को अपने पास देखता था। मैं उड़ता जाता और पीछे फिर-फिरकर देखता जाता था। इस प्रकार मैं ब्रह्मलोक तक गया। रामजी की भुजा और मुझमें केवल

* मूलाधाार से सहस्त्रदल कमल तक ये सातों आवरण हैं, परन्तु ये सातों चक्र रूप-मण्डल के अन्तर्गत हैं, अतः दो अंगुलियों की दूरी यानी द्वैत-ज्ञान के रहने के कारण यहाँ आत्मज्ञान नहीं हो पाता है। राम की भुजा यहाँ रूप का ही प्रतीक है। रूप या दृश्य-मण्डल में अद्वैत ज्ञान नहीं होता।

दो ही अंगुलियों का अन्तर था। सातो परदों* को छेदकर जहाँ तक जा सकता था, मैं भागा; पर वहाँ भी प्रभु की भुजा अपने पास देखकर व्याकुल हो मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। फिर आखें खोलते ही मैंने अपने को अवधपुरी में पाया। मुझे देखकर रामजी मुस्कुराने लगे। और जब वे मुँह खोलकर हँसे, तो मैं आकर्षित हो उनके मुँह में चला गया। उनके उदर में मैंने अनेकों ब्रह्माण्डों को देखा, उनमें अनगिनत ब्रह्मा, अनगिनत विष्णु, अनगिनत शिव, अनगिनत लोकों में अनगिनत लोकपाल आदि सब देवताओं के सहित देखे। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैंने अपना भी एक-एक रूप देखा। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में रामावतार, दशरथ-कौशल्या, पिता-माता और भरतादि भ्राताओं के सहित विविध रूपों में देखा; पर राम को सब जगह एक ही रूप में देखा। देखकर मेरी बुद्धि घनी अज्ञानता में फँसकर थक गई। कृपालु राम मुझे व्याकुल जानकर हँसे। हँसते ही मैं उनके मुख से बाहर निकल आया और त्राहि-त्राहि करके ध रती पर गिर पड़ा, मुँह से बात न निकलने लगी। मुझे प्रेम से विह्वल देख अपनी माया की प्रभुता को प्रभु राम ने रोक दिया और मेरे सिर पर हाथ रख मुझे मोह से मुक्त कर दिया। प्रभु रमानिवास (लक्ष्मीपति) ने कहा कि हे काग ! तू वर माँग। अणिमादिक सिद्धियाँ, ऋद्धियाँ, मोक्ष, ज्ञान, विराग, विवेक और विज्ञान; सब आज मैं तुझे दूँगा, इसमें कुछ संशय नहीं है। तू माँग, जो तेरे मन में भावे। प्रभु के वचनों को सुन मैं बड़े प्रेम में डूब गया और विचारने लगा कि प्रभु ने सब सुख देने को तो कहा, पर अपनी भक्ति देने की बात न बोले।

भगति हीन गुन सब सुख कैसे ।
लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ।।७४५।।

भक्ति के बिना गुण और सब सुख कैसे हैं, जैसे नमक के बिना बहुत-सी तरकारियाँ होती हैं।

ऐसा विचारकर मैंने कहा-'हे प्रभो ! मुझे अविरल भक्ति दीजिए।' प्रभु 'एवमस्तु' कहकर बोले कि हे पक्षी ! तूने भक्ति माँगी, यह मुझे बहुत अच्छा लगा। तेरे हृदय में सब भले गुण वास करेंगे और-

भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा।
जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥ ७४६॥
जानब तैं सबही कर भेदा।
मम प्रसाद नहिँ साधन खेदा ॥ ७४७॥

भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग के सब अंगों और उसके गुप्त चरित्रों के सहित; सबका भेद तू जानेगा और मेरी कृपा से इनके साधन में तुझे कोई कष्ट नहीं होगा।

***दोहा*–माया सम्भव भ्रम सकल, अब न ब्यापिहहिँ तोहि।**
जानेसु ब्रह्म अनादि अज, अगुन गुनाकर मोहि ॥ ११७॥

माया से उत्पन्न सम्पूर्ण भ्रम अब तुझे न व्यापेंगे । तू मुझे सर्वव्यापी, आदि-रहित, जन्म-रहित, गुण-रहित और गुणों की खान जानना।

***दोहा*–माहि भगत प्रिय सन्तत, अस बिचारि सुनु काग।**
काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग ॥ ११८॥

हे काग ! सुन, मुझे भक्त सदा प्यारे हैं, ऐसा विचारकर शरीर, वचन और मन से मेरे चरणों में अटल प्रेम करना।

अब सुनु परम बिमल मम बानी।
सत्य सुगम निगमादि बखानी ॥ ७४८॥

अब मेरे अत्यन्त पवित्र वचनों को, जो वेद और शास्त्रों में सत्य और सुगम कहे हैं, सुनो।

निज सिद्धान्त सुनावउँ तोही।
सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही ॥ ७४९॥

मैं अपना सिद्धान्त तुझे सुनाता हूँ, उसे सुन मन में धारण कर कि सब (संकल्पों) को छोड़कर मेरा भजन कर।

मम माया सम्भव संसारा।
जीव चराचर बिबिध प्रकारा ॥ ७५०॥

संसार के अनेक प्रकार के चर और अचर (चेतन और जड़) जीव मेरी माया से उत्पन्न हैं।

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सब तें अधिक मनुज मोहि भाये ॥ ७५१॥

वे सभी मेरे प्यारे हैं, क्योंकि सब मेरे उपजाए हुए हैं; पर उनमें सबसे अधिक अच्छे मुझे मनुष्य लगते हैं।

तिन महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी ।
तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी ॥ ७५२॥

उनमें (मनुष्यों में) द्विज, द्विजों में वेद जाननेवाले और उनमें (वेदज्ञों में) जो वेदोक्त कर्मानुसार चलते हैं (अधिक प्यारे हैं)।

तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी ।
ज्ञानिहुँ तेँ अति प्रिय बिज्ञानी ॥ ७५३॥

उनमें वैराग्यवान प्यारे हैं, फिर विरक्तों में ज्ञानी और ज्ञानियों में विज्ञानी अत्यन्त प्रिय हैं।

तिन्ह तेँ पुनि मोहि प्रिय निज दासा ।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥ ७५४॥

उन विज्ञानियों से फिर मुझको अपने भक्त प्यारे हैं, जिन्हें मेरी गति छोड़ दूसरी आशा नहीं है।

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीँ ।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीँ ॥ ७५५॥

मैं तुझे बारम्बार सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवक के समान कोई प्रिय नहीं है।

भगति हीन बिरंचि किन होई ।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥ ७५६॥

भक्ति के बिना ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह साधारण जीव के समान मुझे प्रिय हैं।

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी ।
मोह प्रान प्रिय असि मम बानी ॥ ७५७॥

भक्तिवन्त अत्यन्त नीच प्राणी भी हो, वह मुझे प्राण-तुल्य प्यारा है, ऐसी मेरी प्रकृति है।

***दोहा*–सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग ।**
स्रुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग ॥ ११९॥

पवित्र, सुशील और अच्छी बुद्धिवाला सेवक, कहो किसको प्यारा नहीं लगता ? हे काग ! वेद और पुराण ऐसी नीति कहते हैं,

तू सचेत होकर सुन।

एक पिता के बिपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा॥७५८॥

एक पिता के भिन्न-भिन गुण, शील और आचरणवाले बहुत-से पुत्र होते हैं।

कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता।
कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता॥७५९॥

कोई पण्डित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूरवीर और कोई दानी,

कोउ सर्वग्य धर्म रत कोई।
सब पर पितहि प्रीति सम होई॥७६०॥

कोई सर्वज्ञ और कोई धर्म में तत्पर होते हैं, परन्तु पिता की प्रीति सबों पर बराबर होती है।

कोउ पितु-भगत बचन मन कर्मा।
सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥७६१॥

कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है, वह दूसरा धर्म स्वप्न में भी नहीं जानता है।

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।
जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥७६२॥

वही पुत्र पिता को प्राण के समान प्रिय है, यद्यपि वह सब तरह से अनजान है।

एहि विधि जीव चराचर जेते।
त्रिजग देव नर असुर समेते॥७६३॥

इसी तरह तीनों लोकों में देवता, मनुष्य और राक्षसों के सहित जड़-चेतन जितने जीव हैं।

अखिल बिस्व यह मम उपजाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया॥७६४॥

यह सम्पूर्ण संसार मेरा उत्पन्न किया हुआ है, सब पर मेरी बराबर दया है।

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया।
भजहिँ मोहि मन बच अरु काया॥७६५॥

उनमें (विश्व-भर के जीवों में) जो अहंकार और छल छोड़कर मन, वचन और शरीर से मुझे भजते हैं।

***दोहा*–पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।**
सर्बभाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥१२०॥

पुरुष, नपुंसक, स्त्री या चर-अचर जीवों में से जो कोई कपट त्यागकर पूर्ण भाव से मेरा भजन करता है, वह मुझे अत्यन्त प्यारा है।

***सोरठा*–सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।**
अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब॥१२१॥

हे पक्षी! तुझे सत्य कहता हूँ कि पवित्र सेवक मुझे प्राण समान प्रिय हैं, ऐसा विचार सब आशा और भरोसा छोड़कर तू मेरा भजन कर।

कागभुशुण्डि कहने लगे–हे गरुड़जी! प्रभु राम मेरे साथ ऊपर वर्णित कौतुक करके फिर शिशु-लीला करने लगे। इस (कौतुक) को प्रभु के छोटे भाई और माता-पिता भी न जानने पाए।

***सोरठा*–जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद।**
अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ सन्तत मगन॥१२२॥

जिस सुख में लगकर त्रिपुर राक्षस के शत्रु शिवजी अशुभ वेश किए रहने पर भी सुख-दाता हैं, अयोध्यापुरी के स्त्री-पुरुष सर्वदा उसी सुख में मग्न रहते हैं।

***सोरठा*–सोइ सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।**
ते नहिँ गनहिँ खगेस, ब्रह्म सुखहिँ सज्जन सुमति॥१२३॥

हे पक्षीराज! उस सुख का लेश-मात्र जिन्होंने एक बार स्वप्न में भी पाया है, वे बुद्धिमान सज्जन (उसके आगे) ब्रह्म के सुख को भी कुछ नहीं समझते हैं।

[सो० १२२ में वर्णित सुख कौन-सा है? अवधपुरी कौन-सी हैं? इनके उत्तर में यदि कहा जाय कि दाशरथि राम की बाल-

लीलाओं को देखने से जो सुख होता है, वही ऊपर कथित सुख है और अवधपुरी वही है, जो भारतवर्ष में जिला फैजाबाद के अन्तर्गत अयोध्या नाम से विख्यात है और जिसमें हनुमान-गढ़ी आदि प्रसिद्ध स्थान हैं, तो विचार से ये उत्तर ठीक नहीं जँचते। क्योंकि– 'अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ सन्तत मगन।' के अर्थ के अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्यत्; तीनों कालों में वहाँ के नर-नारी को उस सुख में मग्न रहना चाहिए। पर यथार्थ में यह बात देखी नहीं जाती है; क्योंकि देखिये रामजी के राजत्व काल ही में एक धोबी राम और सीता की निन्दा क्योंकर कर सका था ? और भी देखिए कि राम-राज्य में शूद्र के तप करने से ब्राह्मण-पुत्र मर गया, तब ब्राह्मण ने शोकित-क्रोधित हो भरी सभा में राम को कठोर वचन कह डाला। क्या उनसे भी ऐसे कर्म और चरित्र हो सकते हैं, जो सदा रामजी की बाल-लीला प्रत्यक्ष देखने, सुनने वा उनका गुण गाने वा चिन्तन करने के सुख में मग्न रहते हैं।

यह बात निर्विवाद है कि शिवजी महायोगी हैं। 'जोगिन प्रभुहि तत्त्वमय भासा।' के अनुसार वे परम तत्त्वमय अर्थात् सहज स्वरूप में लगे हुए हैं। रामचरितमानस प्रथम सोपान में लिखा भी है–'संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥' इससे मानना पड़ेगा कि अवधपुरी के नारी-नर 'सहजरूप' के सुख में सदा मग्न रहते हैं। अब यह जानना है कि 'सहज स्वरूप' का वर्णन गो० तुलसीदासजी, क्या करते हैं।

विनय-पत्रिका में लिखा है–'जिय जब तें हरि तें बिलगानेउ। तब तें देह गेह निज जानउ॥ माया बस सरूप बिसरायेउ। तेहि भ्रमतें नाना दुख पायेउ॥ तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव-रूप तव खल, भूलि अब आयउँ तहाँ॥ सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुवीर चरण लय लागे॥ देह जनित विकार सब त्यागे। तब फिर निज सरूप अनुरागे॥ अनुराग सो निजरूप जो जग तें बिलच्छन देखिये। सन्तोष सम सीतल सदा दम देहवन्त न लेखिये॥ निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष शोक न व्यापई। त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥'

इन पदों में 'सरूप', 'निज सहज अनुभव रूप' और 'निज रूप' निर्मल आत्म-स्वरूप को कहा गया है और 'सहज सरूप' भी 'सहज अनुभव रूप' वा 'आत्म-स्वरूप' से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। 'विनय-पत्रिका' के ये (उपर्युक्त) पद बतलाते हैं कि साधु सेवा से पहले रघुपति-चरण में लव लगता है अर्थात् सगुण ब्रह्म में प्रेम होता है, तब देह जनित विकार छूटते हैं और अन्त में निज स्वरूप वा सहज स्वरूप वा सहज अनुभव रूप में अनुराग होता है। रामचरितमानस में लिखा है कि जब सती ने राम की परीक्षा के लिए सीता का रूप धारण किया था और शंकरजी ने इस बात को ध्यान में जान लिया था, तब वे मन में सती का संग छोड़ सतासी (८७) हजार वर्ष तक अखण्ड समाधि में सहज स्वरूप सम्हाल उसमें लगे रहे। इससे साफ प्रकट होता है कि शंकरजी 'सहज सरूप' के सुख में लगे रहते हैं, न कि सगुण रूप के दर्शन आदि के सुख में। हाँ, यह बात ठीक है कि उपासना के आरम्भ में जैसा कि ऊपर में 'विनय-पत्रिका' का प्रमाण लिखा जा चुका है, उपासक को सगुण रूप में ऐकान्तिक भाव से लगना पड़ता है और शंकरजी भी अवश्य ही उस भाव में लगे होंगे; पर रामचरितमानस से ही विदित होता है कि कागभुशुण्डि और गरुड़ से जिस काल में संवाद हुआ था, उसके प्रथम ही श्रीशंकरजी 'सहज सरूप' के सुख में लगे हुए हैं और दो० सं० १२२ के अनुसार अवधपुरी के स्त्री-पुरुष इसी (शिवजी वाले) सुख में लगे रहते हैं। पर यह सिद्ध नहीं हो सकेगा कि फैजाबाद जिला के अन्तर्गत की अवधपुरी के नारी-नर सदा इसी सुख में लगे रहते थे वा लगे रहते हैं। हाँ, वशिष्ठजी और उनके तुल्य, वहाँ पहले भी उस सुख में लगे थे और अब भी कोई वैसे हो सकते हैं, पर भूतकाल में श्रीराम के पिता दशरथ जी के विषय में रामचरितमानस में ऐसा नहीं गाया गया है कि वे श्रीशंकरजी की तरह समाधि-द्वारा 'सहज सरूप' में लगकर उसका सुख प्राप्त कर सकते थे। इस कारण यह अवश्य ही मानना पड़ता है कि वह अवधपुरी दूसरी ही है, जिसके नारी-नर 'सहज सरूप' के सुख में लगे रहते हैं। रामचरितमानस के प्रथम सोपान-बालकाण्ड में लिखा है कि 'सन्त सभा अनुपम अबध

सकल सुमंगल मूल।' अर्थात् दूसरी अवधपुरी सन्तों की सभा है, जिसके नारी-नर 'सहज सरूप' के सुख में सर्वदा लगे रहते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं; क्योंकि सत्संग की महिमा अगम है; यथा-'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥ दो० सं० १२३ में कहा गया है कि दो० सं० १२२ में कहे गए सुख को जो एक बार स्वप्न में भी पा लेता है, वह इस (सुख) के आगे ब्रह्म-सुख को तुच्छ समझता है। यहाँ ब्रह्म-सुख का अर्थ निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति का सुख नहीं है; क्योंकि यहाँ ब्रह्म का अर्थ निर्गुण ब्रह्म नहीं, बल्कि ब्रह्मा है। सहज रूप, सहज अनुभव रूप, निज रूप वा आत्मरूप; जिसका वर्णन पहले हो चुका है, वही तत्त्व है, जो निर्गुण ब्रह्म है। इसीलिए रामचरितमानस में 'सो तुम ताहि तोहि नहिं भेदा।' कहा गया है। इसी के बारे में लोमशजी ने कहा कि यह उपदेश 'परम सुख' है। (इसका विशेष वर्णन यथा-स्थान देखिए।) अतएव निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति और सहज सरूप-प्राप्ति का सुख एक ही है। यदि दोहा सं० १२३ में ब्रह्म-सुख का अर्थ निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति का सुख किया जाय, तो दो० १२२ और १२३ को मिलाकर सारांश निकलता है कि जो सहज सरूप के सुख में लगे रहते हैं, वे निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति के सुख को तुच्छ समझते हैं। ऐसा अर्थ बुद्धि संगत नहीं होगा; क्योंकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि सहज सरूप और निर्गुण ब्रह्म एक ही तत्त्व है। रामचरितमानस में ब्रह्म, ब्रह्मा को भी कहा गया है; यथा-'मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥' (प्रथम सोपान-बालकाण्ड) और भी-'जब रावनहिं ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥' (पंचम सोपान -सुन्दरकाण्ड)

इसलिए दो० सं० १२३ में ब्रह्म का अर्थ है ब्रह्मा और ब्रह्म-सुख का अर्थ है ब्रह्मा का सुख अर्थात् वह सुख जो ब्रह्माजी अपने लोक में रहकर भोगते हैं। सहज सरूप में लगे रहने के सुख के सामने ब्रह्मा का यह सुख निश्चय ही तुच्छ है; क्योंकि ब्रह्मा का सुख स्वर्गीय सुख है। रामचरितमानस में लिखा है कि 'स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई', पर 'सहज सरूप' के सुख को विनय-पत्रिका में 'निर्मल,

निरंजन, निर्विकार, उदार सुख' कहा गया है।]

फिर कागभुशुण्डि गरुड़ से कहने लगे–

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा ॥ ७६६॥

हे पक्षीराज ! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि बिना हरि-भजन के क्लेश दूर नहीं होता है।

[अनुभव = 'निज सहज अनुभव-रूप' की प्राप्ति होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, इसका वर्णन सो० सं० १२३ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़िए । हरि-भजन = हरि के दोभुजी, चतुर्भुजी वा बहुभुजी मायिक रूपों के सहारे उपासना कर, चित्त का निरोध कर चौ० सं० २९२ और २९३ में कथित साधन से हरि के विन्दु-रूप को प्राप्त करते हुए उसके आगे चौ० सं० ४५९ में वर्णित भक्ति के द्वारा उनके उस रूप को, जो सो० सं० ४२ में वर्णित है, प्राप्त करना है। सारांश यह कि चौ० ४५६ से ४५९ तक में वर्णित भक्ति के साधनों को करना हरि-भजन है।]

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥ ७६७॥

हे गरुड़जी ! सुनिए, राम की कृपा के बिना राम का बड़प्पन नहीं जाना जाता है।

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ ७६८॥

जाने बिना (राम का बड़प्पन जाने बिना) उनमें विश्वास नहीं होता और विश्वास के बिना प्रेम नहीं होता है।

प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई ॥ ७६९॥

हे गरुड़जी ! प्रीति के बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती, जैसे जल की चिकनाई नहीं टिकती।

***सोरठा*–बिनु गरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।**
गावहिं बेद पुरान, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु ॥ १२४॥

क्या बिना गुरु के ज्ञान हो सकता है ? क्या ज्ञान के बिना वैराग्य हो सकता है ? वेद और पुराण कहते हैं कि क्या हरि-भक्ति के बिना सुख मिलता है ? (अर्थात् नहीं मिलता है।)

***सोरठा*–कोउ बिस्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु ।**
चलइ कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय ॥१२५॥

हे तात ! क्या कोई जीव बिना सहज सन्तोष के सुख पा सकता है ? करोड़ों उपाय करके, पच-पचकर मरने पर भी क्या बिना जल के नाव चल सकती है ? (कदापि नहीं)।

बिनु सन्तोष न काम नसाहीं ।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥७७०॥

बिना सन्तोष के इच्छा का नाश नहीं होता है और इच्छा के रहते हुए (जीव को) स्वप्न में भी सुख नहीं होता है।

राम भजन बिनु मिटहिँ कि कामा ।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा ॥७७१॥

क्या राम-भजन के बिना इच्छा नष्ट होती है ? क्या मिट्टी के बिना वृक्ष जमता (उगता) है ? (नहीं)।

बिनु बिज्ञान कि समता आवै ।
कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै ॥७७२॥

क्या बिना विज्ञान के समता आती है ? क्या कोई आकाश के बिना स्थान पाता है ? (नहीं)।

[सबमें एक ब्रह्म देखना ज्ञान है (देखिये चौ० सं० ४०९)। सब विविधताओं का एक ही ब्रह्मरूप होकर एकता में दरसना विज्ञान है (देखिए चौ० सं० ४५९)। जैसे आकाश के बिना कोई स्थान नहीं पा सकता है, उसी तरह विज्ञान की प्राप्ति किए बिना कोई समता नहीं पा सकता है। चौ० सं० ४५९ में वर्णित नवधा भक्ति की ७ वीं भक्ति के साधन से विज्ञान प्राप्त होता है और विज्ञान की प्राप्ति होने पर भक्ति का साधन पूर्ण हो जाता है। नवधा भक्ति की आठवीं और नौवीं भक्ति तो ७ वीं भक्ति का फल-रूप ही है। इस हेतु कहा जा सकता है कि भक्ति-मार्ग में विज्ञान की उपयोगिता और उसका महत्व सबसे अधिक है।]

श्रद्धा बिना धरम नहिँ होई।
बिनु महि गन्ध कि पावइ कोई ॥ ७७३॥

श्रद्धा (गुरु और धर्म-ग्रन्थों में विश्वास) के बिना धर्म नहीं प्राप्त होता है। क्या कोई बिना धरती के गन्ध पा सकता है? (नहीं)।

बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।
जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥ ७७४॥

क्या बिना तप के तेज बढ़ता है? क्या संसार में बिना पानी के रस हो सकता है?

[जल का गुण रस है। जैसे जल-बिना रस नहीं होता है, उसी तरह तप के बिना तेज नहीं बढ़ता है। विषय-भोग में लिप्त नहीं होना तप है। भक्ति-मार्ग में तप की बड़ी आवश्यकता है। चौ० सं० ९१९ में लिखा है कि भक्ति-रूपी औषधि के सेवन करने में संयम यही है कि विषय की आशा नहीं रखे। (यथा–'संयम यह न बिषय की आसा।')]

कबिनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥ ७७५॥

क्या बिना विश्वास के कोई सिद्धि हो सकती है? (नहीं), बिना हरि-भजन के संसार का भय नष्ट नहीं होता।

***दोहा*–बिनु बिस्वास भगति नहिँ, तेहि बिनु द्रवहिँ न राम।**
रामकृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह विश्राम ॥ १२६॥

विश्वास के बिना भक्ति नहीं होती, बिना भक्ति के रामजी दया नहीं करते और बिना राम की कृपा के जीव स्वप्न में भी सुख नहीं पाता है।

राम काम सत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन ॥ ७७६॥

रामजी असंख्य कामदेव के समान सुन्दर शरीरवाले हैं और करोड़ों दुर्गा के समान असंख्य शत्रुओं के नाशक हैं।

सक्र कोटि सत सरिस बिलासा।
नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥ ७७७॥

सौ करोड़ इन्द्र के समान विलास करनेवाले हैं और असंख्य आकाश के समान परिमाण–रहित अवकाश (शून्य स्थान) वाले हैं।

***दोहा*–मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास ।**
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भव त्रास ॥ १२७॥

सौ करोड़ पवन के समान बड़े बली, सौ करोड़ सूर्य के समान प्रकाशवाले, सौ करोड़ चन्द्रमा के समान सुन्दर शीतल और संसार के सम्पूर्ण भयों के नाश करनेवाले हैं।

***दोहा*–काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त ।**
धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधरष भगवन्त ॥ १२८॥

असंख्य काल के समान अत्यन्त कठिन, दुर्गम और अपार हैं। अपरिमित अग्नि के समान भगवान राम (रामजी) कठिनता से धरने के योग्य हैं।

प्रभु अगाध सत कोटि पताला ।
समन कोटि सत सरिस कराला ।। ७७८।।

रामजी अनगिनत पाताल के समान गहरे और अनगिनत यमराज के समान भयंकर हैं।

तीरथ अमित कोटि सत पावन ।
नाम अखिल अघ पूग नसावन ।। ७७९।।

असंख्य तीर्थ के समान बहुत पवित्र हैं और उनका नाम सम्पूर्ण पाप–राशि को नाश करनेवाला है।

हिम गिरि कोटि अचल रघुबीरा ।
सिन्धु कोटि सत सम गम्भीरा ।। ७८०।।

रामजी करोड़ों हिमालय पर्वत के समान स्थिर और असंख्य समुद्र के समान गहरे हैं।

कामधेनु सत कोटि समाना ।
सकल काम दायक भगवाना।। ७८१ ।।

श्रीरामजी अनगिनत कामधेनु के समान सब इच्छाओं के देनेवाले हैं।

सारद कोटि अमित चतुराई।
बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥७८२॥

करोड़ों सरस्वती के समान बहुत अधिक चतुर और अनगिनत ब्रह्मा के समान सृष्टि करने में प्रवीण हैं।

बिष्नु कोटि सम पालन करता।
रुद्र कोटि सत सम संघरता॥७८३॥

अनगिनत विष्णु के समान पालन करनेवाले और अनगिनत रुद्र के समान संहार करनेवाले हैं।

धनद कोटि सत सम धनवाना।
माया कोटि प्रपञ्च निधाना॥७८४॥

सौ करोड़ कुबेर के समान धनवान और करोड़ों माया के समान छल की खान हैं।

भार धरन सत कोटि अहीसा।
निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥७८५॥

प्रभु रामजी अनगिनत शेषनाग के समान भार धारण करनेवाले, अनन्त, उपमा-रहित और जगत के स्वामी हैं।

हरिगीतिका छन्द

छन्द—निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सचु पावहीं॥१॥

वेद कहते हैं कि राम उपमा-रहित हैं, उनकी दूसरी उपमा नहीं है, राम के समान राम ही हैं। जैसे असंख्य जुगनुओं के समान सूर्य को कहने से उनकी (सूर्य की) हीनता होती है; (वैसे ही असंख्य विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र आदि के तुल्य राम को कहने से राम की बड़ी हीनता होती है।) इसी प्रकार अपने-अपने बुद्धि-विलास के अनुसार मुनीश्वर हरि का बखान करते हैं। प्रभु रामजी प्रेम के ग्रहण करनेवाले अत्यन्त कृपालु हैं और प्रेम-भरी वाणी सुनकर सुख पाते हैं।

[सम्पूर्ण आकाश के अवकाश का सौ करोड़ गुणा अवकाश

राम में स्थित अवकाश से अत्यन्त तुच्छ है। इसलिए आकाश को राम से बाहर मानना निरा-बालकपन है। यदि ऐसे अवकाशवाले शरीर को धरनेवाले सगुण राम माने जावें, तो उनको शरीर के अवयवों के बाहर प्रति ओर तथा एक अवयव को दूसरे अवयव के पृथक् करते हुए अवयवों के बीच-बीच में आकाश का होना माने बिना कदापि बन नहीं सकता है; क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय, तो वह शरीर है और वह शरीर का अवयव है; इस प्रकार पृथक्-पृथक् दोनों की पहचान नहीं हो सकती है। फिर पहचान करनेवाले के लिए भी उस शरीर के बाहर आकाश-हीनता के कारण स्थान नहीं रह सकता कि जहाँ रहकर वह शरीर और उसके अवयवों को पहचान सके। अतएव सम्पूर्ण आकाश से असंख्य गुणा विस्तृत परम विराट्मय अत्यन्त सुन्दर और परम आश्चर्यमय कोई भी शरीरधारी सगुण रूप नहीं हो सकता है कि जिसके बाहर आकाश न हो। यदि उसके बाहर आकाश माना जाएगा तो यह भी निश्चय ही मानना पड़ेगा कि जितना बड़ा आकाश उस रूप के भीतर है, उससे अधिक विस्तृत आकाश उससे बाहर है, और ऐसा मानने पर 'नभ सत कोटि अमित अवकासा' कहना अत्यन्त मिथ्या और निरर्थक होगा। इसलिए देह-रहित निर्गुण राम को ही 'नभ सत कोटि अमित अवकासा' का रूप कहा है वा उसी में यह परम अवकाश है, ऐसा माने बिना कदापि काम नहीं चल सकता है। अतएव चौ० सं० ७७६ से छन्द ९ पर्यन्त जो परम आश्चर्यमयी महिमा गाई गई है, वह शरीर-धारी सगुण राम की नहीं है, निर्गुण स्वरूप राम की है। रामचरितमानस को ये दो बातें स्वीकार हैं कि (१) राम का प्रथम पुरातन और सहज स्वरूप अगुण, अरूप, अलख और अज है। (२) जैसे जल से पाला और ओला बनता है, वैसे ही निर्गुण से ही सगुण होता है। (देखिए चौ० सं० १६८-१६९)।

इन दोनों सिद्धान्तों के अनुसार कामदेव, दुर्गा, इन्द्र, नभ, मरुत, रवि, शशि, काल, अग्नि, पाताल, यमराज, तीर्थ, हिमगिरि, सिन्धु, कामधेनु, सरस्वती, विधि, विष्णु, रुद्र, कुबेर, माया और शेषनाग अपने-अपने गुण, शक्तियों और प्रसाद आदि के सहित

सगुण होने के कारण निर्गुण रूप राम से ही जल से हिम और उपल के समान उपजते हैं। निर्गुण रूप राम सब प्रकार आदि-अन्त-रहित हैं। (देखिए चौ० सं० १८५ और ७२३) इस कारण कहे गए सब सगुण देवादि में से प्रत्येक गणना में चाहे कितना भी अधिक उपजें, फिर भी ये सब मिलकर उस परम स्वरूप (निर्गुण राम) के सम्मुख सर्वथा अत्यन्त तुच्छ निश्चय ही रहेंगे। रामचरितमानस के अनुसार जैसे उपल पिण्ड में ओत-प्रोत केवल जल-ही-जल है—वह जलांश का ही दूसरा रूप है; उसी प्रकार कोई भी स्थूल-सूक्ष्म रूप निर्गुण स्वरूप राम से ओत-प्रोत, भरा हुआ होकर निर्गुण स्वरूप रामांश का ही दूसरा रूप है (अंश-अंशी का भेद चौ० सं० ७८ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़कर जानिए।) दाशरथि सगुण नर-रूप राम, विष्णु-अवतार थे, यह बात कई स्थानों पर रामचरितमानस के ही आधार पर सिद्ध करके दिखलाई गई है। उन्हीं राम को सूर्य और विष्णु को जुगनू मानना निरी भूल है। हाँ, निर्गुण रूप राम को, जिनसे सगुण राम और विष्णु-शरीर व्याप्त है, सूर्य माना जाय और सगुण राम तथा विष्णु-शरीर जुगनू माने जायँ, तो यह अत्यन्त निर्भ्रम और मानने योग्य है।

चौ० सं० ७७६ से दोहा सं० १२९ तक में राम की महिमा और बड़ाई को पढ़कर बहुतों की धारणा है कि इस तरह की बड़ाई और महिमा गो० तुलसीदासजी की अतिशयोक्ति है। श्रीराम के पक्ष में अतिरोचक है, अतिरंजित है। परन्तु मुझे उन बहुतों की धारणा यथार्थ नहीं जानने में आती है। यदि गो० तुलसीदासजी महाराज 'राम' कहकर केवल सगुण-साकार को ही जानते तो उन बहुतों की धारणा यथार्थ कही जा सकती; परन्तु गो० तुलसीदासजी महाराज राम को निर्गुण स्वरूपी भी अवश्य मानते हैं। और रामचरितमानस में राम-स्वरूप को अनेक स्थलों पर 'अविगत, अलख, अपार, अनन्त, अखण्ड, अज, निर्गुण, निराकार, प्रकृति-पार और नित्य निरंजन' आदि भी कहकर जानते हैं। देखिए—चौ० सं० ७७, १०५, ११९, १६८, १७३, १८५, १९०, १९५, २०९, २११,

२४०, २७४, २७५, २८८, ७२२ से ७२६ पर्यन्त और दो० सं० ३२, ३५, ४२ इत्यादि।और राम परमात्मा का मूलस्वरूप 'अगुण अखण्ड अलख अज' ही बतलाते हैं; तब निर्गुण–अखण्ड–अपार के लिए चौ० सं० ७७६ से दोहा १२९ तक में वर्णित महिमा और बड़ाई पूर्णरूपेण यथार्थ है। हाँ, यह अवश्य कहेंगे कि श्रीगोस्वामीजी ने सगुण उपमाओं के द्वारा सगुण–साकार रूप राम को नहीं, बल्कि उनके निर्गुण स्वरूप को दरसाया है। यह गोस्वामीजी महाराज की विलक्षण और अति गंभीर बुद्धि की विशेषता है।

सगुण और साकार रूपों के उत्कर्ष को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर उनको भी तुच्छ कर देने से तब निर्गुण–निराकार के अतिरिक्त दूसरे कुछ का बोध नहीं हो सकता है। चौ० सं० ७७६ से दोहा सं० १२९ तक में सगुण–साकार रूपों को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर फिर अति तुच्छ कर दिया है; क्योंकि विश्व के सम्पूर्ण जुगनुओं को भी मिलाकर कैसे कहा जायगा कि सूर्य उन जुगनू–समूह के तुल्य है ?]

***दोहा*–राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ।**
सन्तन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहिँ सुनायउँ सोइ ॥ १२९॥

राम अपार गुणों के समुद्र हैं, क्या उनकी थाह कोई पा सकता है ? मैंने सन्तों से जैसा कुछ सुना है, तुमको वही सुनाया।

***सोरठा*–भाव बस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।**
तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीता रमन ॥ १३०॥

भगवान सुख के स्थान, दया के घर और प्रेम से वश होने योग्य हैं। ममता, मद और मान को छोड़कर सदा सीतारमण राम को भजिए।

[यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि प्रथम निर्गुण स्वरूप राम की ही महिमा का वर्णन करके तुरत 'सीता–रमण' सगुण नर–रूप–धारी का भजन क्यों करने को कहा गया ? इसका उत्तर दो० सं० ११३ के अर्थ के नीचे कोष्ठ के सम्पूर्ण विचारों को समझकर पढ़ने पर मिलेगा।]

गरुड़ ने कागभुशुण्डि की बातें सुनकर परमानन्द पाया

और उनको प्रणाम कर बोले-

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई॥७८६॥

बिना गुरु के कोई संसार-सागर से पार नहीं हो सकता है, यदि ब्रह्मा और शिवजी के समान भी हो।

[कवि ने 'जौं हरि बिधि संकर सम होई' ऐसा नहीं लिखा।]

गरुड़ ने कागभुशुण्डि की प्रशंसा कर हाथ जोड़कर कई प्रश्न किए-१ला-आपने किस कारण काग का शरीर पाया? २रा-आपने रामचरितसर कहाँ पाया? ३रा-

नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं।
महा प्रलयहु नास तव नाहीं॥७८७॥✡

हे नाथ! मैंने भगवान शिव से ऐसा सुना है कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता है।

[सब ब्रह्माण्डों का नाश महाप्रलय है।]

मुधा बचन ईश्वर नहिँ कहई।
सोउ मोरे मन संसय अहई॥७८८॥✡

ईश्वर (शिवजी) कभी झूठे वचन नहीं कहते। वह भी मेरे मन में सन्देह है।

अग जग जीव नाग नर देवा।
नाथ सकल जग काल कलेवा॥७८९॥

हे नाथ! संसार के स्थावर, जंगम, नाग, नर और सब जीव काल के कलेवा-मात्र हैं (इनको खाने से वह अघाता नहीं है।)।

अंड कटाह अमित लय कारी।
काल सदा दुरति क्रम भारी॥७९०॥

अनेकों ब्रह्माण्डों का नाश करनेवाला काल सदा दुस्तर (बड़ा बली) है।

सो अत्यन्त भयंकर काल आपको क्यों नहीं व्यापता है? क्या इसका कारण ज्ञान का प्रभाव अथवा योग-बल है? सो आप कृपा कर प्रेम से कहिए।

गरुड़ की बात सुनकर कागभुशुण्डि बोले कि हे गरुड़ ! मैं कथा कहता हूँ, आप उसे मन लगाकर सुनिए।

जप तप मख सम * दम ब्रत दाना ।
बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ।। ७९१ ।।
सबकर फल रघुपति पद प्रेमा ।
तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ।। ७९२ ।।

जप, तप, यज्ञ, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-दमन, व्रत, दान, वैराग्य, योग और विज्ञान; सबका फल राम के चरणों में प्रेम होना है, उनके बिना कोई कल्याण नहीं पाता।

[योग-साधन से जब सबमें समान ब्रह्म दरसे, तब समझना चाहिए कि ज्ञान की प्राप्ति हुई (देखिए चौ० सं० ४०९, ४११)। ज्ञान से विज्ञान विशेष है। (देखिए चौ० सं० ७५३), इसलिए योग में विशेष उन्नति करने पर विज्ञान का प्राप्त होना सम्भव है। विज्ञान से समता प्राप्त होती है (देखिए चौ० सं० ७७२)। विज्ञान, ज्ञान से विशेष इसलिए है कि सबमें समान ब्रह्म दरसना ज्ञान है और इससे विशेष यह है कि सबमें नहीं, बल्कि सब-का-सब एक ही ब्रह्म दरसे अर्थात् नानात्व मिटना और कैवल्यता-मात्र रह जाना पूर्ण समता है और यही विज्ञान है और चौ० ७२२ में तो राम को विज्ञान रूप ही कहा गया है। अतएव विज्ञान का फल रघुवर राम के मायामय नाना रूपों (नराकृति आदि) सगुण के पद में प्रेम होना मानना अविचार, अन्ध-ज्ञान और बाल-बुद्धि है। हाँ, दोहा सं० ४३ में वर्णित रघुवर राम के रूप अर्थात् उनके सहज निर्गुण रूप में प्रेम होना मानना, विज्ञान का फल उचित और सद्विचारयुक्त है। जानना चाहिए कि विज्ञान का फल भेद-भक्ति नहीं है। इसका फल अभेद भक्ति है। योगी जन प्रभु के 'अकथ अनामय नाम न रूपा' स्वरूप निर्गुण रूप के अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं। ये ही ज्ञानी भक्त कहलाते हैं, जो चारो प्रकार के भक्तों में प्रभु के विशेष प्यारे हैं (देखिए चौ० सं० ९२, ९३, ९८)। शेष तीन प्रकार के भक्तों में से जिज्ञासु अपूर्ण है, अर्थार्थी और आर्त्त राम के विज्ञान-रूप को प्राप्त नहीं कर सकते, वे भेद-भक्ति (सगुण की आसक्ति) में लगे रहते हैं। ऐसे भक्त

* सम = शम ।

महान तप-द्वारा भक्ति करके सगुण राम से उनके समान पुत्र पाने का वरदान पाकर, बल्कि उनको नर-रूप में पुत्र पाकर भी पूर्ण क्षेम-कल्याण नहीं प्राप्त कर सके। यह बात राजा दशरथ और वसुदेव की कथाओं से भली भाँति प्रमाणित है। फिर इन्हीं राजाओं और पाण्डव आदि की कथाओं से यह बात पूर्ण रूप के स्पष्ट है कि सगुण राम को पुत्र, मित्र आदि रूप में पाकर और उनके साथ वर्षों रहने पर भी मोह-रहित होकर परम ज्ञान को प्राप्त नहीं होता है। इसी हेतु श्रीकृष्ण भगवान ने अपने पिता वसुदेवजी को नारदजी से ज्ञानोपदेश कराया था और अपने चाचा अक्रूरजी को हिमालय में जाकर तप करने को कहा था (देखिए भागवत), फिर कागभुशुण्डि कहने लगे कि इस काग-शरीर से मुझे भक्ति प्राप्त हुई है। इस कारण मुझे यह शरीर प्यारा है। क्योंकि-

***सोरठा*–पन्नगारि असि नीति, स्त्रुति सम्मत सज्जन कहहिं ।**
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परम हित ॥ १३१॥

हे गरुड़जी ! सज्जन लोग वेद के मत से ऐसी नीति कहते हैं कि अपना परम हित जानकर नीच से भी प्रीति करनी चाहिए।

[परमानन्द-दायक प्रभु की भक्ति में लगना परम हितकर है। दुराचारी पुरुष, चाहे वह किसी जाति का हो, नीच है। डोम, चमार आदि वर्णों में गिने जाते हैं, परन्तु वे सब-के-सब नीच नहीं हैं। नीच वर्णों में भी उच्च चरित्र के पुरुष होते हैं। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के द्वारा उनके यज्ञ में काशी से वाल्मीकि डोम को सादर निमन्त्रित कर भोजन कराकर यज्ञ पूर्ण करवाया। परम भक्तिमती राजकुमारी मीराबाई ने अपना परम हित जानकर रविदास को, जो जाति के चमार थे, गुरु धारण किया और भक्तमाल के कर्त्ता डोम जाति के नाभाजी की मान्यता इसी विचार से स्वीकार की जाती है।]

***सोरठा*–पाट कीट ते होइ, तेहि तैं पाटम्बर रुचिर ।**
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥ १३२॥

रेशम कीड़े से होता है, उससे सुन्दर रेशमी कपड़े बनते हैं। इसी से परम अपवित्र उस कीड़े को सब कोई प्राण के समान पालते हैं।

स्वारथ साँच जीव कहँ एहा।
मन क्रम बचन राम पद नेहा ॥ ७९३॥

जीव का सच्चा स्वार्थ यह है कि मन, वचन और कर्म से राम-पद में प्रेम हो।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।
जो तन पाइ भजइ रघुबीरा ॥ ७९४॥

वही पवित्र और सुन्दर शरीरवाला है, जो शरीर पाकर राम को भजे।

राम-बिमुख लहि बिधि सम देही।
कबि कोबिद न प्रसंसहि तेही ॥ ७९५॥

राम से विमुख रहकर ब्रह्मा के समान शरीर क्यों न मिले, कवि और पण्डित उसकी बड़ाई नहीं करते हैं।

तजउँ न तन निज इच्छा मरना।
तन बिनु बेद भजन नहिं बरना ॥ ७९६॥

मरना अपनी इच्छा पर है, इसलिए शरीर नहीं छोड़ता हूँ। वेद कहते हैं कि बिना शरीर के भजन नहीं हो सकता है।

नाना जनम करम पुनि नाना।
किये जोग जप तप मख दाना ॥ ७९७॥✡

मैंने अनेक जन्मों में विभिन्न प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ और दान आदि कर्म किए।

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं।
मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ॥ ७९८॥✡

हे गरुड़जी ! संसार में ऐसी कौन-सी योनि है, जिसमें मैंने भटकते हुए जन्म न लिया हो।

देखउ सब करि करम गोसाईं।
सुखी न भयउँ अबहिँ की नाईं ॥ ७९९॥✡

हे गुसाईं ! मैंने सभी कर्म करके देख लिए, पर मैं अभी (इस जन्म) की तरह कभी सुखी नहीं हुआ।

[योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होता है (दे० चौ० सं०

४११)। भक्ति का भी अन्तिम फल मोक्ष ही है। चौ० सं० ४५० से छन्द ५ पर्यन्त पढ़िए। उससे विदित होगा कि शवरी (जिसको स्वयं भगवान ने चौ० सं० ४६३ में भक्ति में सब प्रकार से पूर्ण कहा है) हरि-पद में लीन हुई, जहाँ से कोई भी संसार में नहीं लौटता है। इसी वर्णित लीनता को मोक्ष कहते हैं। इससे भिन्न दूसरे प्रकार का मोक्ष काल्पनिक वा कथन-मात्र है, सत्य नहीं है। और 'अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने ॥' इस चौ० को पढ़कर मोक्ष-रस से और कोई विशेष हितकर रस है, ऐसा समझना निरा बालकपन है। इसका वर्णन आगे उचित स्थान पर दिया गया है। अब यदि कागभुशुण्डि अपने पूर्व जन्मों में सुखी नहीं हुए थे, तो इसका सत्य-सत्य कारण यही है कि उन जन्मों में वे योगभ्यास में उन्नति नहीं कर सके थे, जिससे योग का फल ज्ञान और ज्ञान का फल मोक्ष उनको प्राप्त होता और फलतः वे सुखी हो जाते। चौ० ७९७ से ७९९ तक में वर्णित लेखों को पढ़कर यह फल नहीं निकाल लेना चाहिए कि योग से सुख नहीं होता है; क्योंकि ऐसा करना रामचरितमानस व भागवतादि पुराणों के नितान्त विरुद्ध होगा। भक्ति-मार्ग में मनुष्यों के चित्त को अत्यन्त आकर्षित करने के हेतु चौ० सं० ७९७-७९९ तक में तथा अन्यत्र भी इसी भाँति की वार्त्ता का कवि ने वर्णन किया है।]

अब कागभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म की कथा कहने लगे कि हे गरुड़जी ! पूर्व एक कल्प के कलियुग में मैं एक बार अयोध्यापुरी में दम्भी और धनी शूद्र था। कलि के प्रभाव से चारो वर्णों के मनुष्य अपने-अपने धर्मों से गिरे हुए थे और-

गुरु सिख बधिर अन्ध कर लेखा ।
एक न सुनइ एक नहिँ देखा ॥८००॥

गुरु और चेलों का हिसाब अन्धे और बहरे का-सा है। एक देखता नहीं और एक सुनता नहीं है।

हरइ सिष्य धन सोक न हरई ।
सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥८०१॥

जो शिष्य के धन को हरता है, पर उसके शोक (भव-शोक)

को नहीं हरता है, वह गुरु घोर नरक में पड़ता है।

हे गरुड़जी ! कलियुग में भी अनेक गुण हैं, इन्हें भी सुनिए–

_दोहा_–कृत जुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग ।*
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम तें पावइ लोग ॥ १३३॥✡

सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में पूजा, यज्ञ और योग से लोगों की जो गति होती है, वह गति कलियुग में हरि-नाम (-भजन) से लोग पाते हैं।

कृत जुग सब जोगी बिग्यानी ।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥८०१क॥✡

सत्ययुग में सभी योगी और विज्ञानी होते हैं। हरि का ध्यान करके वे संसार-सागर से तर जाते हैं।

त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं ।
प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं ॥८०१ख॥✡

त्रेता में मानव अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और सभी कर्म प्रभु को समर्पण करके भवसागर से पार हो जाते हैं।

द्वापर करि रघुपति पद पूजा ।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥८०१ग॥✡

द्वापर में श्रीरामजी के चरणों की पूजा करके मानव संसार- सागर से पार हो जाते हैं; दूसरा उपाय नहीं है।

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा ।
गावत नर पावहिं भव थाहा ॥८०१घ॥✡

कलियुग में केवल हरि-नाम का गुण-गान करने से मनुष्य भव-सागर की थाह पा जाते हैं।

---

* और पद्मपुराण में इस प्रकार है–

तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञान कर्म च ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

अर्थ–विद्वान पुरुष सत्ययुग में तप की प्रशंसा करते हैं और त्रेता में ज्ञान तथा उसके सहायक कर्म की, द्वापर में यज्ञ को ही उत्तम बतलाते हैं; किन्तु कलियुग में एकमात्र दान को ही को श्रेष्ठ माना गया है।

इससे विदित होता है कि युगधर्म के विषय में सबका एक मत नहीं है।

नित जुग धर्म होहिँ सब केरे।
हृदय राम माया के प्रेरे ॥८०२॥

युगों के धर्म नित्य ही राम की माया की प्रेरणा से सबके हृदय में होते हैं।

सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना।
कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥८०३॥

जब शुद्ध सात्त्विक भाव, समता, विज्ञान और मन प्रसन्न हो, तब सत्ययुग का प्रभाव जानना चाहिए।

सत्त्व बहुत रज कछु रति करमा।
सब बिधि सुख त्रेता कर धरमा ॥८०४॥

सत्त्वगुण बहुत, रजोगुण थोड़ा, कर्मों (यज्ञादि कर्मों) में प्रीति और सब प्रकार से सुखी रहना त्रेता युग का धर्म है।

बहु रज सत्व स्वल्प कछु तामस।
द्वापर धर्म हरष भय मानस ॥ ८०५॥

रजोगुण बहुत, सत्त्वगुण थोड़ा, कुछ तमोगुण और मन में हर्ष-भय होना द्वापर युग का धर्म है।

तामस बहुत रजोगुण थोरा।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥८०६॥

तमोगुण बहुत, रजोगुण थोड़ा और चारों ओर (सब बातों में) विरोध-ही-विरोध जान पड़ना कलियुग का प्रभाव है।

बुध जुग धरम जानि मन माहीं।
तजि अधर्म रत धर्म कराहीं ॥८०७॥

बुद्धिमान युगों का धर्म मन में जान अधर्म को छोड़ धर्म से प्रीति करते हैं।

काल धरम नहिं ब्यापहिँ ताही।
रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥८०८॥

काल का धर्म उसे नहीं व्यापता है, जिसको राम के चरणों में अत्यन्त प्रीति है। (पाठान्तर-'कलि अधर्म नहिं व्यापै ताही।')

[चारो युग-काल के पृथक्-पृथक् चार विभाग हैं। इनके धर्मों को काल-धर्म कहते हैं। कहे गए काल-धर्मों में जो खोटे

हैं, वे परम प्रभु राम के प्रेमी को नहीं व्यापते। चौ० ८०८ का यही आशय है। चौ० ८०२ से ८०८ तक को खूब याद रखिए और इस विचार को मन से निकाल दीजिए कि योग-ध्यानादि काल-धर्म के अनुसार अब कलिकाल में नहीं हो सकेंगे। देखिए, इसी कलिकाल में महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, कबीर साहब, नानक साहब और गो० तुलसीदासजी आदि बहुत-से ज्ञानी, योगी, परम भक्त, सन्त आदि हुए हैं। अतएव इस विचार को पकड़े रहना और फैलाना कि कलिकाल में योग-ध्यानादि नहीं हो सकते, आलसी, प्रमादी और राक्षसी प्रकृति के लोगों का काम है।]

नट कृत कपट बिकट खगराया।
नट सेवकहिँ न ब्यापइ माया ॥८०९॥

हे पक्षीराज ! नट का किया हुआ विकट छल उसके सेवक (खेलनेवाले) को नहीं छल सकता है।

[राम नट हैं। उनकी विविधता उनका छल वा माया है। उनके सच्चे सेवक को यह छल नहीं व्यापता है।]

***दोहा*—हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिँ।**
भजिय राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माहिँ ॥१३४॥

हरि की माया के किए हुए दोष-गुण बिना हरि-भजन के नहीं जाते, ऐसा मन में विचारकर सब कामनाओं को छोड़कर राम को भजिए।

अब कागभुशुण्डि अपनी कथा इस तरह कहने लगे कि—मैं कलिकाल में बहुत वर्षों तक अयोध्यापुरी में रहा। एक बार दुकाल पड़ने पर वहाँ से मैं उज्जयिनी चला गया। कुछ काल पीछे वहाँ मुझे बहुत सम्पत्ति प्राप्त हो गई। मैंने वहाँ शैव पवित्र ब्राह्मण को अपना गुरु बनाया और कपट-युक्त होकर उनकी सेवा करने लगा। गुरु ने मुझे शिव-मन्त्र दिया। वे तो मुझे सदा सुबोध देते थे, पर मैं उनसे द्रोह करता था।

जेहि तेँ नीच बड़ाई पावा।
सो प्रथमहिँ हठि ताहि नसावा ॥८१०॥

नीच पुरुष जिससे बड़ाई पाते हैं, हठ (निश्चय) करके

पहले उसी का नाश करते हैं।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा।
बुध नहिँ करहिँ अधम कर संगा॥८११॥

हे गरुड़! सुनिए, इस प्रसंग को समझकर बुद्धिमान नीचों का संग नहीं करते हैं।

कबि कोबिद गावहिँ अस नीती।
खल सन कलह न भल नहिँ प्रीती॥८१२॥

कवि और पण्डित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्टों के साथ झगड़ा और प्रीति; दोनों अच्छे नहीं होते।

उदासीन नित रहिय गुसाईं।
खल परिहरि स्वान की नाईं॥८१३॥

हे गोसाईं! नित्य उदासीन भाव से रहिए और दुष्टों से वैर और प्रीति; दोनों छोड़कर उन्हें कुत्ते के समान जानकर त्याग दीजिए।

***दोहा*—एक बार हर मन्दिर, जपत रहेउँ सिव नाम।**
गुरु आयउ अभिमान तेँ, उठि नहिँ कीन्ह प्रनाम॥१३५॥

एक बार मैं शिवजी के मन्दिर में शिव-नाम जपता था। उसी समय गुरुजी आए। मैंने अभिमान से उठकर उनको प्रणाम नहीं किया।

***दोहा*—सो दयाल नहिँ कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।**
अति अघ गुरु अपमानता, सहि नहिँ सके महेस॥१३६॥

परन्तु वे (गुरुजी) बड़े दयालु थे, कुछ नहीं बोले। उनके हृदय में कुछ क्रोध नहीं था, परन्तु गुरु के अपमान करने का महापाप शिवजी न सह सके।

[गुरु-उपासना से बढ़कर दूसरी उपासना नहीं है।]

मन्दिर में शिवजी की वाणी हुई—'रे अभागा, अज्ञानी, अभिमानी! मुझे नीति के विरुद्ध (आचरण) नहीं सुहाता है। यदि मैं तुझे दण्ड न दूँ, तो मेरा वेद-मार्ग भ्रष्ट होगा।'

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं।
रौरव नरक कोटि युग परहीं॥८१४॥

जो मूर्ख, गुरु से ईर्ष्या करते हैं (गुरु की बढ़ती नहीं सह सकते हैं), वे करोड़ों युगों तक रौरव नरक में पड़ते हैं।

त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा।
अयुत जनम भरि पावहिँ पीरा ॥८१५॥

फिर वे तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी आदि की योनि) में शरीर धारण करते हैं और दस हजार जन्मों तक दुःख पाते हैं।

अरे पापी ! तू गुरु को देखकर अजगर की तरह बैठा रह गया, इसलिए तू सर्प होकर एक बड़े वृक्ष के खोढ़र में अधोगति पाकर रह। शिवजी का शाप सुन, मुझे काँपता हुआ देखकर गुरु महाराज ने हाहाकार किया और शिवजी को दण्डवत् कर हाथ जोड़ प्रेम-सहित विनती करने लगे–

नमामीशमीशान निर्वाण रूपम्,
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्।
निजं (अजं) निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्,
चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम् ॥
निराकारमोंकार मूलं तुरीयम्,
गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशम्।
करालं महाकाल कालं कृपालम्,
गुणागार संसार पारं नतोऽहम् ॥
प्रचण्डं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशम्,
अखण्डं अजं भानु कोटि प्रकाशम्।
कलातीत कल्याण कल्पान्तकारी,
सदा सज्जनानन्द दाता पुरारी ॥
चिदानन्द सन्दोह मोहापहारी,
प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी ॥१०॥

अर्थ–मोक्ष-स्वरूप स्वामी शिवजी को प्रणाम करता हूँ, जो समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेद-स्वरूप हैं। स्वयं प्रकट होनेवाले, गुणों से रहित, भेद-रहित, इच्छा-रहित, चैतन्य, आकाश-रूप और आकाश में बसनेवाले को मैं भजता हूँ। रूप-रहित, ओंकार

के मूल, तुरीय-रूप, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे, ईश्वर, कैलाश के स्वामी, कठोर, महाकाल के भी काल; कृपालु गुणों के भण्डार, संसार के लगाव से अलग शिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ। तेजस्वी, सर्वोत्तम, ढीठ (निर्भय), श्रेष्ठ स्वामी, अखण्ड, अजन्मा, करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवान, कलाओं से परे, कल्याण और कल्पान्त (कल्प का नाश) करनेवाले, सदा सज्जनों को आनन्द देनेवाले, पुर राक्षस के शत्रु, चैतन्य-रूप, आनन्द के समूह, अज्ञान को हरनेवाले, प्रभो शिवजी ! मुझ पर प्रसन्न हों।

गुरुजी की विनती सुन मन्दिर में से फिर आकाश-वाणी हुई कि हे ब्राह्मण ! वर माँगो । गुरुजी ने प्रार्थना की कि हे शिव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे अपनी भक्ति दीजिए। फिर दूसरा वर यह दीजिए कि यह मेरा शिष्य, जिसे आपने शाप दिया है, शाप से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाय और इसका परम कल्याण हो। आकाशवाणी द्वारा शिवजी ने फिर आज्ञा की कि हे ब्राह्मण ! यद्यपि इसने कठिन पाप किया है, तो भी तुम्हारी प्रार्थना से इस पर विशेष कृपा करूँगा। हे ब्राह्मण ! यह एक हजार वर्षों तक शाप भोगेगा। जनमने और मरने में जीवों को जो दुःसह दुःख होता है, सो इसे कुछ नहीं होगा। और मेरे प्रति वाणी हुई कि हे शूद्र ! जा तेरा ज्ञान किसी जन्म में भी नहीं मिटेगा, तेरे हृदय में राम-भक्ति उपजेगी और–

सुनु मम बचन सत्य अब भाई।
हरि तोषन ब्रत द्विज सेवकाई ॥८१६॥

हे भाई ! मेरा सत्य वचन सुन कि हरि को सन्तुष्ट करने का व्रत द्विज की सेवा करनी है।

अब जनि करहि बिप्र अपमाना।
जानहु सन्त अनन्त समाना ॥८१७॥

अब ब्राह्मण का अपमान नहीं करना, सन्तों को अन्त-रहित सर्वेश्वर के समान जानना।

मेरा एक विशेष आशीर्वाद यह है कि तू जहाँ चाहेगा, वहाँ चला जाएगा, तेरी गति कहीं नहीं रुकेगी। शिवजी के वचन

सुन गुरुजी ने कहा कि ऐसा ही हो। मैं काल की प्रेरणा से विन्ध्याचल में जाकर साँप हो गया। थोड़े ही काल में साँप का शरीर छोड़ने पर अनेक शरीरों को पाया और छोड़ा। मैं देव और मनुष्य आदि का जो शरीर धारण करता, सबमें राम-भजन करता। अन्त में मनुष्य-योनि में ब्राह्मण का शरीर मिला। मुझे माता-पिता पढ़ाकर थक गए, पर मैंने पढ़ा नहीं। केवल राम में मेरा लव लग गया। माता-पिता के मर जाने पर मैं राम-भजन करने को जंगल में चला गया। वहाँ मुनीश्वरों के पास जाकर हरि का यश सुनता फिरा।

जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई ।
ईस्वर सर्ब भूतमय अहई ॥ ८१८॥

मैं जिस मुनि से पूछता था, वे ही ऐसा कहते थे कि ईश्वर सब जीवों में हैं।

निर्गुन मत नहिँ मोहि सुहाई ।
सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई ॥ ८१९॥

निर्गुण मत मुझे नहीं सुहाता था, सगुण ब्रह्म की प्रीति हृदय में अधिक थी।

[अभी कागभुशुण्डि होनेवाले यह ब्राह्मण ज्ञान और भक्ति आदि में पूर्ण हुए नहीं हैं, केवल जिज्ञासु ही हैं। यदि निर्गुण मत इनको नहीं सुहाता था, तो जानना चाहिए कि यह इनकी अल्पज्ञता थी, इसलिए इनके इस समय के ज्ञानाधार पर निर्गुण सिद्धान्त को तुच्छ और अनुपयोगी जानना घोर मूर्खता है। कागभुशुण्डि होकर जब ये पूर्ण हुए हैं, उस समय का इनका ज्ञान निर्गुण मत को किस विशेषता से महत्त्व देता है और सगुण को भ्रमोत्पादक बतलाता है, यह दो० सं० १४४ को पढ़कर जानिए। चौ० ८१८ से और इसके आगे चलकर लोमश मुनि ने जो ज्ञानोपदेश किया है, उससे प्रकट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में निर्गुण मत का विशेष प्रचार था। जिस किसी से ईश्वर-विषयक प्रश्न किया जाता था, वह निर्गुण स्वरूप ही बतलाता था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि भारत में

जबसे अज्ञानता और अन्धविश्वास विशेष रूप से व्यापा है, तभी से ब्रह्म के केवल सगुण रूपवाले सगुण मत का विशेष प्रचार हुआ है। यदि यह अनुमान ठीक न हो तो कहना-पड़ेगा कि जिस काल में कागभुशुण्डि होनेवाले ब्राह्मण ईश्वर-विषयक जिज्ञासा करते- फिरते थे, वह काल बड़ा अज्ञान का था। और लोमश-सहित वे मुनिगण, जो उनको (कागभुशुण्डि को) निर्गुण मत बतलाते थे, इस समय के सगुण मत वालों से अल्पज्ञ थे।]

फिर कागभुशुण्डि कहने लगे कि हे गरुड़ ! मैं फिरता-फिरता लोमश मुनि के आश्रम में गया और उनको प्रणाम किया। मुझे नम्र देखकर उन्होंने पूछा कि कहाँ आए हो ? मैंने कहा—हे कृपानिधान, सर्वज्ञ सुजान, भगवान ! आप मुझे सगुण ब्रह्म की आराधना कहिए। तब उन्होंने मुझे पहले तो थोड़ी-सी रघुपति—रामजी की कथा आदरपूर्वक कही। फिर वह ब्रह्मज्ञान में रत विज्ञानी मुनि मुझे परम अधिकारी जान ब्रह्मोपदेश करने लगे—

लागे करन ब्रह्म उपदेसा।
अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥८२०॥

उपदेश करने लगे कि ब्रह्म, सर्वेश्वर, अजन्मा, भेद-रहित, निर्गुण, हृदय का स्वामी,

अकल अनीह अनाम अरूपा।
अनुभव* गम्य अखंड अनूपा॥८२१॥

पूर्ण, इच्छाहीन, नामहीन, रूपहीन, अखण्ड, उपमा-रहित, अनुभव से जानने योग्य,

मन गोतीत अमल अबिनासी।
निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥८२२॥

मन और इन्द्रियों से परे, निर्मल, नाश-रहित, निर्दोष असीम और सुख-पुंज है।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥८२३॥

वेद कहते हैं कि तू वही (ब्रह्म) है, जल और जल की

* समाधि में प्राप्त ज्ञान।

तरंग के समान उसमें और तुझमें भेद नहीं है।

मुनि ने मुझे बहुत तरह से समझाया, पर निर्गुण मत को मेरा हृदय धारण न कर सका। फिर मैंने सिर नवाकर कहा कि हे मुनीश ! सगुण ब्रह्म की आराधना कहिए।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा ।
तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥८२४॥

अवधेश राम का नेत्र–भर दर्शन करके तब निर्गुण उपदेश सुनूँगा।

[कागभुशुण्डि होनेवाले ब्राह्मण लोमश मुनि के द्वारा किए गए ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप और अद्वैतवाद–निरूपण को मिथ्या और कनिष्ठ नहीं मानते हैं, पर वे कहते हैं कि सगुण ब्रह्म का सुन्दर रूप अनूप जल है और मेरा मन उसमें की मछली है। सो मेरा मन उससे अलग होते ही प्राण निकलने पर हो जाता है। मैं पहले सगुण रूप का दर्शन करके फिर निर्गुण–उपदेश सुनूँगा। तात्पर्य यह कि काग होनेवाले ब्राह्मण रूप–विषय में आसक्त हैं। रूप देखकर जुड़ाये बिना उससे हट नहीं सकते हैं। विषयासक्ति हटे बिना ब्रह्मोपदेश कैसे अच्छा लगेगा? सगुण स्थूल और निर्गुण सूक्ष्म है। उस ब्राह्मण का कहना है कि मैं अभी सूक्ष्म ज्ञान ग्रहण करने योग्य नहीं हुआ हूँ। स्थूल ज्ञान (सगुण मत) ग्रहण करने के पीछे सूक्ष्म ज्ञान (निर्गुण मत) ग्रहण करूँगा। इस प्रकार कथा लिखकर कवि ने दिखलाया है कि पहले मोटा ज्ञान ग्रहण करो, पीछे सूक्ष्म ज्ञान ग्रहण करने योग्य होओगे।

चौ० सं० ८२४ को पढ़कर यह परिणाम निकालना कि सगुणोपदेश सुनने के पहले निर्गुणोपदेश सुनने का महत्त्व तुच्छ–गौण है, मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं है; क्योंकि यह सिद्धान्त कवि को मान्य होता तो दो० सं० ११० से ११४ तक निर्गुण मत, निर्गुण स्वरूप–प्राप्ति की सुगमता और सगुण रूप की नटवत् लीला की तरह असत्यता एवं भ्रमोत्पादकता का उपदेश कागभुशुण्डि से ही नहीं कराते और न स्वयं अपनी ओर से चौ० सं० १६ में ब्रह्म–विचार के प्रचार को सरस्वती की धारा कहकर बड़ाई करते। इसी प्रकार शिवजी से भी चौ० सं० १६८ से १८९ तक निर्गुण मत और

माया-मिथ्यात्ववाद का निरूपण नहीं कराते।]

फिर मुनिजी ने थोड़ी-सी अनुपम हरि-कथा कहकर और सगुण मत का खण्डन करके निर्गुण मत का निरूपण किया। तब मैं बहुत हठ करके निर्गुण मत को हटाकर सगुण मत का निरूपण करने लगा।

[अपनी अल्पज्ञता के कारण सत्य विचार का निरूपण करना काग होनेवाले ब्राह्मण के लिए असम्भव था। इसलिए उस समय लोमश मुनि के सामने अपनी हठीली बातों के अतिरिक्त वह ब्राह्मण कुछ न कह सके होंगे। विज्ञानी लोमश मुनि के ब्रह्म-निरूपण का खण्डन युक्ति-पूर्ण बातों से न कर सके होंगे। भला एक विज्ञानी के आगे एक अल्पज्ञ की युक्तियाँ कहाँ तक ठहर सकी होंगी ! हाँ, अयुक्त एवं निरर्थक बातें कहकर अपनी बातों को ऊँचा बनाए रखने के लिए हठ करते जाना अवश्य ही उसके लिए सहज बात हुई होगी।]

मैंने बहुत-से उत्तर-प्रत्युत्तर किए। इससे मुनि के शरीर में क्रोध का चिह्न उपजा।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये।
उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये ॥८२५॥

हे प्रभु ! सुनिए, बहुत अनादर करने से ज्ञानियों के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

अति संघरषन जौं कर कोई।
अनल प्रगट चन्दन तें होई ॥८२६॥

यदि कोई अत्यन्त रगड़े, तो चन्दन से भी आग निकलती है। मुनि बारम्बार क्रोध करके ज्ञान का निरूपण करने लगे। तब मैं बैठकर अनुमान करने लगा-

***दोहा*-क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।**
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ॥१३७॥

क्या द्वैत-बुद्धि के बिना क्रोध हो सकता है ? और क्या बिना अज्ञान के द्वैत हो सकता है ? (कभी नहीं) क्या माया के अधीन अंश-रूप मूर्ख जीव ईश्वर के समान हो सकता है ? (कभी नहीं)।

[ज्ञान का होना अर्थात् अज्ञान का नाश होना रामचरितमानस को मान्य है (दे० चौ० ४११)। अज्ञान के ही कारण द्वैत बुद्धि होती है, तब अज्ञान मिटने–ज्ञान होने से द्वैत बुद्धि नहीं रहेगी। द्वैत बुद्धि नाश होने से जीव और ईश में निर्भेदता होती है और तब परिच्छिन्नता–अंश-रूपता और माया-वश्यता भी रहने नहीं पा सकती। चौ० सं० ८२३ में तो स्पष्ट ही ब्रह्म-जीव का निर्भेद ज्ञान है और माया-मिथ्यात्ववाद रामचरितमानस को मान्य है। यह दो० सं० २७ और ११० तथा चौ० सं० १४५, १४६ और १८२ को पढ़कर देखिए। माया-मिथ्यात्ववाद मानने पर जीव-ब्रह्म की निर्भेदता माने बिना गति नहीं। यह तो ज्ञानमार्ग का निर्णय है। और यही निर्णय भक्ति-मार्ग से रामचरितमानस को मान्य है। (चौ सं० २८६ को पढ़कर जानिए।) इस दोहे (सं० १३७) को पढ़कर यह सिद्धान्त निकालना कि जीव और ईश की निर्भेदता रामचरितमानस को मान्य नहीं है, बड़ी भयंकर भूल है।]

कबहुँ कि दुःख सब कर हित ताके ।
तेहि कि दरिद्र परस मनि जाके ॥८२७॥

क्या उसको कभी दुःख हो सकता है, जो सबकी भलाई देखता है ? क्या उसको दरिद्रता आ सकती है, जिसके पास पारस मणि है ? (कदापि नहीं।)

पर द्रोही कि होहिं निसंका ।
कामी पुनि कि रहहिँ अकलंका ॥८२८॥

क्या दूसरों से वैर करनेवाले निडर रह सकते हैं ? फिर क्या कामी पुरुष निष्कलंक रह सकते हैं ? (कदापि नहीं।)

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे ।
कर्म कि होहिँ स्वरूपहिँ चीन्हे ॥८२९॥

क्या द्विज की बुराई करने से वंश रह सकता है? अपना रूप (वह ईश्वर मैं ही हूँ) पहचान लेने पर क्या कर्म (बन्धन-प्रद कर्म) हो सकता हैं ? (कभी नहीं।)

[योगी पुरुष योगाभ्यास करके अपने अन्तर में सूक्ष्म और

कारणादि दूसरे शरीरों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार अपने अन्तर के एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने को भी दूसरा जन्म कह सकते हैं। इसलिए योगी विलक्षण द्विज कहला सकते हैं। इनका अनहित करनेवाले का भला होना सम्भव नहीं है। जिस अभ्यासी की गति अहंपद को पार कर क्रम से बुद्धि-पद और साम्यावस्थाधारिणी प्रकृति मण्डल से परे होती है, वही पूरा आत्मदर्शी-स्वरूप का पहचाननेवाला है। ऐसे पुरुष ने प्रकृति-मण्डल को जीत लिया है। प्रकृति इसके अधीन हो गई, इसके चलाए चलेगी। इसी कारण प्रकृति-जनित कर्म ऐसे पुरुष को बन्धनप्रद नहीं हो सकते हैं।

काहू सुमति कि खल सँग जामी।
सुभ गति पाव कि परत्रियगामी ॥८३०॥

क्या किसी को दुष्ट के संग में सुबुद्धि हुई है ? क्या व्यभिचारी अच्छी गति पाता है ? (अर्थात् नहीं)

भव कि परहिँ परमात्मा बिन्दक।
सुखी कि होहिँ कबहुँ परनिन्दक ॥८३१॥

क्या परमात्मा के जाननेवाले संसार में (आवागमन में) गिर सकते हैं ? क्या दूसरे की निन्दा करनेवाले कभी सुखी हो सकते हैं ? (कभी नहीं।)

राज कि रहइ नीति बिनु जाने।
अघ कि रहहिँ हरि चरित बखाने ॥८३२॥

क्या बिना नीति जाने राज्य रह सकता है ? क्या हरि-चरित्र का वर्णन करने से पाप रह सकता है ?

पावन जस कि पुन्य बिनु होई।
बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ॥८३३॥

क्या बिना पुण्य के पवित्र यश होता है ? क्या बिना पाप के कोई कलंक पाता है ? (कभी नहीं।)

लाभ कि कछु हरि भगति समाना।
जेहि गावहिँ श्रुति सन्त पुराना ॥८३४॥

जिस हरि-भक्ति का गुण-गान, वेद, पुराण और सन्तजन करते हैं, उसकी प्राप्ति के समान क्या कुछ लाभ है? (नहीं)

हानि कि जग एहि सम किछु भाई।
भजिय न रामहिँ नरतनु पाई ॥८३५॥

हे भाई! क्या इसके समान कुछ हानि है कि मनुष्य का शरीर पाकर राम को नहीं भजते? (कोई नहीं)

अघ कि पिसुनता सम कछु आना।
धर्म कि दया सरिस हरिजाना ॥८३६॥

हे गरुड़जी! क्या चुगलखोरी के समान दूसरा पाप है और दया के समान दूसरा धर्म है? (कोई नहीं)।

इसी तरह मैं लोमश मुनि के उपदेश को आदर न देता हुआ मन में बहुत-सी बातें गुनने लगा। मैंने बारम्बार सगुण पक्ष का निरूपण किया। तब मुनि क्रोध से बोले—'हे मूढ़! मैं तुझे अत्युत्तम उपदेश देता हूँ; पर तू मानता नहीं है और बहुतेरे उत्तर-प्रत्युत्तर करता है। सत्य वचन में विश्वास नहीं करता और काग की तरह सब किसी से डरता है। तेरे मन में अपने पक्ष का प्रबल हठ है। तू अति शीघ्र काग पक्षी हो जा।' मैंने मुनि के शाप को सिर चढ़ा लिया। मुझे न डर हुआ और न दीनता आई। मैं तुरत काग हो गया। फिर मुनिजी के चरणों में सिर नवा कर आनन्दित हो उड़ चला। इतनी कथा सुनाकर महादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं कि—

***दोहा*—उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।**
निज प्रभुमय देखहिँ जगत, केहि सन करहिँ बिरोध ॥१३८॥

हे उमा! जो काम, मद और क्रोध से रहित होकर राम के चरणों में लगे हुए हैं, वे संसार को निज प्रभुमय देखते हैं, फिर विरोध किससे करें?

[दो० १३८ में वर्णित दिव्य बुद्धि यदि काग-शरीर प्राप्त ब्राह्मण को पहले ही से होती, तो लोमश मुनि से उसका मतभेद ही नहीं होता। काग-शरीर हो जाने पर अब लोमश मुनि उसके गुरु

होंगे, उसे राम का मन्त्र देंगे और सगुण बालक-रूप राम का ध्यान बतलाएँगे। यदि मन्त्र और ध्यान का उपदेश पाने और उसके साधन के पूर्व ही वह जगत को निज प्रभुमय देखता तो लोमशजी के दिये मन्त्र और ध्यान-युक्ति को धारण करना उसके लिए परम अनावश्यक था। उक्त दोहे में वर्णित ज्ञान, भक्ति की परमावधि है, आदि वा मध्य नहीं। कविजी ने लोमश के क्रोध तथा ब्राह्मण की सहनशीलता की कथा और इस दोहे को लिखकर दरसाया है कि अल्प भक्ति की महिमा ज्ञान-विज्ञान की महिमा से कहीं बढ़कर है। लोमश मुनि की क्रोध वाली यह कथा भक्ति-पक्ष में अत्यन्त रोचक है, पर ज्ञान-विज्ञान की महिमा को मिट्टी में मिला देती है। आरम्भ ही में रामचरितमानस को मान्य है कि ज्ञानी भक्त प्रभु को और सब भक्तों से विशेष प्यारे हैं (दे० चौ० सं० ९८)। लोमशजी अवश्य ज्ञानी भक्त हैं, नहीं तो राम-उपासना का मन्त्र और ध्यान कागभुशुण्डि को कैसे बताते ? उनका क्रोध साधारण मनुष्य के क्रोध के समान नहीं है। इनके समान पहुँचे हुए महात्मा क्रोधादि विकारों को स्व-अधीन रखकर दूसरों को कुछ लाभ पहुँचाने के निमित्त ही (उन विकारों का) प्रकाश करते हैं। उस ब्राह्मण ने शूद्र-देह में गुरु-अपमान के कारण शिवजी से शाप पाया था और चौ० सं० ८१६, ८१७ में वर्णित आज्ञा शिवजी ने उसे दे दी थी कि विप्र का अपमान न करना। इसकी परवाह न करके लोमश मुनि की अवज्ञा कर अनादर किया और इस प्रकार शिवाज्ञा-भंग का अपराध उसने किया, अतएव इसका दण्ड पाना उसके लिए आवश्यक था। इस मुख्य कारण को गुप्त रखकर लोमश मुनि ने उसे शाप दिया। इस शाप से वह ब्राह्मण काग तो हुआ, पर इससे उसका बड़ा उपकार हुआ। 'गरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट। अन्तर हाथ सहार दे, बाहर वाहै चोट ॥' काग-देह पाने पर कागभुशुण्डिजी को भय और दीनता नहीं हुए; क्योंकि पूर्व जन्म में शूद्र-देह में गुरु-कृपा से शिवजी से आशीर्वाद पा चुके थे कि 'किसी देह में तेरा ज्ञान भंग न होगा और तेरे हृदय में राम-भक्ति जमेगी।' इसी कारण पहले जन्मों से

ही राम-भक्ति का अंकुर उग रहा था, पर लोमश मुनि के समान गुरु प्राप्त नहीं होने के कारण भक्ति का साधन पूरा नहीं हुआ था। पहले के जन्मों की सब घटनाओं का ज्ञान कागभुशुण्डिजी को था ही और उन्हें यह आशा भी पूरी थी कि किसी भी देह में मेरा ज्ञान नहीं मिटेगा। तब काग वा किसी भी शरीर को पाने का शाप पाकर उनका अभय और अदीन बना रहना कोई बड़ी बात नहीं हुई। शूद्र-तन में कागभुशुण्डि ने गुरु का अपमान किया था, पर गुरु ने उन पर दया दिखाई थी; उसी का परिणाम समझना चाहिए कि काग-शरीर होने का शाप पाकर भी वे भीत और दीन नहीं हुए। अतएव गुरु-कृपा धन्य है, कागभुशुण्डि भी इसलिए धन्य हैं कि पूर्व जन्म में उन्हें भले गुरु मिले थे और इस बार तो लोमशजी जैसे गुरु पाकर अत्यन्त धन्य हो गए। 'तीन लोक नौ खण्ड में, गुरु तें बड़ा न कोइ। करता करै न करि सकै, गुरु करै सो होइ॥'–कबीर साहब]

हे गरुड़जी ! ऋषि लोमशजी की कुछ भूल नहीं थी। भगवान ने उनकी मति फेरकर मेरी प्रेम-परीक्षा ली थी। पर भगवान ने उनकी बुद्धि फिर पलट दी। ऋषि ने मेरी सहनशीलता, राम-चरण पर मन, कर्म और वचन से प्रगाढ़ भक्ति और अटल विश्वास देखकर विस्मययुक्त हो बारम्बार पछतावा करके मुझे बुलाया और बहुत कुछ समझाकर मुझे सन्तुष्ट किया। फिर आनन्दित हो मुझे राम का मन्त्र देकर राम के बालक रूप का ध्यान करने कहा। मुनि ने कुछ काल तक मुझे अपने पास रखकर रामचरितमानस कह सुनाया और बोले कि–

राम भगति जिन्हके उर नाहीं।
कबहुँ न तात कहिय तिन पाहीं॥८३७॥✡

हे तात ! जिनके हृदय में श्रीरामजी की भक्ति नहीं है, उनके सामने इसे कभी भी नहीं कहना चाहिए।

[जबकि स्वयं लोमशजी चौ० सं० ८३७ में वर्णित आज्ञा दूसरों के लिए देते हैं, तो यह मानना क्योंकर सम्भव है कि वे स्वयं ही भक्त न थे ? मेरे विचार में वे भक्त-शिरोमणि थे; क्योंकि वे

ज्ञानी भक्त थे। जो लोग उनके ज्ञान और भक्ति की महिमा को कागभुशुण्डि के ज्ञान और भक्ति की महिमा से ओछी जानते हैं, वे परम मूर्ख हैं।]

मुनि ने मुझे बहुत प्रकार से समझाया। मैंने उनके चरणों पर सिर नवाया। उन्होंने आनंदित हो मेरे मस्तक को अपने हाथों से छूकर आशीष दिया कि–

राम भगति अबिरल उर तोरे।
बसहिँ सदा प्रसाद अब मोरे ॥८३८॥*

अब मेरी कृपा से तेरे हृदय में सतत राम-भक्ति बसेगी।

***दोहा*–सदा राम प्रिय होब तुम्ह, सुभ गुन भवन अमान।**
काम रूप इच्छा मरन, ज्ञान बिराग निधान ॥१३९॥*

तुम सदा श्रीरामजी को प्रिय होओ और सद्गुणों के धाम, मान-रहित, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, इच्छामृत्यु एवं ज्ञान-वैराग्य के भंडार होओ।

***दोहा*–जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवन्त।**
ब्यापिहिँ तहँ न अबिद्या, जोजन एक प्रजन्त ॥१४०॥*

इसके अतिरिक्त, भगवान को स्मरण करते हुए तुम जिस आश्रम में निवास करोगे, वहाँ एक योजन तक अविद्या (-माया) नहीं व्यापेगी।

काल करम गुन दोष सुभाऊ।
कछु दुख तुम्हहिँ न ब्यापहिँ काऊ ॥८३९॥*

काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव से उत्पन्न कोई दुःख तुमको नहीं व्यापेगा।

राम रहस्य ललित बिधि नाना।
गुप्त प्रगट इतिहास पुराना ॥८४०॥*

अनेकों प्रकार के श्रीराम के सुन्दर रहस्य, जो इतिहास और पुराणों में गुप्त या प्रकट हैं।

बिनु स्त्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।
नित नव नेह राम पद होऊ ॥८४१॥*

तुम उन सबको बिना परिश्रम के जान जाओगे और श्रीरामजी के चरणों में तुम्हारा नित्य नया प्रेम होगा।

सुनि मुनि आसिष सुनु मति धीरा।
ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा ॥८४२॥✡

हे धीरबुद्धि (गरुड़जी) ! सुनिए, मुनि का आशीर्वाद सुनकर आकाश में गम्भीर ईश्वरीय वाणी (आकाशवाणी) हुई।

एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी।
यह मम भगत करम मन बानी ॥८४३॥✡

हे ज्ञानी मुनि ! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो। यह मन, वचन और कर्म से मेरा भक्त है।

काम-रूप = जैसा रूप बनाने की इच्छा हो, वैसा बन जाना। इच्छा-मरन = बिना अपनी इच्छा के कभी न मरना।

[चौ० सं० ८४३ की वाणी अवश्य ही कागभुशुण्डि के इष्ट राम भगवान की है। इसीलिए 'यह मम भगत' वाणी में कहा गया है। कागभुशुण्डि को उनके गुरु लोमश मुनि ने अमोघ आशिष देकर परम कल्याणकारी-परम सुखदायी सब कुछ दे दिया। प्रथम काग होने का शाप दिया था, तो अब इच्छानुसार रूप ग्रहण करने का आशीर्वाद भी दिया। ठीक है 'सतगुरु सब कुछ दीन्ह, देत कछु ना रहेउ।' (कबीर साहब)। फिर भगवान ने आकाशवाणी द्वारा 'एवमस्तु' कहकर मुनिजी के दिए आशीर्वाद को अमोघ कर दिया। अब कागभुशुण्डि को कुछ पाने को नहीं रह गया। अब यदि कोई आशीर्वाद इनको किसी से मिले तो वह इसके (उपर्युक्त आशीर्वाद के) अन्तर्गत ही होगा। तब जानना चाहिए कि चौ० सं० ७४६, ७४७ और दो० सं० ११७ में वर्णित जो वरदान श्रीराम भगवान से कागभुशुण्डि को मिले हैं, वे तो गुरु लोमश मुनि की कृपा से उनको पूर्व ही प्राप्त थे। जो कुछ गुरु देंगे, वही राम दे सकेंगे और जो कुछ गुरु न देंगे, सो राम कभी नहीं दे सकते हैं। 'गुरु देवैं तासों अधिक, राम सकैं नहिं देइ। मूर्ख बिगाड़ै आपनी, गुरु तजि रामहिं सेइ ॥ गुरु रुचि स्वीकृत राम को, जानहु बारम्बार। जो गुरु रुचि देवन नहीं, कभी न दें करतार ॥']

कागभुशुण्डिजी फिर अपनी कथा कहने लगे—मैं आकाशवाणी सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर मैंने महर्षि लोमशजी की विनती की। बारम्बार प्रणाम करके उनके चरण-कमलों पर अपना मस्तक बारम्बार रखा। फिर मैं उनकी आज्ञा पा, अत्यानन्दित हो इस आश्रम पर आकर रहने लगा। हे गरुड़जी ! मुझे यहाँ रहते २७ (सत्ताइस) कल्प बीत चुके हैं। भक्ति-पक्ष में हठ करने के कारण महर्षि ने मुझे शाप तो दिया था, पर फिर उन्होंने ही मुझे दुर्लभ वर भी दिया। यह भगवान का प्रताप है। अतएव—

जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ज्ञान हेतु स्त्रम करहीं॥८४४॥

जो ऐसी भक्ति को जानकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञान के लिए परिश्रम करते हैं।

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी।
खोजत आक फिरहिं पय लागी॥८४५॥

वे मूर्ख घर में कामधेनु त्यागकर दूध के लिए आक ढूँढ़ते-फिरते हैं।

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई।
जो सुख चाहहि आन उपाई॥८४६॥

हे गरुड़ ! सुनिए, जो हरि-भक्ति को छोड़कर दूसरे उपाय से सुख चाहते हैं,

ते सठ महा सिन्धु बिनु तरनी।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥८४७॥

वे मूर्ख महासागर को बिना नाव के अपनी जड़ करनी से तैरकर पार होना चाहते हैं।

[भक्ति-रहित ज्ञान रामचरितमानस को मान्य तो है, पर भक्ति-सहित ज्ञान उसे परम मान्य है (दे० चौ० सं० १०८)।

आगे चलकर बतलाया जाएगा कि भक्ति-मणि पाने के हेतु ज्ञान और विराग के नेत्रों से खोज करने की परम आवश्यकता है।]

शिवजी पार्वतीजी से कहते हैं कि कागभुशुण्डि की सब कथा सुनकर गरुड़ ने फिर उनसे पूछा—

कहहिँ सन्त मुनि बेद पुराना।
नहिँ कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥८४८॥

वेद, पुराण, सन्त और मुनि कहते हैं कि ज्ञान के समान दुर्लभ और कुछ नहीं है। वही ज्ञान लोमशजी ने आपसे कहा था, पर आपने उसका आदर नहीं किया और भक्ति के लिए हठ किया। सो ज्ञान और भक्ति में क्या अन्तर है, मुझे समझाकर कहिए। कागभुशुण्डि कहने लगे–

भगतिहि ज्ञानहि नहिँ कछु भेदा।
उभय हरहिँ भव सम्भव खेदा॥८४९॥

भक्ति और ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों संसार से उत्पन्न क्लेशों को नष्ट करते हैं।

['ब्रह्म और जीव में भेद नहीं है'–यह सिद्धान्त लोमश मुनि का है (दे० चौ० सं० ८२३)। इसी ज्ञान को कागभुशुण्डि ने अपने पूर्व शरीर (ब्राह्मण-शरीर) में लोमश मुनि से सुना था। यदि यह सिद्धान्त असत्य तथा खण्डनीय होता, तो चौ० सं० ८४९ में ऐसा नहीं कहा जाता कि ज्ञान से मोक्ष होता है। अतएव यह निश्चय करके जानना चाहिए कि ब्रह्म और जीव के अभेदपने को रामचरितमानस कभी खण्डनीय नहीं मानता है।]

फिर भी मुनि लोग कुछ अन्तर कहते हैं, सो आप सावधान होकर सुनिए–

ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना।
ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥८५०॥

हे गरुड़जी ! ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान-ये सब पुरुष वर्ग हैं।

पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती।
अबला अबल सहज जड़ जाती॥८५१॥

पुरुष का तेज सब प्रकार बलवान होता है, स्त्री स्वभाव ही से मूर्ख जाति की निर्बल होती है।

***दोहा*–पुरुष त्याग सक नारिहि, जो बिरक्त मतिधीर।**
न तु कामी जो बिषय बस, बिमुख जो पद रघुबीर॥१४१॥

वह पुरुष स्त्री को त्याग सकता है, जो वैराग्यवान और धीर बुद्धि का होता है, परन्तु वह नहीं त्याग सकता है, जो विषय के अधीन और राम के चरणों से विमुख होता है।

***सोरठा*–जो मुनि ज्ञान निधान, मृगनयनी बिधु-मुख निरखि।**
बिकल होहिँ हरि जान, नारि बिस्व माया प्रगट ॥ १४२॥

हे गरुड़ ! वह ज्ञान के निधान मुनि क्यों न हो, मृगलोचनी और चन्द्रमुखी स्त्री को देखकर विकल हो जाता है। स्त्री संसार में प्रत्यक्ष माया है।

[विरक्त, तीन गुण-त्यागी–त्रयगुणातीत अर्थात् निर्गुण तत्त्व में लीन को कहते हैं (दे० चौ० सं० ४१०)। ऐसे ही पुरुष की बुद्धि धीर वा स्थिर होती है। सो० सं० ४२, चौ० सं० ७२४, ७२५ और ७२६ आदि में रघुवीर राम के जिस स्वरूप का वर्णन है, वह यही त्रयगुणातीत पद है और यही राम का माया-रहित सत्य स्वरूप है और भक्तों को सुलभ भी है (दे० दोहा सं० ११४)। जिसको रघुवर राम के इस सत्य स्वरूप में प्रेम नहीं है, उसे रघुवर के सत्य स्वरूप से विमुख ही जानो। जो रघुवर के केवल नराकृति अति सुन्दर अनूप रूप में, जो राम-द्वारा नटवत् धारित (दे० दो० सं० १११) और मुनि-मन-भ्रमोत्पादक है–(दे० दो० सं० ११४) प्रेम रखते हैं, जानना चाहिए कि उनका प्रेम राम के माया-रूप ही में है; क्योंकि माया-रूप को पार करके राम के ऊपर वर्णित सत्य स्वरूप में इनकी आसक्ति वा प्रेम नहीं है। इस हेतु इनकी भक्ति पूरी नहीं कही जा सकती। और इसी कारण माया इनको नाच नचाती रहती है। सुग्रीव और विभीषण रघुवर रामजी के भक्त थे, पर तो भी क्रमशः तारा और मन्दोदरी के मृग-लोचन एवं विधुमुख को देखकर विकल हो गए और पाप में लिप्त हुए। (जेहि अघ बधेउ ब्याध इव बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली ॥ सोइ करतूति बिभीषण केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥ प्रथम सोपान-बालकाण्ड)। सुग्रीव और विभीषण के विकारी हृदयों का ख्याल श्रीराम ने अपनी अति उदारता से उन पर मैत्री भाव के कारण नहीं किया। इसीलिए उनका हृदय निष्पाप हो गया, ऐसा

नहीं कहा गया है। किसी को यह नहीं विचारना चाहिए कि विकारी हृदयवाले की ऊर्ध्वगति होती है और परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति उसको होती है। परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति के बिना न तो भक्ति पूरी होती है और न भक्त का परम कल्याण होता है। सगुण-साकार ईश्वर-रूप को भी प्रत्यक्ष में पाकर उनको प्रभु और मित्र जानते हुए भी हृदय के विकार विभीषण और सुग्रीव के तथा राजा दशरथ के भी हृदय के विकार दूर नहीं हुए थे। इसीलिए तो भगवान में वात्सल्य भाव रखते हुए, उनको प्रत्यक्ष पाए हुए श्री राजा दशरथ के लिए गो० तुलसीदासजी ऐसे राम-भक्त को भी लिखना पड़ा–'सुरपति बसइ बाँहु बल जाके। नरपति सकल रहहिँ रुख ताके॥ सो सुनि तिय रिस गयेउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रति नाथ सुमन सर मारे॥' और सुग्रीव और विभीषण के लिए गोस्वामीजी को ऊपर लिखित चौपाइयाँ लिखनी पड़ीं। इस प्रकार के अधूरे भक्तों की बहुत-सी कथाएँ हैं, जो ग्रन्थ बढ़ने के भय से नहीं लिखी जाती हैं। इन बातों के लिखने का तात्पर्य यह है कि अधूरे भक्त मृगनयनी-विधुमुखी को देखकर व्याकुल हो जाते हैं; पर जो विरक्त और धीरमति हैं, वे व्याकुल नहीं होते हैं (दे० दोहा १४१-१४२)। रघुवीर पद (राम के वर्णित सत् पद) से विमुख कामी और विषय-वश को ही 'ज्ञान-निधान मुनि' कहा गया है। (दे० दोहा सं० १४१-१४२)। ऐसे ज्ञानी को 'ज्ञान-निधान' कहना, मुनि के लिए व्यंग्य वा ताना मारना है। भला ऐसे लोग भी 'ज्ञान-निधान मुनि' होते हैं ? 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥ षट रस बहु प्रकार व्यंजन कोउ दिन अरु रैन बखानै। बिनु बोले सन्तोष जनित सुख खाइ सोई पै जानै॥' (विनय-पत्रिका)। ऐसे कथन से कवि का कहना है कि विरक्त और मतिधीर ज्ञानी (अनुभव-प्राप्त ज्ञानी) रघुवर-राम-पद के सत्स्वरूप के पक्के भक्त होते हैं। वे मृगनयनी–विधुमुखी को देखकर व्याकुल नहीं होते हैं। पर विषय-आसक्त अस्थिर बुद्धिवाले, अनुभव-शून्य,

रघुवर राम के पद से विमुख (केवल वाक्य-ज्ञान-निपुण) 'ज्ञान-निधान मुनि' (परम अधूरे ज्ञानी) मृगनयनी-विधुमुखी को देखकर व्याकुल हो जाते हैं। चाहे अधूरे ज्ञानी हों, चाहे अधूरे भक्ति हों, वे माया से मोहित अवश्य होंगे। जो पूरा भक्त है, वही पूरा ज्ञानी है और जो पूरा ज्ञानी है, वही पूरा भक्त है। इनमें अन्तर यही है कि भक्त प्रथम इष्ट को अपने से भिन्न मानकर उनकी उपासना भक्ति-योग की रीति (जो तृतीय सोपान में नवधा भक्ति के नाम से वर्णित है।) से करके उपास्यदेव के सत्स्वरूप वा आत्मस्वरूप को प्राप्त करके पूर्ण होता है; पर ज्ञानी वेदान्त-द्वारा आत्म-अनात्म विचारकर आत्म-चिन्तन करता हुआ योगाभ्यास करके सत्य स्वरूप आत्म-राम को प्राप्त कर लेता है। दोनों एक ही लड्डू और एक ही स्वाद पाते हैं, पर अधूरेपन में दोनों को माया सताती रहती है। अब यह विचारना है कि स्त्री संसार में प्रत्यक्ष माया रूप है। यह इस हेतु कहा गया है कि स्त्री को देखकर पुरुष का ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है और माया को स्त्री-रूप जानने के कारण ही उसे आगे चलकर स्त्री वर्ग बताया जाएगा। इससे यह बात भी निकलती है कि यदि स्त्री को देखकर पुरुष मोहित नहीं होता, तो उसको प्रत्यक्ष माया नहीं कहा जाता और न माया स्त्री वर्ग में गिनी जाती। 'इसीलिए स्त्री प्रत्यक्ष माया-रूप पुरुषों के लिए है, स्त्रियों के लिए नहीं। स्त्रियों के लिए तो पुरुष ही प्रत्यक्ष माया-रूप है; क्योंकि स्त्री पुरुष को देखकर अति व्याकुल हो जाती है (दे० चौ० सं० ४२३, ४२४)। अतएव स्त्रियों की तरफ से तो माया को पुरुष वर्ग में रखना चाहिए।' यथार्थ में स्त्री, पुरुष, नपुंसक, सुन्दर, असुन्दर और इन्द्रिय-गम्य मात्र माया के प्रत्यक्ष रूप हैं। यहाँ पुरुषों के बीच संवाद है, इसी हेतु कविजी ने माया का वर्णन उपर्युक्त रीति से किया।]

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं ।
बेद पुरान सन्त मत भाखौं ॥८५२॥

यहाँ कुछ पक्षपात न रखकर वेद, पुराण और सन्तों का मत कहता हूँ।

[शब्द 'यहाँ' कहने का तात्पर्य भक्ति और ज्ञान में अन्तर

बतलाने के प्रसंग से है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि इस प्रसंग के अतिरिक्त रामचरितमानस में वर्णित दूसरे प्रसंगों में कविजी ने पक्षपात से काम लिया है ? इसका उत्तर 'हाँ' है। कविजी ने अपने किए पक्षपात को इसलिए स्वीकार किया है कि लोग प्रत्येक प्रसंग को निष्पक्षतापूर्ण और सत्य-सत्य मानकर भूल में न पड़ जाएँ। बुद्धिमान निष्पक्ष और सत्य प्रसंग को चुनकर आप भूल से बचें और दूसरों को बचावें। गो० तुलसीदासजी केवल महाकवि ही नहीं, सन्त महाकवि हैं। काव्य की सुन्दरता के हेतु, उसे सर्वप्रिय बनाने के हेतु कविजी को पक्षपात किए बिना रहा न गया और सन्त के सरल, पर-हित-निरत स्वभाव से अपने किये पक्षपात को स्वीकार किए बिना भी रहा नहीं गया।]

मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥८५३॥

हे गरुड़जी ! यह अनुपम रीति है कि स्त्री स्त्री के रूप पर (काम भाव से) मोहित नहीं होती है।

माया भगति सुनहु तुम दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ॥८५४॥

हे गरुड़जी ! आप सुनिए, माया और भक्ति, दानों स्त्री वर्ग है, इसे सब कोई जानते हैं।

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बेचारी ॥८५५॥

फिर राम को भक्ति प्यारी है और माया बेचारी तो निश्चय ही नाचनेवाली नटिन है।

[नर्तकी = नटिन = वेश बना-बनाकर नाच-नाचकर मोहित करनेवाली। गो० तुलसीदासजी ने माया को यह अति उत्तम उपमा दी है। श्रीसीताजी महारानी तथा श्रीपार्वतीजी को रामचरितमानस में माया कहकर वर्णित किया गया है। सन्त कबीर साहब ने भी माया का कितना खरा और सुन्दर वर्णन किया है। शब्द–'माया महा ठगनी मैं जानी। तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥ केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी।

पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी ॥ जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी। काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू की कौड़ी कानी ॥ भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी। कहै कबीर सुनो हो सन्तो, यह सब अकथ कहानी ॥']

भगतिहि सानुकूल रघुराया।
तातें तेहि डरपति अति माया ॥८५६॥

भक्ति पर राम प्रसन्न होते हैं, इसी से माया उससे बहुत डरती है।

राम भगति निरुपम निरुपाधी।
बसइ जासु उर सदा अबाधी ॥८५७॥

अनुपम, उपद्रव-रहित, अखण्ड राम-भक्ति जिसके हृदय में सदा बसती है।

तेहि बिलोकि माया सकुचाई।
करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥८५८॥

उसको देखकर माया सकुचाती है। उस पर अपनी प्रभुता कुछ नहीं कर सकती है।

[माया उस भक्त से डरती है, जिसकी भक्ति का वर्णन चौ० सं० ८५७ में है और उस पर कुछ भी प्रभुता नहीं रखती है; परन्तु वह दूसरे प्रकार की भक्तिवाले भक्तों से नहीं डरती है और उस पर अपनी प्रभुता करती है। अब जानना चाहिए कि चौ० सं० ८५७ में वर्णित निरुपम, निरुपाधि भक्ति किस भक्ति को कहेंगे ? भ्रमोत्पादक सगुण रूप (दे० दोहा सं० ११४) की भक्ति निरुपाधि नहीं कही जा सकती; क्योंकि जिस रूप में भ्रम उत्पन्न करने का स्वभाव ही है, वह तो भ्रम उत्पन्न करके भक्ति में विघ्न कर ही देगा। कागभुशुण्डिजी गरुड़जी तथा अन्य अनेकों को सगुण रूप के कारण भ्रम उत्पन्न हुआ था। भक्ति भ्रमोत्पादक सगुण रूप के सहारे ही आरम्भ होकर स्थूल-सूक्ष्म क्रम से बहुत दूर तक जाती है (वह क्रम दो० सं० ११३ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़ लीजिए।) दूसरी बात यह है कि विषय-प्राप्ति की कामना लेकर जो भक्ति की जाएगी, उसमें तो विषय कामना-रूप

विघ्न मौजूद ही है; क्योंकि आगे चलकर रामचरितमानस में विषय की आशा को दुर्बलता और विषय को भक्ति-रूप औषधि के सेवन में कुपथ्य कहा गया है (देखिए चौ० सं० ९१७, ९१८ और ९२३)। फिर ऐसी भक्ति भी निरुपाधि नहीं कही जा सकती। अतएव भ्रमोत्पादक रूप में लगे रहने की अवधि-पर्यन्त की भक्ति और विषय-कामना-युक्त भक्ति निरुपाधि भक्ति नहीं कहला सकती, उसे अनुपम कहना निरर्थक है। अतएव भक्ति-योग के साधन से विषय की कल्पनाओं को हटाकर राम के निर्भ्रान्त निर्गुण स्वरूप (दे० चौ० सं० ७२७) में रत होना ही निरुपम निरुपाधि राम-भक्ति है। यह भक्ति जिसके हृदय में सदा निर्विघ्न बसती है, उससे माया डरती है, न कि जो रघुराज राम के सगुण रूप का भक्त है, उससे माया डरती है। यदि कहा जाय कि रघुराज राम सगुण-भक्ति-उपासक पर ही कृपालु रहते हैं और इस जगह निर्गुण स्वरूपवाले प्रसंग को मिलाने की आवश्यकता नहीं है, तो इसके उत्तर में सुनिए-

स्वायम्भुव मनु और शतरूपा यद्यपि भगवान के निर्गुण रूप को भी जानते थे, पर वे उनके सगुण रूप ही के प्रेमी थे। इन दोनों ने अपार तप करके मनोवांछित सगुण रूप के दर्शन प्राप्त किए थे। वे उनके निर्गुण रूप में रत न थे और न उस रूप की प्राप्ति उन्हें हुई थी। रूप का धारण तो भगवान की माया भर है (दे० दो० सं० ११२)। स्वायम्भुव मनु और शतरूपा ने यथार्थ में माया ही की चाहना की और उसे ही प्राप्त किया। इसलिए कहना पड़ता है कि ये दानों माया के ही भक्त थे। फल यह हुआ कि माया उनसे डरी नहीं, बल्कि उसने उन्हें मोहित कर लिया। माया से माहित होने के कारण भगवान के अनूप रूप को देखकर इच्छाधीन हो सगुण भगवान की तरह इन दोनों ने पुत्र की इच्छा की [इच्छा के रहते कोई स्वप्न में भी सुख नहीं पा सकता। दे० चौ० सं० ७७०]। सगुण भगवान ने कहा-'मैं अपना-सा कहाँ खोजूँ ? मैं स्वयं तुम्हारा पुत्र होऊँगा।' अब तुम मेरी आज्ञा को मानकर सुरपति-राजधानी (स्वर्ग) को जाओ और वहाँ विशाल विषय-भोग करके

फिर इस धरती पर अयोध्या के राजा (दशरथ) होओगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा।' रामचरितमानस मानता है कि सेवक-सेव्य भाव के बिना भवसागर तरा नहीं जा सकता (दे० दो० सं० १४३)। स्वायम्भुव मनु और शतरूपा ने तथा इन्हीं के समान अन्य कई भक्तों ने सेवक-सेव्य भाव के बदले पिता-पुत्र होने का विलक्षण वरदान प्राप्त किया। भगवान उनके पुत्र बनकर उनको पूज्य मानकर नम्रतापूर्वक उनके चरणों को छूकर प्रणाम करते होंगे। उनकी यथोचित सेवा करते और आज्ञाओं का पालन करते होंगे। स्वायम्भुव मनु और शतरूपा कुछ काल तक अपने आश्रम में रह अन्त समय प्राप्त होने पर शरीर छोड़कर भगवान की आज्ञानुसार स्वर्ग में जा विराजे। रामचरितमानस में इसकी कथा यहीं तक है। अब आगे जैसी आज्ञा भगवान की है, उसके अनुसार वे कुछ काल स्वर्ग में रह वहाँ के विशाल विषय-भोगों को भोगे होंगे। वहाँ से फिर इस नर-लोक में अवतरित होकर अवध-भुआल (राजा दशरथ) हुए होंगे, शिकार खेलने के व्यसन में पड़कर निर्दोष श्रवण मुनि को हाथी समझकर मारे होंगे और पुत्र-शोक में मरने के कारण उसके पिता से शाप पाए होंगे। वाल्मीकि रामायण के अनुसार तीन सौ तीन स्त्रियों से विवाह करके रानी कैकेई की तरह की स्त्रियों के अधीन हो, उनसे डरते होंगे (जैसा कि रामचरितमानस में लिखा है–चौ०–'कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुँड़ परइ न पाऊ॥ सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥ सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रति नाथ सुमन सर मारे॥ सभय नरेश प्रिया पहिँ गयउ। देखि दसा दारुन दुख भयऊ॥)' पुत्र-हीन होने के अवसर में–पुत्राभाव में ग्लानि हुई ही होगी। (रामचरितमानस, प्रथम सोपान, चौ०–एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरे सुत नाहीं॥) और ऐसे कितने ही माया-चक्रों में फेरे खाते हुए अन्त में दारुण पुत्र-शोक से शरीर छोड़कर फिर स्वर्ग गए होंगे कि जहाँ से एक बार लौट आकर यहाँ नर-लोक में अवतार ले कथित यातनाओं को पाए होंगे। इन

बातों को विचार करके देखिए, केवल सगुण रूप के भक्त भगवान के पिता तक से माया नहीं डरी और उसने उन्हें मोहित करके सब नाच नचाया। प्रथम (स्वायम्भुव मनुवाला) शरीर छोड़कर भगवान की आज्ञा के अनुसार स्वर्ग में गए होंगे। रामचरितमानस के मतानुसार मनुष्य होकर स्वर्ग का पाना, उसके लिये बड़ी हानि की बात है (दे० चौ० सं० ६५५ से ६५७ तक)।

स्वर्ग के राजा को विषयरूप सूखा हाड़ चबानेवाला कुत्ता, निर्लज्ज और वहाँ के वासी देवगणों को सदा स्वार्थी कहा गया है (दे० दो० सं० २९, सोरठा ५४, चौ० ३८० से ३८२ तक) 'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिँ जनु पारमारथी॥'

रामचरितमानस कहता है कि ऐसे संग से तो नरक ही भला है (बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥) क्योंकि यहाँ के राजा व्यभिचारी और अन्य निवासी स्वार्थी हैं, अतएव ये दुष्ट हैं, फिर दुष्टों के बीच बसनेवाले को शान्ति कहाँ और फिर शान्ति के बिना सुख कहाँ? फिर जो ऐसी जगह रहने को दे, उससे उपकार ही क्या हुआ? और जो ऐसी जगह को पसन्द करे, उसे विचार-शून्य क्यों न माना जाय? कहा है-'नरतन दुर्लभ देव को, सब कोइ कहत पुकार॥ सब कोइ कहत पुकार, देव देही नहिँ पावैं। ऐसे मूरख लोग स्वर्ग की आस लगावैं॥ पुन्य छीन सोइ देव, स्वर्ग से नरक में आवैं। भरमें चारों खान, पुन्य कहि ताहि रिझावैं॥ तुलसी सत मत तत गहे, स्वर्ग पर करे खखार॥ नरतन दुर्लभ देव को सब कोइ कहत पुकार॥' (हाथरस-वाले तुलसी साहब)

रामचरितमानस के अनुसार कश्यप और अदिति भी राजा दशरथ और रानी कौशल्या होकर भगवान के माता-पिता होते हैं। सो इनकी दशा भी स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की तरह जान लेनी चाहिए। और विशेष बात यह हुई कि पूर्व जन्म में जो ब्राह्मण थे, कठोर तप का फल भगवान के सगुण रूप का दर्शन करके भी उनको क्षत्रिय-कुल में जन्म ग्रहण करना पड़ा अर्थात् उच्च पद से नीच पद पर आना पड़ा। पाण्डवगण पत्नी सहित

कृष्ण भगवान के बड़े भक्त थे। यद्यपि भगवान ने भी द्रौपदी का वस्त्र बढ़ाकर सभा में उसकी लाज रखी, पाण्डवों को जंगल में दुर्वासा के शाप से बचाया, पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में बड़ी सहायता की, महाभारत में अर्जुन का सारथी बनकर उसे जिता दिया, विराट रूप का दर्शन दिया, गीता का अनुपम उपदेश सुनाया और भी अनेक उपकार पाण्डवों के किए, तथापि पाण्डवों को इस लोक में अनेक कष्ट हुए। वे माया से माहित होते ही रहे और कर्मानुसार नरक भोगकर बड़ा पुरस्कार केवल स्वर्ग ही पाया। ऐसी अनेक कथाएँ हैं, कहाँ तक लिखी जायँ ? शिव, नारद, गरुड़ और कागभुशुण्डि आदि यद्यपि रामचरितमानस के अनुसार सगुण रूप भगवान के बड़े भक्त हैं, तथापि ये लोग बारम्बार माया से मोहितमति हुए हैं। यदि कहिए कि भक्तों को अविद्या-माया नहीं व्यापती है—प्रभु-प्रेरित विद्या-माया ही व्यापती है, तो इस पर प्रश्न होगा कि विद्या-माया की प्रेरणा भगवान भक्तों पर क्यों करते हैं ?

उत्तर मिलेगा—'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥ संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना ॥' इत्यादि। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब भक्तों को अभिमान होता है, तब भगवान उस पर विद्या-माया को प्रेरण करके उसके अभिमान को दूर कर देते हैं। फिर प्रश्न होगा कि अभिमान अविद्या माया से होता है (दे० चौ० ४०७) और जबकि भक्तों को अभिमान होता है, तो उन पर अवश्य अविद्या-माया की प्रभुता है, सो ऐसी प्रभुता भक्तों पर क्यों होती है ? चौ० सं० ८५४, ८५६ के अनुसार अभिमान-रूप अविद्या-माया भक्तों से डरकर हटी क्यों नहीं रहती है ? दोनों माया-विद्या और अविद्या का वर्णन मिलाकर समझने पर इसका उत्तर अवश्य यही होगा कि चौ० सं० ८५७ में जैसी भक्ति का वर्णन है, वैसी भक्ति नहीं प्राप्त करने के कारण ही माया नहीं हटती है।

ऊपर के कथन से जाना गया कि केवल सगुण रूप की भक्ति करने के कारण भगवान के पिता भी माया को प्रबलता में पड़े बिना न रहे, तो फिर आशा कैसे की जाए कि निर्गुण स्वरूप

में अरत-रत रहे बिना, केवल सगुण रूप में ही रत प्राणी पर माया की प्रभुता कुछ न होगी ? सारांश यह कि ऐसे भक्त की भक्ति अधूरी है, माया के उपद्रव से रहित नहीं है। और यह बात पहले दिखाई जा चुकी है कि निर्गुण रूप निर्भ्रान्त है। इसमें रत होना ही राम की निरुपम-निरुपाधि भक्ति है। ऐसी भक्ति से माया डरती है। अतएव जबतक सर्वोच्च भक्ति (भक्ति को बढ़ाते हुए निर्गुण स्वरूप में रत होना) न की जाय, तबतक चौ० सं० ८५७ में वर्णित निरुपम-निरुपाधि भक्ति को और चौ० सं० ८५८ में वर्णित उसके प्रभाव को कोई नहीं पा सकता है। इसी कारण इसकी बड़ी आवश्यकता है कि निर्गुण स्वरूपवाले प्रसंग के साथ मिलाकर पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाए। चार प्रकार के राम-भक्तों में ज्ञानी भक्त राम को विशेष प्यारे हैं (दे० चौ० सं० ९७)। ज्ञानी भक्त का लक्षण चौ० सं० ९२-९३ में यही दिया हुआ है कि वे योगी होते हैं, ब्रह्म-स्वरूप 'अकथ अनामय नाम न रूपा' के अनुपम सुख का अनुभव करते और वैराग्य-द्वारा विरंचि के प्रपंच के त्यागी होते हैं। 'अकथ अनामय नाम न रूपा' ब्रह्म-स्वरूप ही तो राम का निर्गुण स्वरूप है न ? फिर जो भक्ति-द्वारा उपर्युक्त अनुपम सुख पाते हैं, उन्हीं की भक्ति निरुपम और निरुपाधि होगी न ? अब तो स्पष्ट रूप से यह सिद्ध हो गया न, कि चौ० सं० ९२, ९३ में राम के जिस स्वरूप की, जिस भक्ति का वर्णन है, उसी स्वरूप और उसी भक्ति का वर्णन चौ० सं० ८५७ में भी किया गया है ? जबतक भक्ति इस दर्जे तक न पहुँचेगी, वह निस्सन्देह अधूरी रहेगी और राम को विशेष प्यारी न होगी। फलतः माया उससे न डरेगी; बल्कि माया ऐसे भक्त को नाच-नचाकर पद-दलित करेगी ।]

अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी।
जाँचहिँ भगति सकल सुख खानी ।।८५९।।

ऐसा विचारकर जो मननशील और सुबोध हैं, वे सब सुखों की खान भक्ति की याचना करते हैं।

[पूर्ण अनुभव और पूर्ण समता-प्राप्त अर्थात् पूर्ण विज्ञानी को भक्ति प्राप्त ही रहती है। उन्हें कुछ पाने की न इच्छा रहती है और न कुछ पाने को शेष ही रहता है। वे तो 'ब्रह्म सुखहि

अनुभवहि अनूपा।' अर्थात् अनुपम ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं। वे सर्वोच्च भक्त प्रभु को विशेष प्यारे होते हैं। (दे० चौ० सं० ९२, ९३) जैसे शवरी ने भगवान से कुछ नहीं जाँचा। चौ० सं० ८५९ में 'जाँचहिं भगति' के लिखने से जान पड़ता है कि ऐसे विज्ञानी को यथार्थ विज्ञानी नहीं कहा गया है। इसलिए यहाँ पर 'विज्ञानी' का अर्थ सुबोध लिखा गया है। जब भक्ति, राम के निर्गुण स्वरूप तक पहुँच जाती है, तभी वह सब सुख-खान होती है।]

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
सन्त पुरान निगम आगम बद ॥८६०॥

कैवल्य (चेतन-आत्मा की जड़-विहीनता) परम पद की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा सन्त, पुराण, वेद और शास्त्र कहते हैं।

राम भजत सोइ मुकति गोसाईं।
अन इच्छित आवइ बरिआईं ॥८६१॥

हे प्रभो ! वही मुक्ति (कैवल्य पद) राम का भजन करने से बिना इच्छा के बलपूर्वक आप-से-आप आ जाती है।

[राम-भक्ति से भी कैवल्य परम पद की प्राप्ति होती है। चौ० सं० २८६ का भी यही तात्पर्य है।]

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥८६२॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकई हरि भगति बिहाई ॥८६३॥

जैसे बिना धरती के जल नहीं रह सकता है, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे। हे गरुड़जी ! सुनिए, उसी प्रकार हरि-भक्ति को छोड़कर मोक्ष-सुख दूसरी जगह रह नहीं सकता।

अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लोभाने ॥८६४॥

ऐसा विचारकर चतुर हरि-भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति में लुभाए रहते हैं।

[चौ० सं० ८६१ से ८६४ तक के वर्णनानुसार भक्ति

करने से निस्सन्देह मुक्ति हो जाएगी। इस हेतु भक्ति करना ही मुक्ति का आदर करना है। जिस भक्ति से मोक्ष न हो, उसको पूरी भक्ति नहीं जानना चाहिए। जो मुक्ति का आदर करना न चाहे, उसे चाहिए कि भक्ति या मोक्ष प्राप्त करने का कोई साधन नहीं करे।]

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अबिद्या नासा॥८६५॥

भक्ति करते ही बिना यत्न और परिश्रम के संसार की जड़ अविद्या-माया का नाश हो जाता है।

भोजन करिय तृप्ति हित लागी।
जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥८६६॥

भोजन सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। वह (भोजन) ऐसा हो कि उसे पेट की अग्नि पचा सके।

[तात्पर्य यह है कि जो भोजन पचे नहीं, उससे रोग होता है। इसी तरह मोक्ष-रूपी भूख शान्त करने के लिए ज्ञान-रूपी भोजन किया जाता है; पर यह भोजन सुपाच्य नहीं है। अतएव कष्टकर है। किन्तु भक्ति-रूपी भोजन सुपाच्य होने से वह सुख से पचेगा और उससे मोक्ष-रूपी भूख की तृप्ति होगी। अर्थात् भक्ति का साधन सुगमता से होगा, अतएव भक्ति करते-करते ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।]

असि हरि भगति सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥८६७॥

(जैसे सुपाच्य भोजन सहज में ही पचकर सुखदायी होता है) ऐसे ही हरि-भक्ति सहज में साधी जा सकने योग्य और सुखवाली है, कौन ऐसा मूढ़ है, जिसे वह अच्छी नहीं लगेगी ?

***दोहा*–सेवक सेब्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।**
भजहु राम-पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥१४३॥

हे गरुड़जी ! सेवक-सेव्य भाव के बिना संसार-सागर से पार नहीं मिलता, ऐसा सिद्धान्त विचारकर राम के चरण-कमल का भजन करो।

[सेवक-सेव्य भाव = अपने को सेवक और ईश्वर को

सेव्य जानने का भाव। यद्यपि भक्ति के वात्सल्य, सख्यादि कई भाव हैं, तथापि रामचरितमानस में केवल सेवक-सेव्य भाव को ही मोक्षदायक और उत्तम माना गया है। रामचरितमानस में यद्यपि गुह निषाद, सुग्रीव और विभीषण को राम-सखा कहा गया है, तथापि गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम को इन सखाओं के मुख से प्रभु ही कहलाया है; जैसे-

गुहनिषाद-'पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।' (द्वितीय सोपान)

सुग्रीव- 'कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी ॥' (चतुर्थ सोपान)

विभीषण-'नाथ न रथ नहिं तनु पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥' (षष्ठ सोपान)

***दोहा*-जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य ।**
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहि जीव ते धन्य ॥ १४४॥

जो चेतन को जड़ करते और जड़ को चैतन्य करते हैं, ऐसे शक्तिमान राम को जो जीव भजते हैं, वे धन्य हैं।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर।
बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर ।।८६८।।

रामभक्ति-रूपी सुन्दर चिन्तामणि है, हे गरुड़ ! यह जिसके हृदय में बसती है।

[चिन्तामणि एक रत्न है। लोगों में प्रसिद्ध है कि जिस बात की चिन्ता की जावे, उसे यह मणि शीघ्र दे देती है।]

परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिँ कछु चहिय दिया घृत बाती ।।८६९।।

(वह) दिन-रात परम प्रकाश-रूप है, वहाँ (प्रकाश के लिए) दीप, घी और बत्ती कुछ नहीं चाहिए।

मोह दरिद्र निकट नहिँ आवा।
लोभ बात नहिँ ताहि बुझावा ।।८७०।।

अज्ञानता-रूपी दरिद्रता उस (भक्ति-चिन्तामणि-प्राप्त भक्त)

के पास नहीं आती है और लोभ-रूपी हवा उस मणि के प्रकाश को नहीं बुझाती है।

प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई ।
हारहिँ सकल सलभ समुदाई ।। ८७१।।

अविद्या का कठिन अन्धकार (उस मणि के प्रकाश से) मिट जाता है और (मदादिक) सब फतिंगे हार जाते हैं (उसे बुझा नहीं सकते हैं)।

खल कामादि निकट नहिँ जाहीँ ।
बसइ भगति जाके उर माहीँ ।। ८७२।।

काम आदि दुष्ट उसके पास नहीं जाते, जिसके हृदय में भक्ति बसती है।

गरल सुधा सम अरि हित होई ।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ।। ८७३।।

जिसके प्रभाव से विष अमृत और शत्रु मित्र तुल्य हो जाते हैं, उस मणि के बिना कोई सुख नहीं पाता है।

ब्यापहिँ मानस रोग न भारी ।
जिन्हके बस सब जीव दुखारी ।। ८७४।।

भक्तिवन्त को मन के भारी रोग नहीं होते, जिनके वश में सभी जीव दुःखी हैं।

राम भगति मनि उर बस जाके ।
दुःख लवलेस न सपनेहुँ ताके ।। ८७५।।

राम-भक्ति-रूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, उसे सपने में भी लवलेश-मात्र दुःख नहीं होता।

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीँ ।
जे मनि लागि सु जतन कराहिँ ।। ८७६।।

संसार में वे ही चतुर-शिरोमणि हैं, जो इस मणि के लिए सुन्दर यत्न करते हैं।

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई ।
रामकृपा बिनु नहिँ कोउ लहई ।। ८७७।।

वह मणि यद्यपि संसार में प्रकट है; तथापि राम-कृपा बिना कोई पाता नहीं।

सुगम उपाय पाइबे केरे।
नर हत भाग्य देहिँ भट भेरे ॥८७८॥

उसके पाने का सुगम उपाय है, परन्तु अभागे मनुष्य उसे धक्का देकर पीछे कर देते हैं।

पावन पर्बत बेद पुराना।
राम-कथा रुचिराकर नाना ॥८७९॥

वेद और पुराण पवित्र पर्वत हैं, उनमें नाना प्रकार की रामकथा सुन्दर खानें हैं।

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञान बिराग नयन उरगारी ॥८८०॥

(भक्ति करने का भेद जाननेवाला भक्त) सज्जन (राम-भक्ति-चिन्तामणि के) भेदिए हैं। उनकी सुन्दर बुद्धि कुदाली है। हे गरुड़जी ! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं।

भाव सहित खोजै जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥८८१॥

जो प्राणी (चौ० ८८०-८८१ में वर्णित साधनों का अवलम्ब लेकर) प्रेम-सहित खोजता है; वह सब सुखों की खान भक्तिरूपी मणि को पाता है।

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम तेँ अधिक राम कर दासा ॥८८२॥

कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि हे स्वामी ! मेरे मन में ऐसा विश्वास है कि राम के दास राम से बढ़कर हैं।

राम सिन्धु घन सज्जन धीरा।
चन्दन तरु हरि सन्त समीरा ॥८८३॥

राम समुद्र-रूप हैं, धैर्यवान सज्जन मेघ-रूप; (फिर) राम चन्दन वृक्ष-रूप हैं और सन्त पवन-रूप हैं।

सबकर फल हरि भगति सोहाई।
सो बिनु सन्त न काहू पाई ॥८८४॥

सब (सदाचरणों) का फल सुन्दर हरि-भक्ति है, उसको बिना सन्तों की कृपा के किसी ने नहीं पाया।

अस बिचारि जो कर सतसंगा।
राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥८८५॥

हे पक्षिराज! ऐसा विचारकर जो सत्संग करेगा, उसे राम-भक्ति सहज ही में प्राप्त होगी।

***दोहा*–ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ज्ञान सन्त सुर आहि।**
कथा सुधा मथि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि॥१४५॥

ब्रह्म क्षीर-समुद्र हैं और उसको ज्ञान-रूप मन्दराचल से सन्त-रूप देवता मथकर कथा-रूप अमृत को निकाल लेते हैं; जिसमें भक्ति-रूपी मिठास है।

[ब्रह्म-पयोनिधि = त्रिकुटी। कथा-सुधा = सारशब्द। जो अभ्यासी तीसरे तिल में प्रवेश करके सहस्त्रदल कमल के विविध ज्योति-मण्डलों के पार होता हुआ त्रिकुटी के महान ज्योति-मण्डलों को भी पार कर जाता है, वही ब्रह्म-पयोनिधि को मथ डालता है और कथा-सुधा अर्थात् सारशब्द को प्राप्त करके भक्ति के अत्यन्त मीठे रस में निमग्न हो जाता है। त्रिकुटी तक त्रयगुणात्मक मायिक आवरण विशेष मोटा होने के कारण उसके अन्दर सारशब्द का कुछ भी आभास मिलना नहीं हो सकता है। परन्तु त्रिकुटी के परे मायिक आवरण उत्तरोत्तर विशेष झीना होता जाता है। इस झीनेपन में सारशब्द की परख का आभास प्राप्त करता एवं क्रमशः आगे बढ़ता हुआ त्रयगुणात्मिका मूल प्रकृति के परे सच्चिदानन्द पद में जाकर भक्त साधक को उसकी (सारशब्द की) पूर्ण परख होती है। सारशब्द को ही रामनाम कहते हैं। इसका वर्णन चौ० सं० ७९ के अर्थ के नीचे कोष्ठ में पढ़िए। सारशब्द की प्राप्ति से जीव को परम प्रभु प्राप्त हो जाते हैं और अमरत्व अर्थात् मोक्ष मिल जाता है, इसलिए यह शब्द (सारशब्द) सुधा-कथा है। उपर्युक्त दोहे में 'ब्रह्म' का अर्थ लोग वेद करते हैं, ऐसा अर्थ करने से 'कथा–सुधा' का अर्थ वेद-वर्णित राम-यश होता है, इस प्रकार सम्पूर्ण दोहे का तात्पर्य यह हो जाता है कि सब वेदों को सम्पूर्ण

रूप से पढ़-सुन, उनकी यथार्थताओं को अत्यन्त शुद्धतापूर्वक बोध करके उनमें से केवल राम की मधुर भक्तिदायिनी राम-कथाओं को सन्त ग्रहण करते और उनकी शेष सब विधियों को असार जान त्याग देते हैं, यदि यही अर्थ लिया जाय तो राम-भक्त बनने के लिए बिना वेदों के पढ़े-सुने काम नहीं चल सकता है। इस दशा में सन्त भी वे ही होंगे, जिनको वेद-शास्त्रों ने वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार दिया है। शूद्र, अन्त्यज और स्त्रियाँ; ये सब भक्ति प्राप्त करने से वंचित रहेंगे। पर रामचरितमानस अन्त्यज और स्त्रियों को भी भक्ति प्राप्त करने के अधिकारी मानता है (दे० दो० सं० १२०)। शवरी भीलनी अन्त्यज जाति की स्त्री थी, उसको भक्ति के सब प्रकारों में पूर्ण कहा गया है (दे० चौ० सं० ४६३)। यदि भक्ति के साधन में वेदों का पढ़ना-सुनना परमावश्यक माना जाय (जैसा कि ऊपरलिखित दोहे में 'ब्रह्म' का अर्थ वेद करने से माना ही जाएगा।) तो भक्ति के सब प्रकारों में पूर्ण शवरी ने ही भला त्रेता युग में धर्म-शास्त्र विरुद्ध किस प्रकार वेदों को पढ़ा-सुना होगा ? फिर मातंग आदि मुनियों ने ही उनको वेद पढ़ा-सुनाकर धर्म-शास्त्र-विरुद्ध कार्य कैसे किया होगा ?]

***दोहा*–बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि ।**
जय पाइय सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि ॥ १४६॥

हे पक्षिराज ! आप विचार करके देखिए कि हरि-भक्ति वह (शक्ति) है कि (जिसके सहारे) वैराग्य की ढाल और ज्ञान की तलवार द्वारा अहंकार, लोभ और मोह-रूप शत्रुओं को मारकर विजय प्राप्त की जाए।

ज्ञान और भक्ति-सम्बन्धी वार्त्ताओं को सुनकर गरुड़जी ने फिर कागभुशुण्डिजी से पूछा–

(१) सबसे दुर्लभ कौन शरीर है ? (२) बड़ा दुःख कौन-सा है ? (३) भारी सुख कौन-सा है ? (४) सन्तों और असन्तों के सहज स्वभाव क्या हैं ? (५) वेद-विदित सबसे बड़ा पुण्य कौन-सा है ? (६) वेद-विदित सबसे बड़ा पाप कौन-सा है ? और

(७) मन के रोग कौन-कौन हैं ? कागभुशुण्डिजी कहने लगे–

नर तन सम नहिँ कवनिउँ देही ।
जीव चराचर जाचत जेही ॥ ८८६॥

मनुष्य-शरीर के समान कोई भी शरीर नहीं है, जिसको जड़-चेतन सभी चाहते हैं।

नरक सर्ग अपवर्ग निसेनी ।
ज्ञान बिराग भक्ति सुख देनी ॥ ८८७॥

यह शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के सुख को देनेवाला है।

[शरीर के भीतर का अन्धकार नरक में जाने की सीढ़ी है, प्रकाश स्वर्ग में जाने की सीढ़ी और शरीरस्थ ध्वन्यात्मक राम-नाम वा शब्द-ब्रह्म, सत्यनाम मोक्ष में जाने की सीढ़ी है।]

सो तनु धरि हरि भजहिँ न जे नर ।
होहिँ बिषय रत मन्द-मन्द तर ॥ ८८८॥

ऐसा शरीर पाकर जो मनुष्य हरि को नहीं भजते हैं और विषयों में आसक्त होते हैं, वे नीच से भी नीच हैं।

काँच किरिच बदले ते लेहीँ ।
कर ते डारि परसमनि देहीँ ॥ ८८९॥

वे मानो पारसमणि हाथ से फेंक देते और उसके बदले में काँच का टुकड़ा ले लेते हैं।

नहिँ दरिद्र सम दुख जग माहीँ ।
सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीँ ॥ ८९०॥

दरिद्र हाने के समान संसार में कोई दुःख नहीं है और सन्त-समागम के समान दूसरा सुख नहीं है।

पर उपकार बचन मन काया ।
सन्त सहज सुभाव खगराया ॥ ८९१॥

हे पक्षिराज ! सन्तों का सहज स्वभाव है—मन, वचन और कर्म से परोपकार करना ।

सन्त सहहिँ दुख परहित लागी।
परदुख हेतु असन्त अभागी॥८९२॥

सन्त दूसरों के उपकार के लिए दुःख सहते हैं और अभागे असन्त (दुष्ट) दूसरों को दुःख देने के लिए दुःख सहते हैं।

भूरज तरु सम सन्त कृपाला।
परहित नित सह बिपति बिसाला॥८९३॥

कृपालु सन्त भोजपत्र के वृक्ष के समान हैं, जो दूसरों की भलाई के लिए नित्य बहुत बड़ी विपत्ति सहते हैं।

सन इव खल पर बन्धन करई।
खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥८९४॥

सन के समान दुष्ट दूसरों को बाँधते हैं और खाल खिंचवा कर विपत्ति सहकर मरते हैं।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
अहि मूसक इव सुनु उरगारी॥८९५॥

हे गरुड़जी! दुष्ट लोग सर्प और मूसे के समान बिना स्वार्थ दूसरों का अपकार करते हैं।

पर सम्पदा बिनासि नसाहीँ।
जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीँ॥८९६॥

दुष्ट दूसरों की सम्पत्ति नष्ट करके आप भी नष्ट हो जाते हैं, जैसे पाला और ओला खेती को नष्ट करके आप भी बिला जाते हैं।

दुष्ट उदय जग आरत हेतू।
जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥८९७॥

दुष्टों का प्रगट होना संसार के दुःख का कारण है, जैसे ग्रहों में अधम केतु (संसार का अमंगल करने के लिए) प्रसिद्ध है।

सन्त उदय सन्तत सुखकारी।
बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥८९८॥

सन्तों का प्रकट होना सदा सुखदायक है, जैसे चन्द्रमा और सूर्य का उदय संसार के लिए सुखकारी है।

परम धरम स्त्रुति बिदित अहिंसा।
पर निन्दा सम अघ न गरीसा ॥८९९॥

श्रेष्ठ धर्म वेदों में विदित अहिंसा (जीवों को दुःख न पहुँचाना) है और पराये की निन्दा के समान बड़ा पाप दूसरा नहीं है।

हरि गुरु निन्दक दादुर होई।
जनम सहस्त्र पाव तन सोई॥९००॥

ईश्वर और गुरु का निन्दक मेढ़क होता है और हजार जन्मों तक वही शरीर पाता है।

द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि।
जग जनमइ बायस सरीर धरि॥९०१॥

द्विजों की निन्दा करनेवाला बहुत नरक भोग करके संसार में कौए का शरीर धरकर जन्म लेता है।

सुर स्त्रुति निन्दक जे अभिमानी।
रौरव नरक परहिँ ते प्रानी॥९०२॥

जो अहंकारी प्राणी देवता और वेदों की निन्दा करते हैं, वे रौरव नरक में पड़ते हैं।

होहिँ उलूक सन्त निन्दा रत।
मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत॥९०३॥

सन्तों की निन्दा करनेवाले उल्लू होते हैं। उनको अज्ञान की रात्रि प्यारी है, ज्ञान-रूप सूर्य नहीं।

सब कै निन्दा जे जड़ करहीँ।
ते चमगादुर होइ अवतरहीँ॥९०४॥

जो मूर्ख सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं।

इतनी कथा सुनाकर कागभुशुण्डिजी बोले-हे गरुड़जी! अब मानस-रोग सुनिए कि जिससे सब लोग दुःख पाते हैं।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तेहिँ तेँ पुनि उपजहिँ बहु सूला॥९०५॥

सब व्याधियों की जड़ मोह (अज्ञान) है, फिर उससे बहुत-से दुःख उत्पन्न होते हैं।

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥१०६॥

काम-रूप वात है, लोभ-रूप अपार कफ है और क्रोध -रूप पित्त है, जो सदा हृदय जलाता है।

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्निपात दुखदाई॥१०७॥

हे भाई ! जब ये तीनों प्रीति करते हैं, तब दुःखदायी सन्निपात (त्रिदोष ज्वर) उत्पन्न होता है।

बिषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना॥१०८॥

अनेक प्रकार की विषयों की जो दुर्गम अभिलाषाएँ हैं, वे ही सब तरह की पीड़ाएँ हैं, उनका नाम कौन जान सकता है ?

ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥१०९॥

ममता दिनाई के समान है, ईर्ष्या खुजली के समान और हर्ष-विषाद ग्रहों (की अधिकता) के समान है।

परसुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥११०॥

दूसरों का सुख देखकर जलना, वही क्षय रोग है। दुष्टता और मन की कुटिलता कोढ़ रोग है।

अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दम्भ कपट मद मान नहरुआ॥१११॥

अहंकार अत्यन्त दुःखदायी गठिया रोग है; दम्भ, कपट, मद और मान नहरुआ रोग है।

तृष्णा उदर बृद्धि अति भारी।
त्रिविध ईषना तरुन तिजारी॥११२॥

तृष्णा पेट बढ़ने का अत्यन्त भारी रोग है। लोक में प्रसिद्धि; धन और पुत्र पाने की तीन प्रकार की इच्छाएँ प्रबल तेहैया (तीन दिन में आनेवाला) ज्वर है।

जगु बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥११३॥

डाह और अविचार; दोनों काल (दिन में दो बार आनेवाला) ज्वर है। कहाँ तक कहूँ, अनेक प्रकार के कुरोग हैं।

***दोहा*–एक ब्याधि बस नर मरहिं, ये असाधि बहु ब्याधि।**
पीड़हिं सन्तत जीव कहँ, सो किमि लहइ समाधि ॥१४७॥

मनुष्य तो एक ही रोग के वश में होकर मर जाते हैं, परन्तु ये बहुत-से असाध्य रोग हैं, जो जीव को सदा दुःख दिया करते हैं, इस दशा में वह (जीव) कैसे सुख पा सकता है ?

***दोहा*–नेम धरम अचार तप, ग्यान जग्य जप दान।**
भेषज पुनि कोटिक नहीं, रोग जाहिं हरिजान ॥१४८॥

नेम, धर्म, आचार, तपस्या, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान आदि करोड़ों औषधियाँ हैं, परन्तु हे गरुड़जी ! इनसे ये रोग नहीं जाते हैं।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी।
सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥११४॥

इस प्रकार जगत के सब जीव शोक, हर्ष, भय, प्रीति और वियोग के अधीन होने से रोगी हैं।

मानस रोग कछुक मैं गाये।
हैं सब के लख बिरलन्हि पाये ॥११५॥

मैंने ये थोड़े-से मानस-रोग वर्णित किए हैं; ये हैं तो सबको, परन्तु इनकी परख बिरले ही कर पाते हैं।

जाने ते छीजहिं कछु पापी।
नास न पावहिं जन परितापी ॥११६॥

जानने से ये पापी (रोग) कुछ घटते हैं, पर नष्ट नहीं होते, जनों को परिताप देते रहते हैं।

बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।
मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥११७॥

विषय-रूपी कुपथ्य पाकर मुनियों के मन में भी (ये रोग) अँकुर जाते हैं तो भला साधारण मनुष्य किस गिनती में हैं।

राम कृपा नासहि सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनइ संजोगा ॥११८॥

राम की कृपा से सब रोग नष्ट होते हैं, यदि इस प्रकार का संयोग बने–

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा ॥११९॥

(रोगी को) सद्गरु-रूपी वैद्य के वचन में विश्वास हो और संयम यह हो कि विषय की आशा न की जाय।

रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान स्त्रद्धा मति पूरी ॥१२०॥

इन रोगों के लिए राम की भक्ति संजीवनी जड़ी है और श्रद्धा से भरी हुई बुद्धि ही अनुपान है।

एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं।
नाहिँ त जतन कोटि नहिँ जाहीं ॥१२१॥

इस प्रकार भले ही वे रोग नष्ट होते हैं, नहीं तो करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं छूटते।

जानिय तब मन बिरुज गोसाँई।
जब उर बल बिराग अधिकाई ॥१२२॥

हे स्वामी ! मन को तब नीरोग जानना चाहिए, जब हृदय में वैराग्य-रूपी बल बढ़ता जाय।

सुमति छुधा बाढ़इ नित नई।
बिषय आस दुर्बलता गई ॥१२३॥

सुबुद्धि-रूपी नयी भूख नित्य बढ़ने लगे और विषयों की आशा-रूपी दुर्बलता चली जाय।

बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई।
तब रह राम भगति उर छाई ॥१२४॥

निर्मल ज्ञान-रूपी जल से जब वह ('रघुपति-भगति सजीवन मूरी' का सेवन करनेवाला अर्थात् रोगमुक्त) स्नान करता है, तब हृदय में राम-भक्ति (स्थिर होकर) विराजती है।

[रामचरितमानस में ज्ञान-मार्ग को अत्यन्त कठिन-साध्य बतलाकर भक्ति-मार्ग के तुल्य आदर नहीं किया गया है, इस प्रकार का वर्णन-ज्ञानमार्ग के पक्ष में अत्यन्त भयानक वचन है; इससे यह न समझना चाहिए कि रामचरितमानस के भक्ति-मार्ग पर चलने के लिए ज्ञान-वैराग्य की आवश्यकता ही नहीं है। चौ० ८८० में साफ-साफ कहा गया है कि जिस खान में भक्ति-रूपी चिन्तामणि मिलेगा, उस खान में उस भक्ति-मणि को परखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ही नेत्र हैं। अतएव विश्वासपूर्वक जानना चाहिए कि जैसे नेत्रहीन-अन्ध मनुष्य रूप विषय को ग्रहण नहीं कर सकता है, उसी तरह ज्ञान-वैराग्य से हीन मनुष्य को भक्ति-रूपी चिन्तामणि प्राप्त नहीं हो सकता है। चौ० २७२ में वर्णन है कि सारासार का ज्ञान होने पर राम-चरण में प्रेम होगा। और चौपाई ९१९ से ९२४ तक में वर्णन है कि जब संसार-रोग से ग्रसित जीव सद्गुरु-वैद्य से प्राप्त राम-भक्ति-संजीवनी जड़ी को श्रद्धायुक्त होकर सेवन करेगा और विषयासक्ति-रूप कुपथ्य नहीं करेगा (वैराग्य-युक्त रहेगा); तब वह रोग से मुक्त होगा। रोग-मुक्त होने के लक्षण ये होंगे कि उसके हृदय में उत्तम ज्ञान और वैराग्य बढ़ते जाएँगे और जब वह (रोगी) विमल ज्ञान (जिस ज्ञान में राम का निर्मायिक स्वरूप ग्रहण होता है) में निमग्न हो जाएगा, तब उसके हृदय में भक्ति स्थिर होकर विराजती रहेगी। इन वर्णनों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि भक्ति-मार्ग में आरम्भ से अन्त पर्यन्त ज्ञान उसका साथी है। ज्ञान-बिना भक्ति-मार्ग में चलना एक पग भी असम्भव है। भोलेपन से यदि ज्ञान का एकदम तिरस्कार कर दिया जाय और बिना उसके अन्धा होकर (दे० चौ० ८८०) भक्ति-मार्ग पर चलना आरम्भ किया जाय, तो लोकमान्य तिलक कृत गीता-रहस्य (भक्ति-मार्ग) के वर्णन के अनुसार 'अन्ध श्रद्धा और उसी के साथ अन्धा प्रेम धोखा खा जाएगा और दोनों गड्ढे में जा गिरेंगे।' ऐसा होना रामचरितमानस के अनुसार भी अवश्य ही सम्भव है।]

सिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥९२५॥

शिव, ब्रह्मा, शुकदेव; सनकादिक, नारद और जो मुनि ब्रह्म-विचार में प्रवीण हैं।

[ऊपर वर्णित चौपाई भी ब्रह्म-विचार की निपुणता की अर्थात् ज्ञान की विशेषता दरसा रही है। ब्रह्म-विचार में निपुण लोगों के ही मत की साक्षी पर कागभुशुण्डिजी गरुड़जी को और गोस्वामी तुलसीदासजी सर्वसाधारण को भक्ति-मार्ग में विश्वास दिला रहे हैं।]

सब कर मत खग नायक एहा।
करिय राम पद पंकज नेहा॥१२६॥

हे पक्षिराज ! सबका यही मत है कि राम के चरण-कमलों में प्रेम करना चाहिए।

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥१२७॥

वेद, पुराण और सब ग्रन्थ (सद्ग्रन्थ) कहते हैं कि राम की भक्ति के बिना सुख नहीं है।

कमठ पीठ जामहिँ बरु बारा।
बन्ध्या सुत बरु काहुहि मारा॥१२८॥

कछुए की पीठ पर चाहे बाल जम आवें और चाहे बाँझ का बेटा किसी को मार डाले।

फूलहिँ नभ बरु बहु बिधि फूला।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥१२९॥

चाहे आकाश में बहुत तरह के फूल फूलें, परन्तु राम से विमुख रहकर जीव सुख नहीं पा सकता है।

तृषा जाइ बरु मृग जल पाना।
बरु जामहिँ सस सीस बिषाना॥१३०॥

चाहे मृग-तृष्णा का जल पीने से प्यास दूर हो जावे, चाहे खरहे के माथे पर सींग जम आवें।

अन्धकार बरु रबिहि नसावै।
राम बिमुख न जीव सुख पावै॥१३१॥

चाहे अन्धकार सूर्य को नष्ट कर दे, किन्तु राम से विमुख रहकर जीव सुख नहीं पा सकता है।

हिम ते प्रगट अनल बरु होई।
बिमुख राम सुख पाव न कोई॥९३२॥

चाहे पाले से अग्नि प्रकट हो आवे, परन्तु राम से विमुख होकर कोई सुख नहीं पा सकता है।

[जबतक जीव को शान्ति-सुख नहीं प्राप्त हो, तबतक जानना चाहिए कि वह राम से विमुख ही है। चौ० ८५८ के अर्थ के नीचे के कोष्ठान्तर्गत वर्णन को पढ़िए। निःसंशय रूप से समझ जाइएगा कि राम के केवल सगुण रूप में लगे रहनेवाले को शान्ति-सुख नहीं प्राप्त हुआ है। इस कारण राम के निर्गुण रूप में जो कोई रत होगा, वही शान्ति-सुख पावेगा। और वही निश्चय करके राम का परम भक्त और राम से अविमुख कहलाएगा।]

***दोहा*–बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तेँ बरु तेल।**
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥१४९॥

चाहे पानी के मथने से घी हो जाय और चाहे बालू से तेल निकल आवे, परन्तु यह सिद्धान्त अटल है कि बिना हरि-भजन के कोई संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकता है।

***दोहा*–मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।**
अस बिचारि तजि संसय, रामहिँ भजहिँ प्रवीन॥१५०॥

प्रभु, मच्छड़ को ब्रह्मा बना सकते हैं, ब्रह्मा को मच्छड़ से भी तुच्छ बना सकते हैं, ऐसा विचार करके और सब सन्देहों को छोड़कर बुद्धिमान चतुर प्राणी राम का भजन करते हैं। कागभुशुण्डिजी इतनी कथा गरुड़जी को सुनाकर फिर बाले कि–

स्रुति सिद्धान्त इहै उरगारी।
राम भजिय सब काज बिसारी॥९३३॥

हे गरुड़जी ! वेद का सिद्धान्त यही है कि सब इच्छाओं को छोड़कर राम का भजन करना चाहिए।

हे गरुड़जी ! प्रभु राम की कृपा से मुझे आपके समान सत्संगी पुरुष का जो संग प्राप्त हुआ, इससे मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !!

सत संगति दुर्लभ संसारा।
निमिष दंड भरि एकउ बारा॥९३४॥

संसार में पल वा दण्ड भर एक बार भी सत्संग होना दुर्लभ है।

कागभुशुण्डिजी राम के गुणों का स्मरण करके बारम्बार आनन्दित होने लगे। फिर उन्होंने बहुत कुछ राम-गुण गाकर और गरुड़जी से यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त किया कि रामजी आप पर और मुझ पर सदा प्रसन्न रहें। गरुड़जी ने भी कागभुशुण्डिजी को सन्त और परम भक्त कह उनका बहुत गुण-गान करके यह कहा कि—

सन्त बिटप सरिता गिरि धरनी।
परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥१३५॥

सन्त, वृक्ष, नदी, पहाड़ और धरती; इन सबों के कर्म दूसरों की भलाई के लिए होते हैं।

सन्त हृदय नबनीत समाना।
कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना॥१३६॥

कवियों ने सन्तों का हृदय मक्खन के समान कहा तो है, पर कहने नहीं जाना। क्योंकि—

निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता॥१३७॥

मक्खन अपने दुःख (ताप) से पिघलता है, परन्तु अच्छे और पवित्र सन्त दूसरों के दुःख से पिघलते हैं।

अन्त में गरुड़जी कागभुशुण्डिजी की विनती कर उन्हें प्रणाम करके बैकुण्ठ चले गए।

***दोहा*—गिरिजा सन्त समागम, सम न लाभ कछु आन।**
बिनु हरि कृपा न होइ सो, गावहिं बेद पुरान॥ १५१॥

श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी से कहते हैं कि हे गिरिजा ! सन्तों की संगति के समान दूसरा लाभ नहीं है, वेद-पुराण कहते हैं कि वह (सत्संग) बिना ईश्वर-कृपा के नहीं होता है।

फिर शिवजी राम-कथा का बहुत कुछ गुण गाकर कहने लगे—

सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता।
सोइ महि मंडित पंडित दाता॥१३८॥

वही सर्वज्ञ है, वही गुणी, वही ज्ञानी, वही पृथ्वी को

शोभित करनेवाला, वही विद्वान और वही दाता है,

धर्म परायन सोइ कुल त्राता।
राम चरन जाकर मन राता॥१३९॥

वही धर्म में तत्पर है और वही कुल-रक्षक है, जिसका मन राम के चरणों में लगा हुआ है।

नीति निपुन सोइ परम सयाना।
स्त्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥१४०॥

वही नीति में निपुण है, वही परम चतुर है और वेद का सिद्धान्त वही अच्छी तरह जानता है,

सो कबि कोबिद सो रन धीरा।
जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥१४१॥

वही कवि, विद्वान और रणधीर है, जो छल छोड़कर रघुवीर राम को भजते हैं।

धन्य सो देस जहाँ सुरसरी।
धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥१४२॥

वह देश धन्य है, जहाँ गंगाजी हैं और वह स्त्री धन्य है, जो पातिव्रत्य धर्म के अनुसार चलती है।

धन्य सो भूप नीति जो करई।
धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥१४३॥

वह राजा धन्य है, जो नीति से राज्य करता है और वह द्विज धन्य है, जो अपने धर्म से नहीं टलता है।

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।
धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी॥१४४॥

वह धन धन्य है, जिसकी प्रथम गति है अर्थात् जो दान में लगता है और वह बुद्धि धन्य है, जो पुण्य में लगकर पगी हुई होती है।

[धन की तीन गतियाँ हैं–(१) दान, (२) भोग और (३) नाश।]

धन्य घरी सोइ जब सत्संगा।
धन्य जनम द्विज भगति अभंगा॥१४५॥

वह घड़ी धन्य है, जब सत्संग हो और वह जन्म धन्य है, जिसमें द्विज की अभंग (पूर्ण) भक्ति हो।

दोहा–सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सु पुनीत ।
श्री रघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥ १५२॥

हे उमा ! सुनो, वह कुल धन्य, संसार में पूजे जाने योग्य और विशेष पवित्र है, जिसमें राम के नम्र भक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं। इतना कह श्रीशिवजी महाराज पार्वतीजी से बोले कि यद्यपि मैंने प्रथम यह कथा तुमसे छिपा रखी थी, तथापि जब तुम्हारे हृदय में इसके लिए अत्यन्त प्रीति मैंने देखी, तब इसे तुम्हें सुनाया। इसके सुनने के अधिकारी सब नहीं होते हैं, केवल ये लोग अधिकारी होते हैं–

राम कथा के तेइ अधिकारी ।
जिन्ह के सत संगति अति प्यारी ॥ १४६॥

राम-कथा (सुनने के) वे अधिकारी हैं, जिनको सत्संगति अत्यन्त प्यारी है।

गुरु पद प्रीति नीति रत जेई ।
द्विज सेवक अधिकारी तेई ॥ १४७॥

जो गुरु के चरणों में प्रीति रखते हैं, नीति में लवलीन (तत्पर) रहते हैं और द्विज के सेवक हैं, वे ही (राम-कथा सुनने के) अधिकारी हैं।

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना ।
रघुपति भगति केर पन्थाना ॥ १४८॥

इस (वर्णित राम-कथा-रूपी सरोवर) में सुन्दर सात सोपान हैं, जो राम की भक्ति के रास्ते हैं।

अति हरि कृपा जाहि पर होई ।
पाउँ देइ यहि मारग सोई ॥ १४९॥

ईश्वर की अत्यन्त कृपा जिस पर होती है, वही इस रास्ते में पैर देता है।

[चौ० सं० ११८ में सप्त सोपान का और उनको ज्ञान-नयन से देखने का वर्णन हो चुका है, उस चौपाई के नीचे कोष्ठान्तर्गत वर्णन को विचार-सहित पढ़ लीजिए। यह निश्चय ही ईश्वर की अत्यन्त कृपा उस पर है, जो भक्ति-मार्ग में चलने के हेतु उसकी (भक्ति-मार्ग की) इन सीढ़ियों पर पैर रखता है। रामचरितमानस

के सातो सोपानों की कथा का श्रवण और मनन करना, उसमें वर्णित नवधा भक्ति में साधन द्वारा चलना ऊपर कथित सीढ़ियों पर पैर रखकर चलना है। नवधा भक्ति का वर्णन चौ० सं० ४५५ से ४६१ तक में पढ़ लीजिए और कोष्ठ में लिखे वर्णनों को भी खूब समझ लीजिए।]

इतना सुनाकर श्रीशिवजी ने कथा कहना समाप्त कर दिया। श्रीपार्वतीजी श्रीशिवजी की कही हुई बातों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं कि हे नाथ ! मैं अब सन्देह-रहित हो गई।

अब रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी यह कहकर रामचरितमानस समाप्त कर देते हैं कि-

एहि कलि काल न साधन दूजा।
जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥९५०॥

इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजा आदि दूसरा (कोई) साधन नहीं है।

रामहिँ सुमिरिय गाइय रामहिँ।
सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहिँ॥९५१॥

(कलिकाल में एक यही साधन है कि) राम को स्मरण कीजिए, राम का गुण गाइए और सर्वदा राम के गुणों को सुनिए।

[चौ० सं० ९५० में कहा गया है कि कलिकाल में जप-साधन नहीं है, पर चौ० सं० ९५१ में राम का सुमिरण करने को कहा गया है। वर्णात्मक राम-नाम का सुमिरण जप ही तो है और नवधा-भक्ति के वर्णन में भी मन्त्र-जप को पाँचवीं भक्ति कहा है। इस तरह जप की विधि और निषेध; दोनों हैं। इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि भक्ति-मार्ग में जिन जप-योगादि साधनों की आवश्यकता है, जिनके बिना भक्ति-मार्ग पर चलना ही असम्भव है, उन (साधनों) को कलि-कालादि सब कालों में करना चाहिए। भक्ति-मार्ग में जप-योगादि जिन-जिन साधनों की आवश्यकता है, वे नवधा भक्ति के वर्णन में अच्छी तरह दरसा दी गई है। कलि-काल के क्रूर धर्म का प्रभाव प्रेमी भक्तों पर नहीं व्यापता है, (दे० चौ० सं० ८०८)। इस कारण कलि-

धर्म का भय मन से दूर करके, आलस्य छोड़ पुरुषार्थी और प्रेमी बनकर जप-योगादि जिन-जिन साधनों से भक्ति बने, भक्तों को उनका अभ्यास करना चाहिए। परमेश्वर के भक्त चार प्रकार के होते हैं—उनमें से जो परमेश्वर के विशेष प्यारे हैं, उनका वर्णन चौ० सं० ९२ से ९८ तक खूब समझ-समझकर पढ़ लीजिए। परमेश्वर के विशेष प्यारे भक्त योगी और ज्ञानी ही होते हैं, अतएव भक्ति-मार्ग में योग की बड़ी आवश्यकता है। इस बात को भूलकर योग से चित्त को कभी नहीं हटाना चाहिए। अपने को भक्त जानना और भक्ति-मार्ग में आवश्यक योगाभ्यास नहीं करना, पाखण्ड और वंचकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साथ-ही-साथ यह भी जान लेना चाहिए कि भक्ति-मार्ग का आवश्यक योगाभ्यास परम सरल है, उसे चौ० सं० ४५५ से ४६१ तक उनके अर्थों और कोष्ठान्तर्गत वर्णनों के सहित पढ़ लीजिए। भक्ति-मार्ग के योगाभ्यास में स्थूल शरीर को कष्ट देनेवाले किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती है। यह (योगाभ्यास) तो अत्यन्त सरल, प्रेममय और परम शान्तिदायक परम प्रभु के परम पद से मिलानेवाला है।]

रामचरितमानस-सार सटीक समाप्त